MAST - 112 N
संस्कृत- पद्यकाव्य

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय
प्रयागराज

खण्ड - 1 (महाकवि श्रीहर्षकृत नैषधीयचरितम् प्रथम सर्ग, 98 पद्यपर्यन्त)

इकाई- 1 महाकाव्य का उद्भव, विकास एवं परम्परा	5-14
इकाई- 2 महाकवि श्रीहर्ष एवम् उनका काव्य	15-36
इकाई- 3 पद्य संख्या 01 से पद्य संख्या 14 तक (राजा नल के गुणों का वर्णन)	37-57
इकाई- 4 पद्य संख्या 15 से पद्य संख्या 41 तक (राजा नल की दानवीरता एवं दमयन्ती का नल के प्रति अनुराग का वर्णन)	58-92
इकाई- 5 पद्य संख्या 42 से पद्य संख्या 73 तक (राजा नल का दमयन्ती के प्रति अनुराग एवं उनके अश्व का वर्णन)	93-132
इकाई- 6 पद्य संख्या 74 से पद्य संख्या 98 तक (राजा नल का क्रीडा वन में प्रवेश एवं उद्यान विहार का वर्णन)	133-162

खण्ड - 2 महाकवि भारविकृत किरातार्जुनीयम् (प्रथम सर्ग)

आलोचनात्मक अध्ययन (तीन इकाइयाँ)	163-194
व्याख्यात्मक अध्ययन (पाँच इकाइयाँ)	195-264

MAST-112 (N)
संस्कृत पद्यकाव्य

परामर्श–समिति

आचार्य सत्यकाम	मा0 कुलपति, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
आचार्य सत्यपाल तिवारी	निदेशक, मानविकी विद्याशाखा, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

विशेषज्ञ समिति

प्रो0 विनोद कुमार गुप्त	आचार्य, संस्कृत, मानविकी विद्याशाखा उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
प्रो0 हरिदत्त शर्मा	आचार्य एवं पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
प्रो0 कौशलेन्द्र पाण्डेय	आचार्य एवं अध्यक्ष साहित्य, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रो0 उमेश प्रताप सिंह	आचार्य एवं पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
डॉ. स्मिता अग्रवाल	सहायक आचार्य, संस्कृत मानविकी विद्याशाखा, उ.प्र.रा.ट.मु.वि.वि.,प्रयागराज

सम्पादक

प्रो0 हरिदत्त शर्मा	आचार्य एवं पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

समन्वयक / परिमापक

प्रो0 विनोद कुमार गुप्त	आचार्य, संस्कृत, मानविकी विद्याशाखा उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

लेखक

प्रो0 विनोद कुमार गुप्त	आचार्य, संस्कृत, मानविकी विद्याशाखा उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

मुद्रित – नवम्बर, 2024.

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज– 2024.

ISBN- 978-93-48987-00-6

सर्वाधिक सुरक्षित। इस पाठ्यसामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना, मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से श्री विनय कुमार, कुलसचिव द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित, 2024.

मुद्रक – के0 सी0 प्रिटिंग एण्ड एलाइड वर्क्स, पंचवटी, मथुरा – 281003.

पाठ्यक्रम–परिचय–

परास्नातक संस्कृत के पाठ्यक्रम के रूप में संस्कृत–पद्यकाव्य का अध्ययन निर्धारित किया गया है। इस पाठ्यक्रम में कुल 13 इकाइयाँ हैं, जिसे दो खण्डों में बाँटा गया है।इसके दो खण्ड हैं। पहला खण्डमहाकवि श्रीहर्षकृतनैषधीयचरितम् (प्रथम सर्ग) है। इसमें 06 इकाइयाँ हैं। इस खण्ड में महाकाव्यों का उद्भव, विकास एवं परम्परा, श्रीहर्ष का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व, हर्ष की काव्यशैली, प्रथम सर्ग के पद्य 01 पद्य 98 पर्यन्त व्याख्या का अध्ययन करेंगे।

दूसरा खण्ड महाकवि भारविकृत किरातार्जुनीयम् (प्रथम सर्ग) है। इस खण्ड में 07 इकाइयाँ हैं। इसमें भारवि के व्यक्तित्व–कर्तृत्व, महाकाव्य का नामकरण, कथावस्तु, काव्यशैली एवं प्रथम सर्ग के पद्यों की व्याख्या का अध्ययन करेंगे।

खण्ड–परिचय :

खण्ड–1 (महाकवि श्रीहर्षकृत नैषधीयचरितम् प्रथम सर्ग, 98 पद्यपर्यन्त)–

परवर्ती महाकाव्यों के लिए उपजीव्य आर्षकाव्य महाभारत के वनपर्व में उल्लिखित 'नलोपाख्यानम्' से इतिवृत्त लेकर महाकवि श्रीहर्ष ने संस्कृत के प्रमुख महाकाव्यों एवं बृहत्त्रयी में परिगणित 22 सर्गात्मक शृङ्गाररस–प्रधान महाकाव्य 'नैषधीयचरितम्' का प्रणयन किया, जो 'नैषध' के नाम से भी जाना जाता है। इस महाकाव्य में नल–दमयन्ती के अलौकिक प्रेम का चित्रण किया गया है, जिसके निर्वाह में नल एवं दमयन्ती दोनों ही पीछे नहीं रहते। आपके पाठ्यक्रम में इस महाकाव्य के पद्य 01 से लेकर पद्य 98 तक निर्धारित है, जिसमें मङ्गलाचरण से लेकर निषधपति नल के उद्यानभ्रमण तक की कथा वर्णित है। इसे छः इकाइयों में विभाजित किया गया है –

इकाई 1 – महाकाव्य का उद्भव, विकास एवं परम्परा।

इकाई 2 – महाकवि श्रीहर्ष एवम् उनका काव्य।

इकाई 3 – पद्य संख्या 01 से पद्य संख्या 14 तक (राजा नल के गुणों का वर्णन)

इकाई 4 – पद्य संख्या 15 से पद्य संख्या 41 तक (राजा नल की दानवीरता एवं दमयन्ती का नल के प्रति अनुराग का वर्णन)

इकाई 5 – पद्य संख्या 42 से पद्य संख्या 73 तक (राजा नल का दमयन्ती के प्रति अनुराग एवं उनके अश्व का वर्णन)

इकाई 6 – पद्य संख्या 74 से पद्य संख्या 98 तक (राजा नल का क्रीडा वन में प्रवेश एवं उद्यानविहार का वर्णन)।

खण्ड–2 महाकवि भारविकृत किरातार्जुनीयम् (प्रथम सर्ग)

अलङ्कृत शैली में महाकाव्यलेखन का प्रारम्भ जिस महाकाव्य से हुआ, वह है किरातार्जुनीयम् और इसके प्रणेता हैं महाकवि भारवि।भारवि ने पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति के लिये इन्द्र एवं शिव को प्रसन्न करने के लिये की गयी अर्जुन की तपस्या को आधार बनाकर 18 सर्गों वाले वीररसप्रधान महाकाव्य 'किरातार्जुनीयम्' का वितान पल्लवित किया। आपके पाठ्यक्रम में इस महाकाव्य का प्रथम सर्ग अध्ययन के लिये निर्धारित किया गया है। अध्ययन की सुविधा के लिये इसे निम्नरूप में विभक्त किया गया है–

1. आलोचनात्मक अध्ययन (03 इकाइयाँ)
2. व्याख्यात्मक अध्ययन (05 इकाइयाँ)

MAST – 112 (N)

संस्कृत–पद्यकाव्य

खण्ड –1 नैषधीयचरितम्, प्रथम सर्ग(पद्य 01 से 98 पद्यपर्यन्त)

इकाई– 1महाकाव्य का लक्षण, उद्‌भव एवं विकास

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 महाकाव्य का लक्षण

1.3 महाकाव्य का उद्‌भव

1.4 महाकाव्यों का विकास

- 1.4.1 महाकाव्य का रूपगत विकास
- 1.4.2 महाकाव्य का शैलीगत विकास
- 1.4.3 महाकाव्य की परम्परा

1.5 बोध प्रश्न

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप :

(क) महाकाव्य के लक्षण से अवगत हो सकेंगे।

(ख) महाकाव्य के उद्‌भव से परिचित हो सकेंगे।

(ग) महाकाव्य की विकास–परम्परा की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

(घ) महाकाव्यों के विकास के विविध पक्षों का बोध कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

विश्व की प्राचीनतम भाषा के रूप में संस्कृत को प्रतिष्ठा प्राप्त है। संस्कृत भाषा में वेद, उपनिषद्, स्मृतिग्रन्थ, दार्शनिकग्रन्थ, काव्यग्रन्थ आदि लिखे गये। जहाँ तक काव्य लिखे जाने का प्रश्न है, उसका बीज हमें वैदिक वाङ्मय में समुपलब्ध होता है–"पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।'' कवियों की लेखनी से काव्यलेखन की भी अनेक विधायें विकसित हुईं, जिनमें महाकाव्य, खण्डकाव्य, चम्पूकाव्य, नाट्यकाव्य, गद्यकाव्य आदि। काव्यलेखन के उपजीव्य हम वैदिक वाङ्मय को मान सकते हैं, किन्तु उसका विकसित रूप लौकिक संस्कृत के उदय के साथ रामायण एवं महाभारत में देखने को मिलता है। कालान्तर में काव्यशास्त्रीय लक्षणग्रन्थ लिखे गये,

जिनमें काव्य के विविध रूप सामने आये। आर्षकाव्य रामायण एवं महाभारत परवर्ती महाकाव्यों के लिए उपजीव्य बने।महाकाव्य संस्कृत काव्य–लेखन की एक महत्वपूर्ण विद्या है। प्रकृत इकाई में हम महाकाव्य का लक्षण, उसका उद्भव एवं विकास क्रम में कालिदास, भारवि, माघ, श्रीहर्ष आदि का अध्ययन करेंगे।

परास्नातक संस्कृत (MAST) कार्यक्रम के अन्तर्गत 'संस्कृत–पद्यकाव्य' नामक प्रश्न पत्र तृतीय सेमेस्टर (MAST–112N) में निर्धारित किया गया है। इस प्रश्न पत्र में कुल तेरह इकाईयाँ हैं, जिसकी प्रथम इकाई महाकाव्य का लक्षण, उद्भव एवं विकास से सम्बन्धित है। इस इकाई में महाकाव्य का लक्षण आदि के विषय में अध्ययन किया जायेगा।

1.2 महाकाव्य का लक्षण :

काव्यसर्जन की विविध विधाओं में महाकाव्य विधा को काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने अपने–अपने लक्षणग्रन्थों में परिभाषित करने का यथासम्भव प्रयास किया है। आचार्य भामह ने काव्यालङ्कार में, दण्डी ने काव्यादर्श में तथा अग्निपुराण (अध्याय 337) में महाकाव्य के लक्षणों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। सर्वप्रथम आचार्य भामह ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ काव्यालङ्कार में महाकाव्य के लक्षण पर विचार किया है। उनके अनुसार महाकाव्यों की रचना सर्गों में हुआ करती है, उसमें महापुरुषों एवं राजवंशोत्पन्न राजाओं का विस्तार से वर्णन होता है, जिसमें ग्राम्य शब्द एवम् अर्थ का साहित्य, सालङ्कार एवं सद्वृत्तयुक्त नायक, मन्त्रणा, दूतसम्प्रेषण, यात्रा, युद्ध, नायक का अभ्युदय आदि का वर्णन हुआ करता है। वह पाँच सन्धियों से युक्त होता है, अत्यधिक विस्तार न हो। उसमें पुरुषार्थ चतुष्टय का समावेश हो, वह लोकाचार एवं समस्त काव्यरसों से युक्त अनेक सर्गों वाला हो। उसमें नायक को कुल, पराक्रम, शास्त्रज्ञान आदि से युक्त दिखाकर अन्य नायक या प्रतिनायक का अभ्युदय दिखाने की इच्छा से नायक का वध नहीं हो। यदि ऐसा होता है तो प्रारम्भ मे ंनायक के किये गये अभ्युदय का वर्णन निष्फल हुआ करता है–

सर्गबन्धो महाकाव्यंमहताञ्च महच्च यत्। अग्राम्यशब्दमर्थ्यं च सालङ्कारं सदाश्रयम्।।

मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैश्च यत्। पञ्चभिः सन्धिभिर्युक्तं नातिव्याख्येयमृद्धिमत्।।

चतुर्वर्गाभिधानेऽपि भूयसार्थोपदेशकृत्। युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्।।

नायकं प्रागुपन्यस्य वंशवीर्यश्रुतादिभिः। ना तस्यैव वधं ब्रूयादन्योत्कर्षाभिधित्सया।।

यदि काव्यशरीरस्य न स व्यापितयेष्यते। ना चाभ्युदयभाक्तस्य मुधादौ ग्रहणं स्तवे।।

(आचार्य भामहकृत काव्यालङ्कार, प्रथम परिच्छेद, कारिका – 19–23)

आचार्य भामह ने संस्कृत में उपनिबद्ध महाकाव्यों के साथ प्राकृत एवं अपभ्रंश में रचित महाकाव्यों का लक्षण किया है। इसीलिये 'अग्राम्यशब्दमर्थ्यं च' और 'लोकस्वभावेन'पद का प्रयोग किया है। अग्निपुराण के अनुसार प्राचीन काल के इतिहास से सम्बद्ध रखने वाले महापुरुषों के चरित्र–चित्रण को महाकाव्य कहा जाता है–

सर्गबन्धो महाकाव्यमारब्धं संस्कृतेन यत्।।

तादात्म्यजतद् तत्र तत्समं नास्ति दुष्यति।इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्।।

मन्त्रदूतप्रयाणाजिनियतं नातिविस्तरम्। शक्वर्यातिजगत्यातिशक्वर्या त्रिष्टुभा तथा।।

पुष्पिताग्रादिभिर्वक्राभिजनैश्चारुभिः समैः।मुक्ता तु भिन्नवृत्तान्तानातिसंक्षिप्तसर्गकम्।।

अतिशर्करिकाष्टिभ्यामेकसङ्कीर्णकैः परः। मात्रयाप्यपरः सर्गः प्राशस्त्येषु च पश्चिमः।।

कल्पोऽतिनिन्दितस्तस्मिन् विशेषानादरः सताम्।नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्काश्रमपादपैः।।

उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः। दूतीवचनविन्यासैरसतीचरिताद्भुतैः।।

तमसा मरुताप्यन्यैर्विभावैरतिनिर्भरैः।सर्ववृत्तिप्रवृत्तश्च सर्वभावप्रभावितम्।।

सर्वरीतिरसैः पुष्टं पुष्टं गुणविभूषणैः।अत एव महाकाव्यं तत् कर्ता च महाकविः।।

(अग्निपुराण, 337/24–32)

अर्थात्सर्गबन्ध रचना को, जो संस्कृत में लिखी गयी हो, महाकाव्य कहते हैं। महाकाव्य के स्वरूप का त्याग न करते हुए उसके समान अन्य रचना भी हो तो वह दूषित नहीं मानी जाती। महाकाव्य इतिहास की कथा को लेकर निर्मित होता है अथवा उसके अतिरिक्त किसी उत्तम आधार को लेकर भी उसकी अवतारणा की जाती है। उसमें यथास्थान गुप्तमन्त्रणा, दूतप्रेषण, अभियान और युद्ध आदि के वर्णन का समावेश होता है। वह अधिक विस्तृत नहीं होता। शक्वरी, अतिजगती, अतिशक्वरी, त्रिष्टुप् और पुष्पिताग्रा आदि तथा वक्त्र आदि मनोहर एवं समवृत्त वाले छन्दों में महाकाव्य की रचना की जाती है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में छन्द बदल देना उचित है। सर्ग अत्यन्त संक्षिप्त नहीं होना चाहिए। अतिशक्वरी और अष्टि इन दो छन्दों से एक सर्ग संकीर्ण होना चाहिए तथा दूसरा सर्ग मात्रिक छन्दों से संकीर्ण होना चाहिए। अगला सर्ग पूर्व सर्ग की अपेक्षा अधिकाधिक उत्तम होना चाहिए। कल्प अत्यन्त निन्दित माना गया है। उसमें सत्पुरुषों का विशेष आदर नहीं होता। नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु, चन्द्रमा, सूर्य, आश्रम, वृक्ष, उद्यान, जलक्रीडा, मधुपान, सुरतोत्सव, दूतीवचनविन्यास तथा कुलटा के चरित्र आदि अद्भुत वर्णनों से महाकाव्य पूर्ण होता है। अन्धकार, वायु तथा रति को व्यक्त करने वाले अन्य उद्दीपन विभावों से भी वह अलं'कृत होता है। उसमें सब प्रकार की वृत्तियों की प्रवृत्ति होती है। वह सब प्रकार के भावों से प्रभावित होता है तथा सब प्रकार की रीतियों तथा सभी रसों से उसका संस्पर्श होता है। सभी गुणों तथा अलंकारों से भी महाकाव्य को

परिपुष्ट किया जाता है। इन सब विशेषताओं के कारण ही उस रचना को महाकाव्य कहते हैं तथा उसका निर्माता महाकवि कहलाता है। (अग्निपुराण, गीताप्रेस गोरखपुर, पृष्ठ 702 से)

आचार्य विश्वनाथकृत 'साहित्यदर्पण' में महाकाव्य का सर्वाङ्गीण और व्यापक लक्षण प्राप्त होता है–

"सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।

सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः।

एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा।।

शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।

अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसन्धयः ।।

इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद् वा सज्जनाश्रयम्।

चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ।।

आदौ नमस्क्रियाऽशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा।

क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम् ।।

एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः ।

नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह।।

नानावृत्तमयःक्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते।

सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्।।

सन्ध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः।

प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः।।

संयोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः।

रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः।।

वर्णनीया यथायोगं साङ्गोपाङ्गा अमी इह।

कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा।।

नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु।

अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यानसञ्ज्ञकाः।।"

(आचार्य विश्वनाथकृत साहित्यदर्पण, परिच्छेद 6, कारिका 315–325)

अर्थात्सर्गों में निबद्ध काव्य 'महाकाव्य' कहलाता है। इसका नायक एक देवता अथवा धीरोदात्तादि गुणों से अन्वित क्षत्रिय होता है। कहीं एकवंश के कुलीन अनेक राजा भी नायक हुआ करते हैं। रसों में शृङ्गार, वीर एवं शान्त में से कोई एक अङ्गी रस हुआ करता है, अन्य सभी रस गौण होते हैं या अङ्गी रस का परिपोष करने वाले होते हैं। सभी नाटकीय सन्धियाँ हुआ करती हैं।प्रारम्भ में देवतादि को नमस्कार, आशीर्वाद या वस्तु–निर्देश होता है। कहीं दुर्जन–निन्दा और सज्जन–प्रशंसा भी होती है। प्रत्येक सर्ग में एक छन्द वाले पद्य रहते हैं, किन्तु अन्त में छन्द परिवर्तित हो जाता है। इसमें आठ से अधिक सर्ग होते हैं, जो न अधिक बड़े न बहुत छोटे होते हैं। कहीं–कहीं विभिन्न छन्दों वाले सर्ग होते हैं। सर्ग के अन्त में भावी कथा का सङ्केत होना चाहिए। इसमें इन विषयों का वर्णन होता है– सन्ध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, गोधूलि, मृगया, ऋतु, वन, पर्वत, सागर, संयोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, युद्ध, विवाह, मन्त्र पुत्र, उदय, इत्यादि। ग्रन्थ का नाम कवि, कथानक, नायक या प्रतिनायक के नाम पर रखना चाहिए। सर्गों का नाम वर्णित कथा के आधार पर रखना चाहिए। आर्ष महाकाव्यों में सर्गों का नाम आख्यान पर निर्भर होता है।

ये सभी लक्षण रामायण एवं महाभारत में प्राप्त होते हैं। रामायण, महाभारत और रघुवंश में अनेक नायक वर्णित हैं। रामायण आदि का कथानक ऐतिहासिक है।

आचार्य दण्डी अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'काव्यादर्श' में महाकाव्य का लक्षण करते हुए लिखते हैं –

"सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्।

आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्।।

इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्।

चतुर्वर्गफलोपेतं चतुरोदात्तनायकम्।।

नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः।

उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः।।

विप्रलम्भैर्विवाहैश्चकुमारोदयवर्णनैः।

मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि।।

अलङ्कृतमसङ्क्षिप्तंरसभावनिरन्तरम्।

सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः।।

सर्वत्रभिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम्।

काव्यं कल्पोत्तरस्थायि जायतेसदलङ्कृति।।"

आचार्य विश्वनाथ एवं आचार्य दण्डी; दोनों के लक्षण प्रायः एक जैसे ही हैं। भामह के लक्षण में कुछ भिन्नता अवश्य है।

रघुवंश, कुमारसम्भव, किरातार्जुनीय, शिशुपालवध, नैषधीयचरित, भट्टिकाव्य, जानकीहरण आदि में महाकाव्य के सभी लक्षणों का सुन्दर समन्वय है। इनमें वीर या श्रृङ्गार मुख्य रस है। एक सर्ग में एक ही छन्द है और अन्त में छन्द परिवर्तित हो जाता है। इसमें अष्टाधिक सर्ग हैं, साथ ही सूर्योदय, चन्द्रोदय, ऋतु, वन, पर्वत, विवाह आदि का वर्णन है। रामायण, रघुवंश, कुमारसंभव, नैषधनायक के नाम पर हैं। किरातार्जुनीय, शिशुपालवध आदि कथानक के नाम पर, भट्टिकाव्य कवि के नाम पर है। इनमें सर्गों के नाम वर्णितकथा के आधार पर हैं, जैसे–"**इति श्रीरघुवंशमहाकाव्ये रघुराज्याभिषेको नाम तृतीयः सर्गः।"**

1.3 महाकाव्य का उद्भव

महाकाव्य का उद्भव कब हुआ, इस विषय में इदमित्थं रूप से कुछ भी कह सकना सम्भव नहीं है, किन्तु भारतीय मनीषा किसी भी प्रश्न का समाधान खोजने के लिये वेदमुखापेक्षी हुआ करती है। अतः इस प्रश्न का समाधान ढूँढ़ने के लिये भी वैदिक वाङमय पर दृष्टिपात करते हैं। महाकाव्यों का उद्भव ऋग्वेद के आख्यान सूक्तों इन्द्र, वरूण, विष्णु और उषा आदि के स्तुतिमंत्रों, नाराशंसी गाथाओं, दानस्तुतियों, संवादसूक्तों एवं वैदिक देव–देवियों के आलङ्कारिक वर्णनसे हुआ है। ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में इन आख्यानों आदि का बृहद् रूप मिलता है। यही स्वरूप आगे चलकर महाकाव्य के रूप में परिवर्तित हो गया। इसका वास्तविक प्रारम्भ आदिकवि वाल्मीकि की अमरकृतिरामायण और व्यास की महाभारत से होता है। ये आगे चलकर परवर्ती काव्यों और महाकाव्यों के लिए उपजीव्य ग्रन्थ हो गए।

रामायण और महाभारत के बाद कालिदास की उत्पत्ति तक जो महाकाव्य लिखे गए थे। वे केवल नाममात्र ही शेष हैं। कालिदास की अलौकिक प्रतिभा और व्युत्पत्ति ने सभी पूर्ववर्ती काव्यों और महाकाव्यों को निष्प्रभ कर दिया। उस काल के कुछ ग्रन्थ इस प्रकार है।

(1) पाणिनि (450 ई.पू.) कृत 'जाम्बवती–जय' या 'पातालविजय'। इसमें 18 सर्गों में श्रीकृष्ण का पाताल में जाकर जाम्बवती के विजय और परिणय की कथा वर्णित की गयी है–

नमः पाणिनये तस्मै यस्मादाविरभूदिह।

आदौ व्याकरणं काव्यमनुजाम्बवतीजयम् ।। (राजशेखरकृत 'काव्यमीमांसा)

(2) वररुचि ने (350 ई.पू.) ने **स्वर्गारोहण** नामक काव्य की रचना की थी। समुद्रगुप्त के कृष्णचरित काव्य में इसका उल्लेख मिलता है –

"यः स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतवान् भुवि।

काव्येन रुचिरेणैव ख्यातो वररुचिः कविः ।।"

(3) महाभाष्यकार पतञ्जलि (150ई.पू.) ने भी इसी शृङ्खला में '**महानन्दकाव्य**' लिखा है। पतञ्जलि ने योगशास्त्र की व्याख्या के लिए इस महाकाव्य की रचना की थी–

"पतञ्जलिर्मुनिवरो नमस्यो विदुषांसदा।

महानन्दमयं काव्यं योगदर्शनमद्भुतम् ।।"

(युधिष्ठरमीमांसककृत संस्कृतव्याकरण का इतिहास, भाग –1)

इसके बाद महाकावि कालिदास का साहित्य–जगत् में उदय हुआ।

1.4 महाकाव्यों का विकास

वैदिक काल से लेकर परवर्ती जितने भी महाकाव्य समुपलब्ध होते हैं, उनका अध्ययन करने पर उनके विकास के दो रूप सामने आते हैं– महाकाव्यों का रूपगत विकास एवं महाकाव्यों का शैलीगत विकास।

1.4.1 रूपगत विकास –

रूपगत विकास के तीन स्तर बताये गये हैं–

(1) वैदिक काल

(2) वीर महाकाव्य–काल

(3) लौकिक महाकाव्य–काल

वैदिक काल में देवस्तुतिगान, इन्द्रवरुण अग्नि आदि देवताओं का वर्णन है। वीर महाकाव्य में रामायण–महाभारत आता है, जिसमें भाव, रस, आख्यान आदि समाहित है और लौकिक महाकाव्यों में कालिदास एवं उनके परवर्ती काव्यकार आते हैं। इनके काव्यों में भावपक्ष की तुलना में कलापक्ष का आधिक्य रहा है।

1.4.2 महाकाव्य का शैलीगत विकास

शैलीगत विकास के तीन स्तरदेखे जा सकते हैं–

(1) प्रसादात्मक शैली –

इस शैली के अन्तर्गत प्रमुख रूप से महाकवि कालिदासकृत रघुवंश एवं कुमारसम्भव तथा महाकवि अश्वघोषकृत बुद्धचरितम् एवं सौन्दरनन्द को रखा जा सकता है। इसशैली में लिखे गये महाकाव्यों में सरलता, अर्थ–गाम्भीर्य, सरसता आदि पर अधिक बल दिया गया।

(2) अलङ्कृत शैली–

प्रसादात्मक शैली के बाद महाकाव्य–लेखन सर्वजनहृदयसंवेद्य न होकर परिणत बुद्धि वालों के लिये लिखे जाने लगे। महाकवियों के अन्दर एक–दूसरे से बढ़ जाने की प्रतिस्पर्धा ने अलङ्कारप्रधान महाकाव्य–लेखन को जन्म दिया, फलतः पाण्डित्य–प्रदर्शन के लिए महाकाव्य लिखे जाने लगे, जिसे अलङ्कृत शैली का नाम दिया गया। इस शैली ने महाकाव्य को जन सामान्य से दूर कर दिया। पाण्डित्य–प्रदर्शन के लिए अलङ्कृत शैली में प्रणीत समुपलब्ध महाकाव्यों में महाकवि भारविकृत 'किरातार्जुनीयम्' महाकाव्य से इसका प्रारम्भ होता है। इसके पश्चात् महाकवि माघकृत 'शिशुपालवध', श्रीहर्षप्रणीत 'नैषधीयचरितम्' आदि आते हैं।

(3) श्लेषात्मक शैली–

इसके अन्तर्गत श्लेषप्रधान द्वयर्थक, त्रयर्थक महाकाव्य आते हैं, यथा – राघवपाण्डवीयम्, यादवपाण्डवीयम् आदि।

1.4.3 महाकाव्यों की परम्परा –

काव्यों के उपजीव्यवैदिक वाङ्मय में अनेक स्थलों पर काव्यरस की अनुभूति हुआ करती है। पौराणिक आख्यानों में भी कहीं–कहीं काव्यत्व दिखायी देता है, किन्तु काव्यशास्त्रीय आचार्यों द्वारा प्रदत्त महाकाव्य लक्षण से युक्त लौकिक संस्कृत–महाकाव्यों का प्रारम्भ आदिकवि वाल्मीकि के रामायण से होता है। यद्यपि विविध काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में आचार्य पाणिनि के 'जाम्बवतीविजय', वररुचि के'स्वर्गारोहण' एवं पतञ्जलि के'महानन्दकाव्य' का उल्लेख प्राप्त होता है, किन्तु ये सभी अनुपलब्ध हैं। अतः लौकिक संस्कृत–महाकाव्यों का प्रारम्भ रामायण एवं महाभारत से मानना समीचीन है।

रामायण एवं महाभारत के बाद महाकाव्य के लक्षण से समन्वित महाकाव्य को लेकर अवतरित होते हैंमहाकवि कालिदास।संस्कृत–साहित्यगगन के ग्रहों उपग्रहों की पङ्क्ति में कालिदास के सूर्य का ज्वलन्त विक्रम अपनी कान्ति सेसभी की प्रभा को निष्प्रभकर देता है। प्रायः सभी विद्वान् मान चुके हैं कि महाकवि कालिदास का प्रादुर्भाव ई.पू. प्रथम शताब्दी में ही हुआ था।इन्होंने दो महाकाव्यों का प्रणयन किया, जिसमें पहला'रघुवंश' एवं दूसरा 'कुमारसम्भव' है। कालिदास की काव्यकला को पूर्णता प्रदान करने वाला महाकाव्य है 'रघुवंश', जिसमें 19 सर्गों में इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं दिलीप से लेकर अग्निवर्णपर्यन्त के चरित्र का चित्रण है। महाकवि का दूसरा महाकाव्य है 'कुमारसम्भव'। इसमें कुल 17 सर्ग हैं, मल्लिनाथ की टीका आठ सर्गों तक होने के कारण यह माना जाता है कि इसका स्वरूप 8 सर्गों वाला ही था। कालिदास ने कुमारसम्भव में कुमार की उत्पत्ति के लिये शिव–पार्वती की प्रणय गाथा को काव्य का विषय बनाया है। महाकवि कालिदास मूर्धन्य रससिद्ध कवि ही नहीं हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि न केवल रसप्रवणता, अपितु काव्यकला के विभिन्न प्रतिमानों, यथा – आलङ्कारिक अप्रस्तुतविधान, प्रकृतिवर्णन की बिम्बवत्ता, शैली की व्यञ्जना प्रणाली एवं शब्दों की प्रसादमयता में भी इनकी समता अन्य कवि नहीं कर सका है। यही कारण है कि पीयूषवर्ष जयदेव ने इन्हें 'कविताकामिनी का विलास' कहा है।

महाकवि कालिदास के बाद संस्कृत–महाकविजगत् में अवतरित होते हैं – महाकवि अश्वघोष। इनकी अमरकृति हैं – 'बुद्धचरितम्' एवं 'सौन्दरनन्द'। अश्वघोष ने भगवान् बुद्ध के जीवन, उपदेश तथा सिद्धान्तों को काव्यमाला में पिरोकर 28 सर्गात्मक महाकाव्य 'बुद्धचरितम्' की रचना की। महात्मा बुद्ध के सौतेले भाई नन्द एवं उसकी पत्नी सुन्दरी की प्रणयकथा पर आधृत है उनका दूसरा महाकाव्य 'सौन्दरनन्द'। इसमें 18 सर्ग हैं।

महाकवि कालिदास और अश्वघोष के बाद परवर्ती महाकवियों में कलापक्ष का प्रभाव इतना बढ़ गया कि काव्य का भावपक्ष उपेक्षित होकर रह गया। फलतः महाकाव्य लेखन की एक नवीन शैली का जन्म होता है, जिसे अलङ्कृत शैली नाम दिया गया। इस शैली का प्रारम्भ होता है महाकवि भारवि से, जिनका आविर्भाव ई. की छठीं शताब्दी में हुआ। भारवि ने पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति के लिये इन्द्र एवं शिव को प्रसन्न करने के लिये की गयी अर्जुन की तपस्या को आधार बनाकर 18 सर्गों वाले महाकाव्य 'किरातार्जुनीयम्' का वितान पल्लवित किया। भारवि का अर्थगौरव उनके काव्य का प्राण है।

महाकवि भारवि के पश्चात् सातवीं शती के पूर्वार्ध में महाकवि भट्टि का नाम आता है, जिन्होंने रामकथा को आधार बनाकर 22 सर्गों वाले 'रावणवध' सञ्ज्ञक महाकाव्य का प्रणयन किया।यह महाकाव्य भट्टिकाव्य के नाम से भी जाना जाता है। भट्टि मूलतः वैयाकरण एवं अलङ्कारशास्त्री थे। अपने महाकाव्य में व्याकरण एवं अलङ्कार के सिद्धान्तों को काव्यमाला में एक साथ पिरोने का दुष्कर किन्तु सफल प्रयास किया है।

इसके पश्चात् महाकवि कालिदास की भावतरलता, भारवि की कलाप्रवीणता एवं भट्टि के व्याकरणपाण्डित्य के समवाय को लेकर महाकाव्यगगन के क्षितिज पर दिखायी देते हैं – महाकवि माघ।महाकवि माघ का समय सातवीं शती का उत्तरार्ध माना जाता है। महाभारत की कृष्ण एवं शिशुपाल की कथा को आधार बनाकर 20 सर्गात्मक 'शिशुपालवध' सञ्ज्ञक महाकाव्य की रचना की, जिसे माघकाव्य के नाम से भी जाना जाता है। इसमें कालिदास की उपमा, भारवि का अर्थगौरव एवं दण्डी का पदलालित्य तीनों विद्यमान हैं।

माघ के बाद के महाकाव्यों में पाण्डित्य–प्रदर्शन, कल्पना की ऊँची उड़ान तथा शृङ्गारिक विलासपूर्ण चित्रण के लिए जो महाकाव्य अत्यधिक प्रसिद्ध हो सका है, वह है – श्रीहर्ष का 'नैषधीयचरितम्'। श्रीहर्ष का समय 12वीं शताब्दी काउत्तरार्ध है। नल–दमयन्ती की प्रणयकथा को आधार बनाकर इन्होंने 28 सर्गात्मक विपुलकाय महाकाव्य का प्रणयन किया। श्रीहर्ष की कविता चमत्कारवाद से इतना प्रभावित है कि रस की अभिव्यञ्जना उसमें गौण हो जाती है। जटिलता श्रीहर्ष की दासी बनकर रह गयी है। इसीलिए उन्होंने अपने काव्य को ग्रन्थ–ग्रन्थि का साधन माना है।

संस्कृतसाहित्य में उक्त महाकाव्यों के अतिरिक्त रत्नाकर का 'हरविजय' और हरिश्चन्द्र का 'धर्मशर्माभ्युदय' तो माघ की शैली के ही नहीं, अपितु भावों एवं कलाओं के भी ऋणी हैं। महाकवि कुमारदास द्वारा विरचित जानकीहरण अपने आपमें अद्भुत महाकाव्य है। परवर्ती युग में महाकाव्यलेखन की त्रिविध धारा प्रवाहित होती हुई दिखायी देती है, जिनमें एक ओर कविराज सूरि द्वारा रचित 'राघवपाण्डवीय',हरिदत्त सूरि का 'राघवनैषधीय',

चिदम्बर सुमति का 'राघवयादवपाण्डवीय'जैसे श्लेष काव्य हैं, तो दूसरी ओर 'नलोदय' और 'युधिष्ठिरविजय' जैसे यमक काव्य भी हैं। भट्टि की शैली में महाकवि हलायुध द्वारा विरचित 'कविरहस्य',भट्ट भौमि का 'रावणार्जुनीय' और वासुदेव का 'वासुदेवचरित' विशेष उल्लेखनीय हैं। ऐतिहासिक महाकाव्यों की परम्परा में वाक्पतिराज का 'गौडवहो',बिल्हण का 'विक्रमाङ्कदेवचरित', पद्मगुप्त का 'नवसाहसाङ्कचरित'और जयानक का 'पृथ्वीराजविजय' विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। कश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ने 'रामायण मञ्जरी' और 'भारत मञ्जरी'नाामक दो महाकाव्यों का प्रणयन किया। इसी क्रम में महाकवि मङ्खककृत 'श्रीकण्ठचरितम्',हेमचन्द्रकृत 'त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरितम्', वाग्भटकृत'नेमिनिर्वाणम्', शिवस्वामीकृत 'कप्फिणाभ्युदयम्', अभिनन्दकृत 'रामचरितम्',रावप्रभुसूरिकृत 'पाण्डवचरितम्' और 'मृगावतीचरितम्', भावसूरिकृत 'पार्श्वनाथचरितम्', कृष्णानन्दकृत 'सहृदयानन्द' और गरुड़वाहनकृत 'दिव्यसूरिचरितम्'विशेष उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार महाकाव्य–लेखन का जो बीज वैदिक वाङ्मय में प्रस्फुलित हुआ था, वह रामायण, महाभारत से होते हुए महाकवि कालिदास, अश्वघोष, भारवि, माघ, कुमारदास, भट्टि, श्रीहर्ष आदि की महाकाव्य कृतियाँसंस्कृतसाहित्यगगन में नक्षत्र की तरह टिमटिमा रही हैं। स्वातन्त्र्योत्तर भारत में भी सतत रूप से महाकाव्य–लेखन हो रहा है, जिनमें सत्यव्रत शास्त्री, रेवप्रसाद द्विवेदी, शिव प्रसाद भारद्वाज, हरिनारायण दीक्षित, हरिश्चन्द्र रेणापुरकर, अशोक डबराल, अभिराज राजेन्द्र मिश्र, हरिदत्त शर्मा आदि कवियों के महाकाव्य प्रमुख हैं।

1.5 बोध प्रश्न–

लघु उत्तरीय प्रश्न :

1. आचार्य विश्वनाथ द्वारा प्रदत्त महाकाव्य का लक्षण लिखिए।
2. आचार्य दण्डी के अनुसार महाकाव्य का लक्षण लिखिए।
3. महाकाव्य के शैलीगत विकास पर प्रकाश डालिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :

1. संस्कृत–महाकाव्य के उद्भव एवं विकास पर प्रकाश डालिए।
2. संस्कृत–महाकाव्यों की परम्परा का वर्णन कीजिए।

1.6 कुछ उपयोगीपाठ्य–पुस्तकें –

1. संस्कृत–कवि–दर्शन, भोला शङ्कर व्यास,
2. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, डा. कपिल देव द्विवेदी, रामनारायणलाल विजय कुमार, इलाहाबाद।
3. संस्कृत साहित्य का इतिहास,आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा निकेतन, वाराणसी।
4. संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, आचार्य बलदेव उपाध्याय,
5. नैषधीयचरितम्, श्री बद्रीनाथ मालवीय, रामनारायणलाल विजय कुमार, इलाहाबाद।
6. साहित्यदर्पण, आचार्य विश्वनाथ,
7. काव्यालङ्कार प्रथम परिच्छेद, आचार्य भामह, व्याख्याकार डॉ. रूपनारायण त्रिपाठी, हंसा प्रकाशन, जयपुर।
8. अग्निपुराण, गीताप्रेस गोरखपुर।

MAST – 112 (N)

संस्कृत–पद्यकाव्य

खण्ड – 1 नैषधीयचरितम्, प्रथम सर्ग (पद्य 01 से 98 पद्यपर्यन्त)

इकाई – 2 महाकवि श्रीहर्ष एवं नैषधीयचरितम्

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 श्रीहर्ष का जीवन–चरित

2.3 श्रीहर्ष का स्थिति–काल

2.4 श्रीहर्ष का निवास–स्थान

2.5 श्रीहर्ष का कर्तृत्व

2.6 'नैषधीयचरितम्' की कथावस्तु

2.7 प्रथम सर्ग की कथावस्तु

2.8 'नैषधीयचरितम्' का कथास्रोत एवं मूल कथा में किये गये परिवर्तन

2.9 श्रीहर्ष की भाषा–शैली

2.9.1 भाषा–सौष्ठव

2.9.2 भावाभिव्यक्ति

2.9.3 रसयोजना

2.9.4 अलङ्कार–विधान

2.9.5 प्रकृति–चित्रण

2.9.6 पात्र–चित्रण

2.10 नैषधं विद्वदौषधम्

2.11 बोध प्रश्न

2.12 कुछ उपयोगी पाठ्य–पुस्तकें

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप :

(क) श्रीहर्ष के व्यक्तित्व को जान सकेंगे।

(ख) श्रीहर्ष के स्थिति–काल की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

(ग) श्रीहर्ष की भाषा–शैली का बोध कर सकेंगे।

(घ) नैषधीयचरितम् (नैषध काव्य) के इतिवृत्त से परिचित हो सकेंगे।

(ड़) नैषधकार श्रीहर्ष की दार्शनिकता से अवगत हो सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

संस्कृत–साहित्य–सर्जन की विविध विधाओं में महाकाव्य एक महत्त्वपूर्ण विधा है। संस्कृत महाकाव्याकाश में श्रीहर्ष टिमटिमाते हुए तारे की तरह आज भी संस्कृत– साहित्य के अध्येताओं को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। यही कारण है कि महाकवि भारवि, माघ के साथ श्रीहर्ष का भी नाम अत्यन्त सम्मान के साथ लिया जाता है और बृहत्त्रयी में किरातर्जुनीयम्, शिशुपालवधम् के साथ नैषधीयचरितम् की भी गणना की जाती है।

हर्ष ने इस महाकाव्य में एक नवीन मार्ग को अपनाया है। इसमें अनावश्यक रूप से महाकाव्य के लक्षणों का प्रयोग नहीं किया गया है। मन्त्रणा, युद्ध, पुष्पावचय, मद्यपान, ऋतु, समुद्र इत्यादि वर्णनों का इस महाकाव्य में अभाव है, जबकि ये समस्त प्रसङ्ग महाकाव्य में आवश्यक माने गये हैं। इसके साथ ही महाकाव्य की आवश्यकता के साथ ही इसमें भयानक तथा रौद्र रस के चित्रण का भी अभाव है। वस्तुतः जिस काव्य–विधान का भारवि ने सूत्रपात किया था, माघ ने पुष्ट किया था इसी को श्री हर्ष ने चरमोत्कर्ष प्रदान किया था। इसी कारण आलोचकों ने हर्ष को भारवि और माघ से श्रेष्ठ बताया है–

"उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः।"

श्रीहर्ष के समय कविता के आदर्श बहुत उच्च थे। किसी की बात को सरल भाषा में न कहकर अलङ्कृत भाषा में कहा जाता था। इसीलिए समय की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए श्रीहर्ष ने अपनी कृति में प्रकाण्ड पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है। कवि ने अनेक स्थलों पर सामान्य शब्दों के स्थान पर अलङ्कृत शब्दों का प्रयोग कर नैषध को और भी अलङ्कृत कर दिया है। उदाहरण के रूप में दमयन्ती की कृशता को साधारण भाषा में 'कृशोदरी' न कहकर '**सदसत्संशयगोचरोदरी**' तथा '**ईशाणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये**' कहा है। इस प्रकार कवित्व शक्ति का प्रदर्शन, अलङ्कारसौन्दर्य, रसपरिपाक, औचित्यप्रदर्शन इत्यादि की परिपक्व चर्चा ही कवि का मुख्य उद्देश्य प्रतीत होता है, इसी कारण इस काव्य को विद्वानों की औषधि बताया गया है– '**नैषधं विद्वदौषधम्।**'

परास्नातक संस्कृत (MAST) कार्यक्रम के अन्तर्गत 'संस्कृत–पद्यकाव्य' नामक प्रश्न पत्र तृतीय सेमेस्टर (MAST-112 छद्ध में निर्धारित किया गया है। इस प्रश्न पत्र में कुल तेरह इकाईयाँ हैं, जिसकी द्वितीय इकाई 'महाकवि श्रीहर्ष एवं नैषधीयचरितम्' से सम्बन्धित है। इस इकाई में महाकवि के व्यक्तित्व–कर्तृत्व, काव्य–शैली, नैषधीयचरितम् का प्रतिपाद्य विषय आदि के विषय में अध्ययन किया जायेगा।

2.2 श्रीहर्ष का जीवन–चरित

संस्कृत–महाकवियों में बहुत कम महाकवि हैं, जिन्होंने अपने विषय में अपनी कृतियों में लिखा हो। श्रीहर्ष उनमें से एक हैं, जिन्होंने नैषध के सर्ग के अन्त में अपने विषय में पर्याप्त परिचय दे दिया है। श्रीहर्ष के पिता स्वयं भी उच्च कोटि के कवि थे, जिसका उल्लेख कवि ने किया है–

"श्रीहर्षः कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतम्।

श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।।"

एक किम्वदन्ती है कि विशिष्ट विद्वान् मिथिला के निवासी तथा प्रसिद्ध नैयायिक उदयनाचार्य के साथ श्रीहर्ष के पिता 'हीर' का शास्त्रार्थ हुआ, जिसमें इनके पिता पराजित हो गये। मृत्युपर्यन्त वे इस पराजय को भूल नहीं पाये और अपने बेटे श्रीहर्ष से कहा कि यदि तुम मेरे सुपुत्र हो, तो उस पण्डित उदयनाचार्य को शास्त्रार्थ में अवश्य पराजित करना। तत्पश्चात् श्रीहर्ष ने गङ्गातट पर 'चिन्तामणि मन्त्र' का वर्षभर जप किया। भगवती त्रिपुरा ने प्रसन्न होकर अप्रतिम पाण्डित्य का वरदान दिया। श्रीहर्ष का यह विश्वास था कि चिन्तामणि जप करने का ही परिणाम था कि उन्हें महाकवित्व की प्राप्ति हुई तथा अपनी साधना से वह जितेन्द्रिय हो गये थे–

"तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृङ्गारभंग्या महा–

काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽयमादिर्गतः ।।"

परिणामस्वरूप श्रीहर्ष का वैदुष्य इतना प्रखरता को प्राप्त हुआ कि इनके द्वारा लिखी गयी कविता को कोई समझ नहीं पाता था। पुनः भगवती की आराधना की और भगवती ने कहा कि आधी रात के समय सिर को गीला रखो एवं दही का उपभोग करो। श्रीहर्ष ने भगवती के कथन का अक्षरशः पालन किया और तब जाकर विद्वान् लोग इनकी कविता को समझने में समर्थ हुए। अन्ततः उदयनाचार्य को पराजित कर अपने पिता के कथन को सच किया। उन्हें अपने वैदुष्य का घमण्ड भी था। वे अपने समक्ष अन्य कवियों को बहुत निम्न मानते थे।

श्रीहर्ष को कान्यकुब्ज के राजा का आश्रय प्राप्त था। यह गौड देश के राजा के आश्रय में कुछ दिन तक रहे। इस देश के राजा की कीर्ति को अमर करने के लिए हर्ष ने गौडोर्वीश–प्रशस्ति की रचना की। कान्यकुब्जनरेश से पान के दो बीड़े और आसन पाते थे तथा समाधि में ब्रह्म का साक्षात्कार करते थे। श्रीहर्ष का

काव्य मधु की वर्षा करने वाला तथा उक्तियाँ शत्रु को परास्त करने वाली हैं। यह नैषधीयचरितम् के अन्त में स्थित पद्य से ज्ञात होता है–

"ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरा–।
द्यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म प्रमोदाऽर्णवम् ।।
यत्काव्यं मधुवर्षि, धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः ।
श्रीश्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याऽभ्युदीयादियम् ।।"

2.3 श्रीहर्ष का स्थिति–काल

संस्कृत के अन्य कवियों की तरह श्रीहर्ष के काल निर्धारण में हम अंधकार में नहीं हैं। इनके स्थितिकाल के विषय में बहुलर का मत सर्वमान्य है। बहुलर का मत राजशेखर द्वारा दिये गये श्रीहर्ष के परिचय पर आधृत था। श्रीहर्ष कान्यकुब्ज के राजा जयचन्द्र (जयन्तचन्द्र) के आश्रित कवि थे। जयचन्द्र ने 1163 से 1194 तक शासन किया। कुमारपाल का समय 1143 से 1174 ई. है। इस प्रकार ये दोनों समकालिक हैं। बहुलर अपने अध्ययन में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'नैषधीयचरितम्' की रचना 1163 से 1174 के बीच हुई होगी। अतः इस आधार पर श्रीहर्ष का स्थिति–काल 12वीं शताब्दी का उत्तरार्ध निश्चित किया जा सकता है।

2.4 श्रीहर्ष का निवास–स्थान

श्रीहर्ष के निवास–स्थान के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं। कुछ विद्वान् इन्हें कश्मीर का निवासी बताते हैं, तो कुछ बनारस का। कतिपय विद्वान् इन्हें कन्नौज निवासी बताते हैं तो कुछ इन्हें बंगाल का मानते हैं। जहाँ एक ओर '**ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्** के आधार पर इन्हें कन्नौज का माना जाता सकता है, वही दूसरी ओर ''**बभूव गौडविषये श्रीहर्षो नाम कविपण्डितः। स च नलचरिताभिधानं काव्यं कृत्वा वाराणसीं जगाम।**'' के आधार पर विद्यापति उन्हें गौड देश का निवासी बताते हुए वाराणसी से सम्बद्ध करते हैं, किन्तु अलङ्कृत शैली के परम पण्डित कवि श्रीहर्ष अपने जन्म–स्थान के विषय में न लिखकर ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न की हैं।

2.5 श्रीहर्ष का कर्तृत्व

श्रीहर्ष ने 'नैषधीयचरितम्' के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों का भी प्रणयन किया है, जिनका विवरण निम्नवत है–

'**स्थैर्यविचार**' में नामक दार्शनिक ग्रन्थ में दर्शन की शैली के लिए क्षणिकवाद का निराकरण किया गया है।

'**विजयप्रशस्ति**' विजयचन्द्रराजा की प्रशंसा में लिखा गया है।

'**खण्डनखण्डखाद्य**' में वेदान्त के सिद्धान्तों का मण्डन तथा न्याय के सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है।

'गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति' में गौडदेशीय राजा की प्रशस्ति है।

'अर्णववर्णन' के नाम से ऐसा लगता है कि यह किसी समुद्रवर्णन से सम्बन्धित है।

'छिन्दप्रशस्ति' इस कृति में छिन्द नामक किसी राजा का वर्णन है।

'शिवशक्तिसिद्धि' नामक ग्रन्थ के नाम से स्पष्ट होता है कि यह शिव की शक्तिसिद्धि से सम्बन्धित तन्त्रशास्त्र के सिद्धान्तों का प्रतिपादन है।

'नवसाहसाङ्कचरितचम्पू' में भोजराज के पिता सिन्धुराज की यशोगाथा का वर्णन है।

2.6 'नैषधीयचरितम्' की कथावस्तु

नैषधीयचरित में कुल 22 सर्ग हैं। जिसमें तेरहवें और उन्नीसवें सर्ग को छोड़कर शेष सभी सर्गों में 100 से अधिक श्लोक हैं। सर्वाधिक श्लोक 17वें सर्ग में 222 श्लोक हैं। इस कथा में नल और दमयन्ती के प्रेम से लेकर परिणय तक का वर्णन है। 'नैषधीयचरितम्' की कथावस्तु सर्गानुसार निम्नवत् है–

सर्ग 1– नल और दमयन्ती का एक दूसरे के गुणों को सुनकर परस्पर आकृष्ट होना। नल का वन विहार, हंस को पकड़ना दयार्द्र होकर उसे छोड़ना। सर्ग 2 – हंस का कृतज्ञताज्ञापन और दमयन्ती के पास गुणगान। नल के आग्रह पर हंस का दमयन्ती के पास कुण्डिनपुरी जाना। सर्ग 3– हंस का दमयन्ती के सामने नल का गुणगान, दमयन्ती की नल के प्रति अनुरक्ति और हंस का नल के पास लौटना।

सर्ग 4– दमयन्ती की विकलता का भावपूर्ण वर्णन तथा पिता भीमसेन द्वारा स्वयंवर का निर्णय।

सर्ग 5– इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण का नल को दूत बनाकर दमयन्ती के पास भेजना।

सर्ग 6– अदृश्य नल का दमयन्ती के यहाँ पहुँचना और उसका सौन्दर्य देखना।

सर्ग 7– दमयन्ती का नख–शिख वर्णन

सर्ग 8– नल का प्रकट होकर देवों का सन्देश दमयन्ती को सुनाना और चारों देवों में से किसी एक को चुनने का आग्रह करना।

सर्ग 9 – नल–दमयन्ती का वार्तालाप। दमयन्ती का देवों का अस्वीकार करने का निश्चय और नल को विवाह के लिये मनाना।

सर्ग 10– स्वयंवर–वर्णन, स्वयंवर में देवताओं को नल के वेश में देखकर दमयन्ती का घबरा जाना।

सर्ग 11 और 12– सरस्वती स्वयं उस सभा में आकर देवताओं का परिचय देती हैं।

सर्ग 13– चार देवताओं और नल का सरस्वती द्वारा श्लेषयुक्त वर्णन।

सर्ग 14– देवों की स्वीकृति से दमयन्ती का नल को वरण करना और देवों का आशीर्वाद देना।

सर्ग 15– विवाह की तैयारी।

सर्ग 16– विवाह–संस्कार आदि विशेष वैवाहिक भोजन आदि का वर्णन। छह दिन रुककर नल का अपनी राजधानी पहुंचना।

सर्ग 17– देवों का लौटते समय कलि से मिलना, कलि के मुंह से चार्वाक सिद्धान्त का विस्तृत वर्णन, देवों के द्वारा चार्वाक सिद्धान्त का खण्डन, क्रोधित कलि का नल को राज्यच्युत तथा दमयन्ती से वियुक्त होने का शाप।

सर्ग 18– नल–दमयन्ती का प्रथम मिलन एवं प्रणय–क्रीडा–वर्णन।

सर्ग 19 से 22 तक चार सर्गों में नल दमयन्ती के प्रेम, दिनचर्या, देवस्तुति प्रकृति वर्णन, नल दमयन्ती का विलास–वर्णन तथा कविवृत्त वर्णन से समाप्त होता है। जिस प्रकार से 'खण्डनखण्डखाद्य' ग्रन्थ को 'दार्शनिक ग्रन्थों का मुकुटमणि' कहा गया, उसी प्रकार नैषध उनके काव्यों का अलङ्कार है।

2.7 प्रथम सर्ग की कथावस्तु

'नैषधीयचरितम्' बाईस सर्गों का विस्तृत का विपुलकाय महाकाव्य है। नल–दमयंती का उपाख्यान विश्वविश्रुत है। महाकवि श्रीहर्ष ने महाभारत में समुपलब्ध 27 अध्यायों वाले 'नलोपाख्यानम्' के प्रथम छः अध्यायों की कथा को लेकर 22 सर्गात्मक महाकाव्य 'नैषधीयचरितम्' की रचना की। इसके प्रायः सभी सर्गों में पद्यों की संख्या 100 से अधिक है। केवल 13वें सर्ग में 55 तथा 19 वें सर्ग में 66 श्लोक हैं। नल–दमयन्ती के प्रणय–कथा को आधार मानकर महाकवि ने पाण्डित्य प्रदर्शन एवं वाग्वैशारद्य आदि से युक्त 22 सर्गों वाले दीर्घकाय महाकाव्य का प्रणयन किया। प्रकृत ग्रन्थ की कथावस्तु महाभारत के वनपर्व से ली गयी है, किन्तु प्रसङ्ग प्राप्त अनेकशः परिवर्तन भी किये गये हैं। इसमें 2828 पद्य हैं। प्रथम सर्ग में राजा नल एवं भीमसुता दमयन्ती का एक दूसरे के गुणों को सुनकर परस्पर आकृष्ट होने की कथा है। निषध देश के राजा नल गुणसम्पन्न, रूपसौन्दर्य के धनी, विद्वान् एवं महादानी थे। दमयन्ती के सौन्दर्य को सुनकर राजा नल के हृदय में उसके प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया और उधर दमयन्ती महाराज के रूप एवं गुणों को सुनकर उनके प्रति अनुरक्त हो गयी। नल की प्रेमदशा का चित्रण किया गया है। दमयन्ती के विरहजन्य काम–चिह्नों को छिपाने में असमर्थ रहे। मन बहलाने के लिये उद्यान जाते हैं और उद्यान में कामोद्दीपक वातावरण में उनकी काम–पीडा और बढ़ जाती है। उसी समय वे तालाब के किनारे पहुँचते हैं और एक हंस को पकड़ लेते हैं। वह अपने को छुडवाने के लिए राजा नल से अनुनय विनय करता है और करुण विलाप करने लगता है। उसके करुण विलाप को सुनकर राजा हंस को छोड़ देता है और वह हंस उड़ जाता है। इसी के साथ प्रथम सर्ग की कथा समाप्त हो जाती है।

2.8 'नैषधीयचरितम्' का कथास्रोत एवं मूल कथा में किये गये परिवर्तन

नैषधीयचरितम् जैसे विपुलकाव्य एवं पाण्डित्य प्रदर्शन के निदर्शन महाकाव्य में महाभारत में प्राप्त नल दमयन्ती की कथा में कोई विशेष परिवर्तन किया है। केवल कुछ स्थानों पर वस्तुत वर्णन का विस्तार कर दिया है तथा कतिपय स्थलों पर रसोद्बोध की दृष्टि से घटना–संयोग एवं पात्रों के चरित्र–चित्रण में परिवर्तन किया गया है। कवि द्वारा जो परिवर्तन किये गये हैं, वे इस प्रकार हैं–

1. महाभारत की कथा में नल ने हंस को एक उद्यान में देखा, जबकि नैषधकाव्य में उद्यान में स्थित एक तालाब के किनारे देखे जाने को बताया गया है।

2. महाभारत में राजा नल ने हंस को तभी छोड़ा जब हंस ने राजा का प्रिय करने के लिये प्रतिबद्धता प्रकट की, किन्तु नैषध काव्य में हंस के करुण विलाप को सुनकर राजा नल द्रवीभूत हो गया और हंस को छोड़ दिया।

3. महाभारत को हंस एक सामान्य पक्षी में सामने आता है, जबकि नैषध का हंस मात्र एक पक्ष ही नहीं, अपितु एक सुसंस्कृत मानव के रूप में अपने आपको चिह्नित करता है।

4. नैषधीयचरित के अन्तिम 05 सर्ग (सर्ग 18 – सर्ग 22) में वर्णित रतिक्रीडायें पूर्णतः कवि कल्पनाप्रसूत हैं। महाभारतीय उपाख्यान में इसका उल्लेख नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रसङ्गतः अन्य सर्गों में भी कवि–कल्पनाजन्य घटनाओं का वर्णन किया गया है यथा– षष्ठ सर्ग में नल का दमयन्ती के भवन में चुपचाप प्रवेश, सप्तम सर्ग में दमयन्ती का नख–शिखपर्यन्त सौन्दर्यवर्णन, दशम सर्ग में सरस्वती द्वारा स्वयंवर में आये हुए देवताओं का वर्णन, पञ्चदश सर्ग में विवाह–वर्णन, 17वें सर्ग में चार्वाक् का नास्तिक सिद्धान्त एवं देवताओं द्वारा खण्डन आदि अनेक परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं।

2.9 श्रीहर्ष की भाषा–शैली

महाकवि भारवि ने जिस अलङ्कृत शैली में महाकाव्य–लेखन प्रारम्भ किया था, श्रीहर्ष उसके चूडान्तनिदर्शन हैं अर्थात् पाण्डित्य–प्रदर्शन आदि में सभी महाकवियों को इन्होंने पीछे छोड़ दिया है। प्रकाण्ड विद्वान् होने के कारण भाषा–शैली पर उनका पूर्ण अधिकार है। 'नैषधीयचरितम्' बृहत्त्रयी का प्रमुख महाकाव्य है। इसमें कलापक्ष एवं भावपक्ष का सुमञ्जुल समन्वय दिखायी देता है। इसमें जहाँ एक ओर पदलालित्य है, तो दूसरी ओर अर्थगौरव भी देखा जाता है। जहाँ एक ओर प्रसाद गुण है, वहीं दूसरी ओर ओजगुण भी दिखायी देता है। इस काव्य में यदि वैदर्भी शैली का गुम्फन है, तो गौडी शैली का चमत्कार भी है। श्रीहर्ष तक आते–आते काव्य में चमत्कार इतना अधिक बढ़ गया कि डॉ० भोला शंकर व्यास आदि संस्कृत साहित्य के समीक्षकों ने श्रीहर्ष के नैषध के विषय में कहा कि श्रीहर्ष ने अपना काव्य कोरे रसिक सहृदयों के लिए न लिखकर पण्डितों के लिये लिखा है। श्रीहर्ष ने रसिक सहृदयों को भी अप्रौढ़ बुद्धि वाला बालक कहा है, जिनके हृदय में श्रीहर्ष की रमणीय कविता–कामिनी का लावण्य कोई आनन्द नहीं पैदा कर सकता। वे स्वयं कहते हैं कि नैषध की रमणीयता का आस्वाद उसी व्यक्ति को हो सकता है जो श्रद्धा के साथ गुरुचरणों में बैठकर इस ग्रन्थ की उन जटिल गाँठों को ढीली करवा ले, जिन्हें कवि ने स्थान–स्थान पर बड़े प्रयत्न एवं कुशलता से डाल दिये हैं। आगे वे चेतावनी देते हैं कि अपने आपको विद्वान् समझने वाला दुष्ट मूर्ख इस काव्य के साथ खिलवाड़ करने की कोशिश न करे, वह इन गाँठों को नहीं सुलझा पायेगा और यदि वह इन गाँठों को सुलझाकर काव्यतरङ्गों में अवगाहन करने का आनन्द प्राप्त करना चाहता है, तो गुरु के चरणों में बैठकर इसका अध्ययन करे–

''ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचितक्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया,

प्राज्ञंमन्यमना हठेन पठिती मास्मिन् खलः खेलतु।

श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय–

त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः।।"

संस्कृत–साहित्य के कतिपय समीक्षक विद्वान्; श्रीहर्ष को भारवि एवं माघ से बड़ा मानते हुए कहते हैं कि महाकवि भारवि तभी तक सुशोभित हैं, जब तक माघ का उदय नहीं हुआ था और नैषध के प्रकाश में आने पर कहाँ भारवि और कहाँ माघ–

"तावद् भा भारवेर्भाति, यावन्माघस्य नोदयः।

उदिते नैषधे काव्ये, क्व माघः क्व च भारविः।।"

श्रीहर्ष संस्कृत–साहित्य के मूर्धन्य कवियों में से एक हैं। उनका नैषधीयचरित महाकाव्य ही उनके गुण–गौरव और विद्वत्ता का आकार है। अपने पाण्डित्य–प्रदर्शन, योग्यता के माध्यम से श्रीहर्ष ने सभी महाकवियों को पीछे छोड़ दिया है। अत एव नैषधीयचरित को बृहत्त्रयी में परिगणित महाकाव्यों में सर्वोत्कृष्ट रचना माना जाता है। श्रीहर्ष ने संस्कृत–काव्यों के रीतिकाव्य में द्वयर्थक या त्र्यर्थक पद्य रचनाएं कीं, जिसके फलस्वरुप एक नयी विधा प्रकाश में आयी। इसी की अनुकृति पर 'राघवपाण्डवीयम्', 'राघवनैषधीयम्' आदि द्वयर्थक या त्र्यर्थक काव्यों का प्रणयन हुआ। पञ्चनली प्रसङ्ग में श्रीहर्ष ने द्वयर्थक से लेकर पांच अर्थ वाले श्लोकों की रचना की हैं।

श्रीहर्ष की कल्पनाशक्ति अत्यन्त उर्वर है। उनकी कल्पनाओं की कोई सीमा नहीं है। वह अपनी किसी कल्पना की पुनरावृत्ति कर उसको फीका नहीं बनाते हैं। विप्रलम्भ शृङ्गार के वर्णन में भी श्रीहर्ष की चातुरी अ द्भुत तथा मनोहारिणी है। श्रीहर्ष की अन्य विशेषता यह है कि, उसने पुरातन पद्धति का अनुकरण नहीं किया। उन्होंने कालिदास की कल्पना शक्ति, भारवि के अर्थगौरव और माघ के पाण्डित्य प्रदर्शन आदि गुणों को अपनाकर अपने काव्य में स्थान दिया। श्रीहर्ष का काव्य सरस हृदय एवं व्युत्पन्न पाठकों के लिये शस्य श्यामल कुसमित उद्यान है। कवि ने अपनी प्रतिभा का परिचय शब्दों के नवीन अर्थों का बहुत स्थानों पर प्रयोग करके दिया है।

2.9.1 भाषा–सौष्ठव –

श्रीहर्ष की भाषा में प्रौढ़ता के साथ परिष्कार है। उनकी भाषा में दुरूह से दुरूह भावों को प्रकट करने की असाधरण क्षमता है। उनकी भाषा सरस, सरल, प्राञ्जल, प्रवाहयुक्त ध्वन्यात्मक और लयात्मक है। भावों के अनुसार भाषा में उतार–चढ़ाव है। एक ओर पदलालित्य तो दूसरी ओर स्वरमाधुर्य है। एक ओर प्रसादगुण तो दूसरी ओर ओज है। एक ओर वैदर्भी की छटा हैं तो दूसरी ओर गौडी का चमत्कार। एक ओर उत्प्रेक्षाओं का भंडार है तो दूसरी तरफ अर्थान्तरन्यास का वैभव झलकता है। एक तरफ शृङ्गार की रस क्रीडायें हैं तो वहीं दूसरी ओर करुण का द्रवीभाव एक ओर कलापक्ष की प्रधानता है तो दूसरी तरफ भावपक्ष की उदात्तता है। भाषा के रस माधुर्य, लयात्मक एवं संगीतात्मकता का सुन्दर समन्वय निम्न पद्य में देख सकते हैं –

''इत्थममुं विलपन्तममुञ्चद्दीनदयालुतयाऽवनिपालः।

रुपमदर्शि धृतोऽसि यदर्थं गच्छ यथेच्छमथेत्यभिधाय।।"

दमयन्ती के मुखचन्द्र के वर्णन में यमक की छटा के साथ आरोह–अवरोह दर्शनीय है, जिसमें कवि कहता है कि दमयन्ती के दाँतों की कान्ति ने तारवली को, मुख की कान्ति ने चन्द्रमा को एवं बालों की कान्ति ने आकाश की शोभा को जीतकर किस राजा को सन्तुष्ट नहीं किया, अर्थात् सभी को किया–

"तारा रदानां वदनस्य चन्द्रं रुचा कचानां च नभो जयन्तीम्।

आकण्ठमक्ष्णोर्द्वितयं मधूनि, महीभुजः कस्य न भोजयन्तीम्।।"

2.9.2 भावाभिव्यक्ति –

श्रीहर्ष भावाभिव्यक्ति के पण्डित माने जाते हैं। उन्होंने अपनी कल्पना की ऊँची उड़ान में भावों का कोई भी ऐसा पक्ष नहीं है जो अछूता छोड़ रखा हो। उनकी अभिव्यक्ति भावों को मनोरम और सुकुमार बना देती है। मानव के हृदय के मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध को उन्होंने बहुत ही सरल ढंग से अपने श्लोकों में प्रस्तुत किया है– उदाहरणार्थ एक स्थल पर कवि कहता है कि विधि की इच्छानुरूप चित्त की गति हुआ करती है–

"अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा, यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा।

तृणेन वात्येव तयाऽनुगम्यते, जनस्य चित्तेन भृशाऽवशात्मना।।"

अर्थात् अवश्यम्भावी विषयों में विधि की इच्छा जिस ओर गमन करती है, विवश होकर मनुष्य का चित्त भी उसी ओर जाता है, जैसे आँधी के साथ तिनका जाता है।

इसी प्रकार एक और पद्य उदाहरण के रूप में प्रस्तुत है, जिसमें श्रीहर्ष ने कल्पना की ऊँची उड़ान से चन्द्रमा के कलङ्क का अद्भुत वर्णन किया है।

''यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रजः स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम।

तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ दधाति पङ्कीभवदङ्कतां विधौ।।"

अर्थात् विजय–यात्रा के लिये जब राजा नल की सेनायें चल रही थीं, तब उनके चलने से जो धूलराशि समुद्र में जाकर गिरी, वही कीचड़ होकर समुद्र से उत्पन्न चन्द्रमा में कलङ्क के रूप में दिखाई पड़ती है।

2.9.3 रसयोजना –

काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने रसास्वादन को सभी प्रयोजनों में मुख्य माना है। काव्यानन्द का ही दूसरा नाम रसानुभूति है। जिसमें सहृदय पाठक या सामाजिक को रसोद्बोध न हो, वह काव्य; काव्य नहीं है। यही कारण है कि सभी महाकवियों ने अपने–अपने काव्यों में रसयोजना को अनिवार्य तत्त्व माना है। श्रीहर्ष ने भी नैषधीयचरितम् में रसानुभूति का ध्यान रखा है। वे स्वयं पन्द्रहवें सर्ग में अपने महाकाव्य को **"कृशेतररसास्वादाविहायम्"** अर्थात् गाढ़ रस से युक्त तथा बीसवें सर्ग के अन्त में किसी अन्य कवि के द्वारा न पहुँचे हुए रस क्षेत्र का ज्ञान कराने वाला महाकाव्य बताया है – **"अन्याक्षुण्णरसप्रमेयभणतौ।"** नैषध में अङ्गीरस शृङ्गार है, किन्तु प्रसङ्गतः अङ्गीरस के परिपोष के लिए दूसरे रसों की भी मनोरम व्यञ्जना हुई है, जिनमें अङ्गभूत वीर, करुण, हास्य आदि रस हैं। श्रीहर्ष शृङ्गार कला के कवि हैं। उन्होंने स्वयं अपने आपको उन्नीसवें सर्ग के सत्रहवें पद्य में **'शृङ्गारामृतशीतगुः'** कहा है। शृङ्गार के संयोग और वियोग; दोनों पक्षों का वर्णन किया है। सम्भोग पक्ष अत्यन्त व्यापक है, जिसका प्रारम्भ स्वयंवर–सभा से ही हो जाता है। जब स्वयंवर–सभा में देव–प्रसाद से दमयन्ती ने स्पष्ट रूप से निषधराज नल को पृथक् देखा तो माला पहनाने के लिये उसकी मानसी धारा में त्वराजनित वेग कुछ वैसा ही हुआ होगा, जैसा वर्षा में उफनाई नदी की धारा में बाँध के टूटने पर हुआ करता है, लेकिन लज्जा की अर्गला भी उतनी ही प्रबल है। अतः उत्सुकता और मुग्धोचित लज्जा के बीच उसकी अद्भुत अवस्था का चित्रण करते हुए कवि कहता है –

नले निधातुं वरणस्रजं तां स्मरः स्म रामां त्वरयत्यथैनाम्।

अपत्रपा तां निषिषेध तेन द्वयानुरोधं तुलितं दधौ सा।। (नैषधीयचरितम्, सर्ग 14, पद्य 25)

लज्जा का इतना सुन्दर चित्रण श्रीहर्ष जैसे किसी–किसी कवियों की प्रतिभा ही कर सकने में समर्थ है। लज्जा का एक स्थल और दर्शनीय है, जहाँ दमयन्ती सरस्वती से महाराज नल के पास जाने के लिए सङ्केतों के माध्यम से कहना चाहती है, किन्तु सरस्वती परिहास में सङ्केत को न समझने का अभिनय करती है। अब दमयन्ती के सामने धर्मसङ्कट उत्पन्न होता है। वह अत्यन्त कठिनता से नल का 'न' तो कह लेती है और 'ल' कहने के पूर्व लज्जा उसे इस प्रकार पी लेती है कि वह 'ल' कह ही नहीं सकतीं। तब अपनी अङ्गुलियों से सरस्वती की अङ्गुलियों को दबाती हुई सिर नीचे झुका लेती है–

देव्याः श्रुतौ नेति नलार्धनाम्नि गृहीत एव त्रपया निपीता।

अथाङ्गुलीरङ्गुलिभिर्मृशन्ती दूरं शिरः सा नमयांचकार।। (नैषधीयचरितम्, सर्ग 14, पद्य 30)

शृङ्गार के प्रेम में कवि इतना फँसा हुआ प्रतीत होता है कि कहीं–कहीं आवश्यकता न होते हुए भी शृङ्गार को ठूँसते हुए दिखायी देते हैं। फलतः अश्लीलता की गन्ध आने लगती है, यथा – विवाह के अवसर पर दमयन्ती का हाथ नल के हाथ के ऊपर होने में कवि को विपरीत रति की व्यञ्जना प्रतीत होती है –

विदर्भजायाः करवारिजेन यन्नलस्य पाणेरुपरि स्थितं किल।

विशङ्क्य सूत्रं पुरुषायितस्य तद्भविष्यतोऽस्मायि तदा तदालिभिः।।

(नैषधीयचरितम्, सर्ग 16, पद्य 15)

महाकवि श्रीहर्ष ने शृङ्गार के दूसरे भेद विप्रलम्भ शृङ्गार की योजना में भी अत्यन्त निपुण दिखायी देते हैं। विप्रलम्भ शृङ्गार को वियोग शृङ्गार रस के नाम से भी जाना जाता है। आचार्य मम्मट ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ काव्यप्रकाश में पाँच प्रकार का विप्रलम्भ माना है – **"अपरस्तु अभिलाष–विरहेर्ष्या–प्रवास–शाप–हेतुक इति पञ्चविधः।"** किसी आचार्य ने चार भेद मानते हुए लिखा है कि–

पूर्वानुरागमानाख्यप्रवासकरुणात्मना।

विप्रलम्भाभिधानोऽयं शृङ्गारः स्याच्चतुर्विधः।।

नैषधीयचरितम् का विप्रलम्भ पूर्वराग की श्रेणी का है। शास्त्रीय मर्यादा को ध्यान में रखते हुए श्रीहर्ष ने नल के प्रति दमयन्ती के पूर्वराग का वर्णन किया है और बाद में दमयन्ती के प्रति नल का रागोदय वर्णित किया है। नल के प्रति दमयन्ती का पूर्वराग कई चरणों में होता हुआ अपने उत्कर्ष को प्राप्त करता है। कभी श्रवणानुराग के रूप में, कभी दर्शनानुराग तो कभी स्वप्नानुराग के रूप में उत्पन्न होता हुआ नल में दमयन्ती की आसक्ति हुई। श्रवणानुराग का उदाहरण द्रष्टव्य है, जिसमें राजा भीम की पुत्री दमयन्ती ने नल की रूपसम्पत्ति के विषय में अनेक प्रकार से सुना है–

नृपेऽनुरूपे निजरूपसम्पदां दिदेश तस्मिन् बहुशः श्रुतिं गते ।

विशिष्य सा भीमनरेन्द्रनन्दना मनोभवाज्ञैकवशंवदं मनः ।। (नैषधीयचरितम्, 1/33)

अन्य रसों का अल्प मात्रा में प्रयोग किया है। यद्यपि श्रीहर्ष में कालिदास जैसा रसपरिपाक नहीं है, परन्तु भावप्रवणता का प्राचुर्य है। इसी प्रकार करुण रस का और प्रसाद गुण का कितना सुन्दर प्रयोग बन पड़ा है–

"मदेकपुत्रा जननी जरातुरा, नवप्रसूतिवर्रटा तपस्विनी।

गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्नहो! विधे! त्वां करुणा रुणद्धि नो।।" (नैषधीयचरितम्, 1/135)

अर्थात् हे भाग्य! मैं वृद्धा माता का एकमात्र पुत्र हूँ। बेचारी पत्नी के अभी नयी सन्तान उत्पन्न हुई है। मैं ही दोनों का देख–भाल करने वाला हूँ। ऐसे में मुझको मारते हुए क्या तुझे दया नहीं आती? नवप्रसूता वरटा अपनी पत्नी हंसी को याद करते हुए विलाप करता है–

मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः प्रियः कियद्दूर इति त्वयोदिते।

विलोकयन्त्या रुदतोऽथ पक्षिणः प्रिये ! स कीदृग्भविता तव क्षणः।।

(नैषधीयचरितम्, 1/135)

अर्थात् हे प्रिये! मेरे लिये सन्देश और कमलनाल भेजने में विलम्ब करने वाले मेरा प्रिय कितनी दूर है, ऐसा तुम्हारे पूछने पर रोते हुए पक्षियों को देखती हुई तुम्हारा वह क्षण कैसा होगा ? इसी प्रकार श्रीहर्ष ने वीर रस, बीभत्स, भयानक, हास्य, रौद्र रसों का भी सन्निवेष किया है।

2.9.4 अलङ्कारविधान –

श्रीहर्ष के काव्य में पद–पद पर अलङ्कार मिलते हैं। स्वाभाविक रूप से अलङ्कारों के प्रयोगों के कारण उनकी तुलना कालिदास से की जा सकती है। अलङ्कार में उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति कवि को अतिप्रिय है। अतः पदे–पदे कल्पना की ऊँची उड़ानों का दर्शन होता है। अनुप्रास और यमक शब्दालङ्कार अनायास सर्वत्र प्राप्त है। उन्होंने मुख्यतया उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, श्लेष, विभावना, व्यतिरेक आदि अलङ्कारों का प्रयोग किया है। श्रीहर्ष पर वक्रोक्ति सम्प्रदाय का अधिक प्रभाव दिखता है। अत एव, उन्होंने बहुत से स्थलों पर बातों को साधारण ढंग से न कहकर व्यङ्ग्यपूर्ण चमत्कारी प्रयोग किये हैं। एक उदाहरण दर्शनीय है, जिसमें कवि ने उत्प्रेक्षा अलङ्कार का प्रयोग करते हुए दमयन्ती के मुख–निर्माण का वर्णन किया है–

"हृत्सारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा।

कृतमध्यबिलं विलोक्यते, धृतगम्भीरखनीखनीलिम।।"

अर्थात् परमात्मा ने दमयन्ती के मुख के निर्माणार्थ चन्द्रमा का सार भाग निकाल लिया है। अतः उसमें छिद्र हो गया है और उसके मध्य से आकाश की नीलिमा दिखायी देती है। वस्तुतः चन्द्रमा में यह कलङ्क नहीं है। श्लेष अलङ्कार का एक अप्रतिम वर्णन श्रीहर्ष ने नैषध में किया है। दमयन्ती की इस उक्ति में तीन अर्थ प्रस्तुत हैं–

''इतीरिता पत्ररथेन तेन, ह्रीणा च हृष्टा च बभाण भैमी।

चेतो न लङ्कामयते मदीयं, नान्यत्र कुत्रापि च साभिलाषम् ।।"

उक्त पद्य में दमयन्ती हंस से कहती है. जिसमें 'चेतो न लङ्कामयते' के तीन अर्थ हैं। (1) चेतः नलं कामयते मदीयम् –अर्थात् मेरा हृदय नल को चाहता है। (2) चेतः न लङ्काम् अयते मदीयम् अर्थात् मेरा चित्त धन के लोभी होकर लङ्का की ओर नहीं जाता। (3) चेतः अनलं कामयते मदीयम्, अर्थात् नल के न मिलने पर मेरा चित्त अनल (अग्नि) को चाहता है अर्थात् मैं सती हो जाऊँगी। चिरन्तन सत्य को प्रतिपादित करने वाली सूक्तियों में अर्थान्तरन्यास अलङ्कार के प्रयोग में भी महाकवि अत्यन्त निपुण हैं। एक उदाहरण दर्शनीय है –

स्मरोपतप्तोऽपि भृशं न स प्रभुर्विदर्भराजं तनयामयाचत।

त्यजन्त्यसूञ्शर्म च मानिनो वरं त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम्।। (नैषधीयचरितम्, 1/50)

अर्थात् समर्थ महाराज नल ने अतिशय कामपीडित होकर भी विदर्भराज भीम से उनकी पुत्री दमयन्ती को नहीं माँगा, क्योंकि मनस्वी पुरुष प्राणों को और सुख को भी छोड़ देते हैं। यह त्याग भी कुछ उत्कर्ष ही है, परन्तु एक अयाचितव्रत को नहीं छोड़ते।

श्रीहर्ष में असाधारण प्रतिभा है । वे साधारण से साधारण प्रसङ्ग के सूक्ष्म निरूपण में दक्ष हैं । श्रीहर्ष ने बहुत ही सूक्ष्म परीक्षण करके सरोवर–वर्णन, दमयन्ती के नख–शिख का वर्णन, उद्यान का वर्णन तथा चन्द्रोदय का वर्णन किया है। श्रीहर्ष छन्दःप्रयोग में भी दक्षता रखते हैं। वह छोटे– छोटे छन्दों के समान ही शार्दूलविक्रीडित, हरिणी, मन्दाक्रान्ता, स्रग्धरा जैसे बड़े छन्दों के प्रयोग में भी उन्हें सफलता मिली है। श्रीहर्ष ने नैषध में 19 छन्दों का प्रयोग किया है। नैषधकाव्य एक विशाल सुसज्जित प्रासाद के समान है. जिसमें सभी वस्तुएं यथास्थान सुचारुरूप से सजाकर रखी गई हैं, जिनके चुनाव तथा रमणीयता में सर्वत्र सुसंस्कृति तथा नागरिकता झलकती है। श्रीहर्ष अपने अलौकिक पाण्डित्य के लिये जितने प्रसिद्ध हैं, उतने ही वे वर्णनचातुरी तथा रसमय उक्तियों के लिये भी प्रसिद्ध हैं।

2.9.5 प्रकृति–चित्रण –

काव्यशास्त्रीय आचार्यों द्वारा प्रदत्त महाकाव्य के लक्षण में सन्ध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र आदि के वर्णन होना बताया गया है–

"सन्ध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः।

प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः।।"

महाकवि श्रीहर्ष अपने काव्य में प्रकृति के उक्त प्रतिमानों का वर्णन में यह प्रयास करते हुए देखे जाते हैं कि उनके वर्णन में वे स्ययं रमें और सहृदय पाठक तथा श्रोता भी रमें क्योंकि श्रीहर्ष के समय तक महाकवियों में पाण्डित्य प्रदर्शन की भावना इतनी अधिक बढ़ गयी कि प्रकृति के उपादानों के साथ वे रमते हुए नहीं दिखायी देते। इस विषय में डॉ. चण्डिका प्रसाद शुक्ल लिखते हैं कि "वस्तु विशेष का वर्णन करते समय वे अपनी बौद्धिक विशेषताओं तथा अधीत विषयों को दिखाने में लग जाते थे या आचार्यों द्वारा बनायी हुई सूची को पूरा–पूरा उतार देते हैं" (नैषध–परिशीलन, पृष्ठ 199)। यहीं पर वे आगे लिखते हैं –"नैषध में जिन वस्तुओं का उन्होंने वर्णन किया है, उनमें उनकी वृत्ति स्वयं रमी हुई जान पड़ती है।" श्रीहर्ष केवल मानव–चित्रण में ही नहीं रमे हुए हैं, अपितु प्रकृति–चित्रण में भी वे उतने ही तन्मय देखे जाते हैं। उन्होंने प्रकृति का मानवीकरण कर उसके स्वरूप को सहृदय के समक्ष उपस्थित करने में वे अत्यन्त कुशल हैं। बड़ी ही सूक्ष्म दृष्टि से इसका दर्शन कराते हैं, यथा –

राजा नल जब दमयन्तीविरह में पीडित अपने मन को बहलाने के लिए विलासवन में जाते हैं तो वहाँ के वृक्षों ने राजा का आतिथ्य किया है, वह दर्शनीय है–

फलानि पुष्पाणि च पल्लवे करे वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते।

स्थितैः समाधाय महर्षिवार्धकाद्वने तदातिथ्यमशिक्षि शाखिभिः।। (नैषधीयचरितम्, 1/77)

अर्थात् वन में पक्षियों के उड़ने से उत्पन्न हवा से हिलते हुए पल्लवरूपी हाथ में फलों एवं फूलों को लेकर वृक्षों ने महर्षियों से राजा का आतिथ्य सीखा। कवि ने उद्यानवर्णन में उत्प्रेक्षा एवं समासोक्ति का भरपूर प्रयोग किया है। एक उदाहरण जिसमें कवि कहता है कि वायु से चुम्बित, पुष्परसों के रूप में रोमाञ्चित, स्मित विकसित कलिकाओं से सुशोभित तथा हवा से कुछ हिलने वाली अभिनव लताओं को नल भय एवं आदर के साथ पी रहे थे अर्थात् जी भर कर देखा–

नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता करम्बिताङ्गी मकरन्दशीकरैः।

दृशा नृपेण स्मितशोभिकुड्मला दरादराभ्यां दरकम्पिनी पपे।। (नैषधीयचरितम्, 1/85)

उद्यान में मधुर कल्पना से सजी हुई कोयल की कूक एवं भ्रमर का गुंजार भी सुनायी पड़ता है। कवि कहता है कि कोयल अपनी कूक में मानों वियोगियों की करुण कथा कह रही थी वन उस कोयल से भौंरों की गुंजारों के रूप की हुंकारों द्वारा सुन रहा था एवं करुणपुष्प करुणरस के समान विकसित हो रहे थे –

पिकाद्वने श्रृण्वति भृङ्गहुङ्कृतैर्दशामुदञ्चत्करुणं वियोगिनाम्।

अनास्थया सूनकरप्रसारिणीं ददर्श दूनः स्थलपद्मिनीं नलः।। (नैषधीयचरितम्, 1/88)

प्रकृति–वर्णन में कवि ने अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है। एक उदाहरण दर्शनीय है, जिसमें कवि कहता है कि नागकेसर के पुष्प पर भौंरों की पङ्क्तियाँ आकर बैठती थीं एवं उनके भ्रमण की गति से पुष्पों के परागकण गिरते थे। इसे देखकर नल को ऐसा प्रतीत हुआ, मानो तेजी से चलते हुए श्यामनिकष पर मदनबाण तीक्ष्ण किया जा रहा है और उसके घर्षण से परागरूपी चिनगारियाँ निकल रही हैं–

गलत्परागं भ्रमिभङ्गिभिः पतत् प्रसक्तभृङ्गावलि नागकेसरम्।

स मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणं शाणमिव व्यलोकयत् ।। (नैषधीयचरितम्, 1/92)

कहीं–कहीं पर वर्णन अत्यन्त सरस बन पड़ा है। एक स्थल पर कवि कहता है कि –

लताबलाालास्यकलागुरुस्तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः।

असेवतामुं मधुगन्धवारिणि प्रणीतलीलाप्लवनो वनानिलः।। (नैषधीयचरितम्, 1/106)

यहाँ पर कवि ने पवन के तीनों गुणों शीतलता, मन्द–मन्द बहना, सुगन्धित्व को बहुत ही निपुणता के साथ व्यञ्जना द्वारा कहा है। इसी उद्यान में एक सरोवर का भी वर्णन है, जिसे समुद्र के रूप में उत्प्रेक्षित किया गया है। यह सरोवर कमलसमूह के बहाने अनेक ऐरावतों के दाँतों को धारण करता था–

पयोनिलीनाभ्रमुकामुकावलीरदाननन्तोरगपुच्छसुच्छवीन्।

जलार्धरुद्धस्य तटान्तभूभिदो मृणालजालस्य मिषाद् बभार यः।। (नैषधीयचरितम्, 1/108)

अर्थात् जिस सरोवर ने जल में आधे ढँके हुए, तटभूमि को भेदने वाले कमलनाल के समूह के ब्याज से शेषनाग की पूँछ के समान कान्ति वाले, जलनिमग्न ऐरावत हाथियों की पङ्क्ति के दाँतों को धारण किया। नैषधकाव्य में जहाँ एक ओर चेतन पशु–पक्षियों के मानवानुकूल पारिवारिक सम्बन्धों की चर्चा करता हुआ हंस का राजा से माता, पत्नी एवं सद्यःजात शिशु के विषय में वर्णन कितना भावुकतापूर्ण है–

मदेकपुत्रा जननी जरातुरा नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी।

गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्नहो विधे त्वां करुणा रुणद्धि नो।। (नैषधीयचरितम्, 1/135)

वहीं दूसरी ओर जड वस्तुओं के पारिवारिक सम्बन्धों की कल्पना की गयी है, जिसमें चन्द्रमा और कुमुदिनी परस्पर परिणय सूत्र में बँध जाते हैं–

समं समेते शशिना करेण प्रसूनपाणाविह कैरविण्याः।

विवाहलीलामनयोरिवाह मधुच्छलत्यागजलाभिषेकः।। (नैषधीयचरितम्, 22/122)

इस प्रकार हम देखते हैं कि नैषधीयचरितम् में प्रकृति का शुद्ध स्वरूप देखने को नहीं मिलता, लेकिन कुछ वर्णन समासोक्ति के माध्यम से अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं।

2.9.6 पात्र–चित्रण –

काव्यशास्त्रीय आचार्यों द्वारा काव्यों के नायक आदि पात्रों की विशेषताओं एवं उनके कार्यों को निश्चित कर दिया गया है। कवि प्रयास करते हैं कि उनके पात्रों का चरित्र आचार्यों द्वारा निश्चित विशेषताओं से युक्त एवम् आदर्शों की ही परिधि में ही अपने व्यवहार का प्रदर्शन करते हुए देखे जाते हैं। इसका यह तात्पर्य बिलकुल नहीं है कि पात्रों के विशिष्ट व्यक्तित्व की उपेक्षा हो। आचार्यों द्वारा निर्धारित विशेषताओं के अतिरिक्त भी उनके चरित्र का दर्शन होता है, किन्तु यह भी लक्षणों में से किसी न किसी समूह में अन्तभूत होगा। नायक का सामान्य लक्षण करते हुए दशरूपककार आचार्य धनञ्जय का कथन है कि नायक को विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियभाषी, लोकप्रिय, शुचि, बोलने में पटु, प्रसिद्ध वंश वाला, युवा, बुद्धिमान्, उत्साहसम्पन्न, स्मृतिशील, प्रज्ञावान्, कलाप्रवीण, स्वाभिमानी, शूर, दृढ, तेजस्वी, शास्त्रचक्षु एवं धर्मपारायण होना चाहिए–

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियम्वदः।

रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा।।

बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वित।

शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः। (आचार्य धनञ्जयकृत दशरूपक, 2/1–2)

आचार्यों ने नायक के चार भेद बताये हैं – धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित एवं धीरप्रशान्त। नायक के उक्त लक्षण में परिगणित विशेषताओं के अतिरिक्त धीरोदात्त नायक में निम्न गुणों का होना भी आवश्यक है –

महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः।

स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः।। (आचार्य धनञ्जयकृत दशरूपक, 2/4)

अर्थात् धीरोदात्त नायक को महासत्त्व होना चाहिए। उसका अन्तस् शोक, क्रोध से परे होना चाहिए। वह आत्मप्रशंसा से दूर रहता है। वह विनयशीलता के साथ–साथ स्वाभिमान से ओत–प्रोत हुआ करता है।

नल का चरित्र–चित्रण :

नैषधीयचरित में पात्रों की संख्या अत्यन्त न्यून है। नल एवं दमयन्ती; मुख्य रूप से दो ही पात्र हैं। इन्द्रादि देवगण, सरस्वती, कलि आदि प्रसङ्गवश आते हैं। इस महाकाव्य के नायक राजा नल हैं। इसमें धीरोदात्त नायक के सभी गुण विद्यमान है। अतः उन्हें धीरोदात्त नायक के रूप में चित्रित किया गया है। यह महाकाव्य कविकल्पनाप्रसूत वर्णनों से भरा हुआ है। महाकवि का ध्यान पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं के चित्रण में उदासीन रहा है। कवि ने नल का चरित्र उदात्त एवं आदर्शपालक राजा के रूप में चित्रित किया है और वे सफल भी हुए हैं। नल का चरित्र आदि से अन्त तक धैर्यशील बना रहा। दमयन्ती की आसक्ति में धैर्यभङ्ग की स्थिति आती है, लेकिन उसे प्रकट नहीं होने देते। कवि ने प्रथम सर्ग में ही नल मे ंनायकोचित गुणों का सन्निवेश कर दिया है। उनकी त्यागशीलता (दानवीरता) का वर्णन करते हुए कवि कहता है –

अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम्।

मृषा न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः प्रणीय दारिद्र्यदरिद्रतां नृपः।। (नैषधीयचरितम्, सर्ग–1, पद्य–15)

अर्थात् राजा नल याचकों को उनकी अभिलाषा से भी अधिक दिया, अत एव उनके राज्य में कोई भी दरिद्र न था । परिणाम यह हुआ कि उनकी दरिद्रता को भी दरिद्रता आ गयी अर्थात् याचकों के मस्तक पर 'यह दरिद्र होगा' इसको मिथ्या नहीं किया, क्योंकि अब उनके पास धन का अभाव नहीं, अपितु धनाभाव का अभाव हो गया। अतः महाराज नल के राज्य में कोई भी व्यक्ति धन से दरिद्र नहीं था।

नल का हृदय करुणा से परिपूर्ण था। दयाभाव से भावित था। हंस का करुण विलाप सुनकर उनका हृदय करुणा से भर जाता है और नेत्रों से अश्रुप्रवाह प्रवाहित होने लगता है–

सुताः! कमाहूय चिराय चूंकृतैर्विधाय कम्प्राणि मुखानि कं प्रति।

कथासु शिष्यध्वर्मित प्रमील्य सः स्रुतस्य सेकाद्बुबुधे नृपाश्रुणः।।

(नैषधीयचरितम्, सर्ग–1, पद्य–142)

अर्थात् हे पुत्रों! चूँ चूँ करते हुए चिरकाल तक किसे बुलाकर भोजन माँगोगे और किसकी ओर काँपते हुए मुखों को करके कथाशेष हो जाओगे अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हो जाओगे, ऐसा कहकर मूर्च्छित होकर वह हंस दया के कारण बहते हुए राजा नल आँसुओं से सींचने से होश में आया।

राजा नल अत्यन्त विनयसम्पन्न तथा स्वाभिमानी व्यक्तित्व के धनी थे। दोनों गुणों को एक साथ राजा नल में उस समय देखते हैं, जब वह देवों से उनकी इच्छा पूरी करने का वचन देते हैं। उस समय न तो उनमें अहङ्कार है दिखायी देता है और न ही विवशता, न तो देवताओं का भय है और न ही दिखावटी भावुकता–

जीवितावधि किमप्यधिकं वा यन्मनीषितमितो नरडिम्भात्।

तेन वश्चरणमर्चतु सोऽयं ब्रूत वस्तु पुनरस्तु किमीदृक्।।

(नैषधीयचरितम्, सर्ग–5, पद्य–97)

राजा नल शास्त्रचक्षु (शास्त्रमार्गगामी) हैं। शास्त्रवेत्ता होने के कारण उनके दो भौतिक नेत्रों के अतिरिक्त शास्त्र उनका तृतीय नेत्र था–

दिगीशवृन्दांशविभूतिरीशिता दिशां स कामप्रसभावरोधिनीम् ।

बभार शास्त्राणि दृशं द्वयाधिकां निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम्।।

(नैषधीयचरितम्, सर्ग–1, पद्य–6)

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीहर्ष ने नल के चरित्र में नायक के सभी गुणों का समावेश किया है। आचार्य चण्डिका प्रसाद शुक्ल के शब्दों में कहें तो "नल सब प्रकार से पूर्ण पुरुष के रूप में चित्रित किये गये हैं।" इसके अतिरिक्त अगर कुछ बचा भी था तो वह हंस के माध्यम से कहलवा देते हैं –

क्रियेत चेत्साधुविभक्तिचिन्ता व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया।

या स्वौजसां साधयितुं विलासैस्तावत्क्षमानापदं बहु स्यात्।।

(नैषधीयचरितम्, सर्ग–3, पद्य–23)

अर्थात् अगर महापुरुषों को श्रेणियों में विभक्त किया जाय तो नल प्रथम व्यक्ति माने जायेंगे, जो अपने ओज से असंख्य शत्रुओं के पदों को अपने अधीन करने में पूर्ण समर्थ हुए हैं। राजा नल के विषय में यह उक्ति समीचीन है।

दमयन्ती का चरित्र–चित्रण :

नल और दमयन्ती की प्रणयकथा को अत्यन्त कोमलता एवं सौन्दर्य के साथ प्रस्तुत करने वाले महाकाव्य नैषधीयचरितम् की नायिका दमयन्ती है। महाकवि ने दमयन्ती के चरित्र में उन सभी मानवोचित गुणों का समावेश किया है, जिन गुणों का होना भारतीय नारी के लिए एक आभूषण है। वह आदर्श भारतीय नारी के रूप में उभरकर सामने आती है। महाकवि श्रीहर्ष उसके चरित्र का परिचय पिता की सेवा के रूप में विनयशीलता के साथ करवाते हैं–

उपासनामेत्य पितुः स्म रज्यते दिने दिने साऽवसरेषु वन्दिनाम् ।

पठत्सु तेषु प्रति भूपतीनलं विनिद्ररोमाऽजनि श्रृण्वती नलम् ।।

(नैषधीयचरितम्, सर्ग–1, पद्य–34)

अर्थात् वह दमयन्ती प्रतिदिन पिता की सेवा में रह कर चारणों द्वारा स्तुति के समय अनुरक्त हो जाया करती थी एवं राजाओं को उद्देश्य करके गुणगान करने पर नल के गुणों को श्रवण करती हुई रोमांचित हो जाया करती थी। कवि ने दमयन्ती को त्रैलोक्यसुन्दरी बताया है–

प्रियं प्रियां च त्रिजगज्जयिश्रियौ लिखाऽधिलीलागृहभित्ति कावपि।

इति स्म सा कारुतरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते।।

(नैषधीयचरितम्, सर्ग–1, पद्य–38)

अर्थात् विलासगृह (क्रीडागृह) की दीवार पर तीनों लोकों की सुन्दरता को जीतने वाली शोभा से युक्त 'किन्हीं भी प्रेमिका और प्रेमी को चित्रित करो' इस तरह वह दमयन्ती कुशल चित्रकार से बनवाये गये नल और अपने रूपसाम्य को देखती थी। दमयन्ती भारतीय सती नारी का प्रतिनिधित्व करती है। उसके प्रेम में पति–भक्ति है, उद्दाम कामवासना का लेश भी नहीं। वह मात्र नल की दासी होना चाहती है। किसी और पद की इच्छा नहीं करती। वह हंस से कहती है कि–

तदेकदासीत्वपदादुदग्रे मदीप्सिते साधु विधित्सुता ते।

(नैषधीयचरितम्, सर्ग–3, पद्य–80)

अर्थात् उनके दासी पद से भी बड़े मेरे किसी अभीष्टविशेष की साधने की आपकी इच्छा को धन्यवाद। वह कृतज्ञता–ज्ञापन करना भी अच्छी तरह से जानती है। वह कृतज्ञता प्रकट करते हुए हंस से कहती है कि–

क्रीणीष्व मज्जीवितमेव पण्यमन्यन्न चेदस्ति तदस्तु पुण्यम्।

जीवेशदातर्यदि ते न दातुं यशोऽपि तावत्प्रभवामि गातुम्।।

(नैषधीयचरितम्, सर्ग–3, पद्य–87)

अर्थात् हे हंस ! मेरे प्रिय को मूल्य रूप में देकर तुम मेरे जीवन को खरीद लो। मेरे जीवन से और कुछ लाभ न सही तो तुम एक पुण्य कार्य तो कर लोगे। मेरे जीवनेशदाता! यदि मैं तुम्हें कुछ नहीं दे सकती तो तुम्हारा यश तो गा ही सकती हूँ। दमयन्ती के चरित्र में कवि कुछ ऐसी विशेषताएँ प्रदर्शित की है, जो साधारण स्त्री में देखने को नहीं मिलतीं। जब नल सहसा अन्तःपुर में दिखायी देते हैं, तब सारी स्त्रियाँ भयभीत हो जाती हैं, किन्तु दमयन्ती अपनी चेतना को स्वस्थ रखते हुए स्वयं वार्तालाप करती है और नल के समक्ष आतिथ्य का प्रस्ताव देकर अपनी उदारता का परिचय देती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दमयन्ती के चरित्र में कवि ने भारतीय नारी के समस्त गुणों को स्थान देकर उसे आदर्श नारी के रूप में चित्रित किया है।

2.10 नैषधं विद्वदौषधम्

श्रीहर्ष का पाण्डित्य अगाध है। उनकी काव्यशक्ति और दर्शन ज्ञान का जाज्वल्यमान उदाहरण तो उनकी अमरकृति नैषधीयचरित है। विभिन्न शास्त्रीय सिद्धान्तों के वर्णन क्लिष्ट और श्लिष्ट प्रयोग तथा बहुज्ञता के प्रकाशन ने काव्य के गागर में सागर भर दिया है। अत एव नैषध को विद्वानों के लिए औषधि या रसायन माना गया है। संस्कृत–साहित्य के समीक्षकों ने श्रीहर्ष में कवित्व तथा दार्शनिकता का, प्रतिभा तथा पाण्डित्य का मिला जुला रूप पाया है। नाना दर्शनों के विषय में उनका नाम चतुरस्र था। श्रीहर्ष ने नैषध में श्लेषयुक्त प्रयोगों के अतिरिक्त व्याकरण, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त, जैन, बौद्ध आदि सभी दर्शनों के कठिन सिद्धान्तों का यथावसर पर प्रयोग किया है। वे अद्वैत वेदान्त के प्रौढ़ आचार्य हैं। श्रीहर्ष अपने आप अद्वैत वेदान्ती हैं, जिस कारण यथावसर अन्य दर्शनों की आलोचना भी की है या उनकी खिल्ली उड़ायी है। आचार्य पाणिनि की सूत्र **अपवर्गे तृतीया** पर कहते हैं कि पाणिनि ने सूत्र के द्वारा यह व्यञ्जना करायी है कि मोक्ष साधन तो केवल तृतीया प्रकृति अर्थात् स्त्री–पुरुष भिन्न नपुंसक के लिये ही माना गया है। वैयाकरणों पर यह चुटकुला है–

''उभयी प्रकृतिः कामे सज्जेदिति मुनेर्मनः।

अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि।।''

(नैषधीयचरितम्, सर्ग– 17, पद्य– 70)

अर्थात् स्त्री तथा पुरुष दोनों काम में ही आसक्त रहा करें, अपवर्ग (मोक्ष) तो केवल तृतीय प्रकृति (नपुंसक) के ही लिए है।

न्याय दर्शन के मान्य आनन्द रहित मोक्ष के वर्णन पर व्यंग्य किया है कि न्याय शास्त्र का मोक्ष गोतम (पक्का बैल) का मत है कि वह मुक्त दशा में चेतन प्राणियों को विशेष गुण से हीन बतलाकर उनकी पत्थर के समान निर्जीव स्थिति को स्वीकार करते हैं–

"मुक्तये यः शिलात्वाय, शास्त्रमूचे सचेतसाम्।

गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः।।"

(नैषधीयचरितम्, सर्ग– 17, पद्य– 75)

वैशेषिक दर्शन पर भी उन्होंने व्यङ्ग्य किया है। वैशेषिक दर्शनकार कणाद का दूसरा नाम उलूक है, अतः इस दर्शन को औलूक्य दर्शन कहते हैं। इसी पर व्यङ्ग्य करते हुए नैषधकार कहते हैं कि उलूक ही तमस्तत्त्व का परीक्षण कर सकता है और इसके सन्दर्भ में उसी के मत को स्वीकार करना चाहिये–

"ध्वान्तस्य वामोरु विचारणायां वैशेषिकं चारु मतं मतं मे।

औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत् क्षमं तमस्तत्त्वनिरूपणाय।।"

(नैषधीयचरितम्, सर्ग– 22, पद्य– 35)

वेदान्त दर्शन के अनुसार मुक्ति में जीवात्मा के लय के साथ ब्रह्मैक्य होता है–

"स्वं च ब्रह्म च संसारे, मुक्तौ तु ब्रह्म केवलम्।

इति स्वोच्छित्तिमुक्तयुक्तिवैदग्धी वेदवादिनाम्।।"

(नैषधीयचरितम्, सर्ग– 17, पद्य– 74)

श्रीहर्ष का अपना मत अद्वैत वेदान्त है और विविध दार्शनिक मतों का खण्डन करते हुए अन्त में अद्वैत वेदान्त को ही वे सर्वमान्य बताते हुये कहते हैं कि–

"श्रद्धां दधे निषधराड् विमतौ मताना–

मद्वैततत्त्व इव सत्यतरेऽपि लोकः।।"

(नैषधीयचरितम्, सर्ग– 13, पद्य– 36)

सरस्वती के स्वरूप का वर्णन करते हुए एक ही श्लोक में बौद्ध दर्शन के तीन सिद्धान्तों का उल्लेख किया है– शून्यवाद, विज्ञानवाद और सौत्रान्तिक। इसी प्रकार **"नास्ति जन्यजनकव्यतिभेदः" (5–94)** में सांख्य के सत्कार्यवाद का योग दर्शन की संप्रज्ञात समाधि का वर्णन किया है, वे ज्योतिष के भी बड़े जानकार थे। श्लेषमूलक प्रयोगों ने इस दुरुहता को और अधिक जटिल बना दिया है। पंचनली वर्णन में श्लेष द्वारा इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम और नल; पांचों का एक साथ एक श्लोक में वर्णन किया है–

"देवः पतिर्विदुषि! नैष धराजगत्या

निर्णीयसे न किमु न व्रियते भवत्या।

नायं नलः खलु तवातिमहानलाभो

यद्येनमुज्झसि वरः कतरः परस्ते।।"

(नैषधीयचरितम्, सर्ग– 13, पद्य– 34)

श्रीहर्ष ने नैषध में बहुत से नये–नये प्रयोग किये, जो आज भी बोल–चाल में प्रचलित हैं। श्रीहर्ष का काव्य–जगत् असीम है। उनके शब्दों और अर्थों का भंडार कल्पना से परे है। श्रीहर्ष का नैषध इनके गुण, गौरव और विद्वत्ता का आकार है, इसीलिए कहा गया है– **"नैषधं विद्वदौषधम्।"**

इस प्रकार नैषधीयचरितम् से सम्बन्धित उक्त अध्ययन से आपने समझा कि महाकवि भारवि से लेकर परवर्ती महाकाव्यों का लेखन पाण्डित्य–प्रदर्शन एवं काव्यकौशल के लिए होता रहा है। नैषधीयचरितम् तक आते–आते यह इतना बढ़ गया कि जान–बूझकर प्रयत्नपूर्वक काव्य में जटिल गांठें डाली गयीं, जिससे महाकाव्य सामान्यजनों के लिए रसोद्बोध का साधन नहीं रहे। हाँ, महाकवियों के कविकर्म का मुख्य साध्य अवश्य रहे। नैषधीयचरितम् की गणना बृहत्त्रयी में की जाती है। इसकी भाषा प्रसाद एवं ओजगुण तथा वैदर्भी एवं गौडी रीति का सुमंजुल समन्वय है। इसका कथानक महाभारत के वनपर्व के नलोपाख्यानम् से लेकर 22 सर्गों में फैला है, किन्तु सम्पूर्ण उपाख्यान इसमें नहीं है। महाकवि श्रीहर्ष ने अलङ्कार, रस एवं छन्दःप्रयोग में सफलता प्राप्त की हैं। अलङ्कारों का सन्निवेश अत्यन्त सहज बन पड़ा है। अवसरानुकूल छन्दों के प्रयोग मे ंतो सिद्धहस्त हैं। इसमें जहाँ एक ओर हरिणी जैसे छोटे छन्दों का प्रयोग हुआ है तो वहीं मन्दाक्रान्ता, स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित जैसे छन्दों का प्रयोग बड़ी सावधानी के साथ किया गया है। नैषध में अङ्गीरस शृङ्गार है, अन्य वीर, करुण, हास्य आदि रस अङ्गभूत हैं। श्रीहर्ष शृङ्गार कला के कवि हैं। शृङ्गार के संयोग और वियोग; दोनों पक्षों का वर्णन किया है। सम्भोग पक्ष अत्यन्त व्यापक है। अन्य रसों का अल्प मात्रा में प्रयोग किया है। यह कहा जा सकता है कि कवि कलापक्ष एवं भावपक्ष दोनों में सहृदय पाठक के अन्दर जगह बना पाने में सफल हुए हैं।

2.11 बोध प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) 'नैषधं विद्वदौषधम्' की समीक्षा कीजिये।

(2) 'नैषधीयचरितम्' के प्रथम सर्ग की कथावस्तु लिखिए।

(3) श्रीहर्ष की अलङ्कार–योजना पर सोदाहरण प्रकाश डालिए।

(4) श्रीहर्ष की रस–योजना पर एक निबन्ध लिखिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(1) महाकवि श्रीहर्ष के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व पर प्रकाश डालिए।

(2) महाकवि श्रीहर्ष की काव्य–शैली की चर्चा करें।

2.12 कुछ उपयोगी पाठ्य–पुस्तकें –

1. संस्कृत–कवि–दर्शन, भोला शङ्कर व्यास,
2. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, डा. कपिल देव द्विवेदी, रामनारायणलाल विजय कुमार, इलाहाबाद।
3. संस्कृत साहित्य का इतिहास, आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा निकेतन, वाराणसी।

संस्कृत–पद्यकाव्य

खण्ड – 1 नैषधीयचरितम्, प्रथम सर्ग (पद्य 01 से 98 पद्यपर्यन्त)

इकाई – 3 पद्यों का अनुवाद एवं संस्कृत–व्याख्या (पद्य संख्या 01 – 14 तक)

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 इकाई–परिचय

3.3 पद्यों की व्याख्या

  3.3.1 नल के गुणों का वर्णन(पद्य संख्या 01–07 तक)

  3.3.2 नल की सैन्य–शक्ति एवम् उनके प्रताप का वर्णन (पद्य संख्या 08 –14 तक)

3.4 सारांश

3.5 बोध प्रश्न

3.6 उपयोगी पाठ्य–पुस्तकें

3.0 उद्देश्य–

इस इकाई के अध्ययन से शिक्षार्थी :

(क) नैषधीयचरित के मङ्गलाचरण से परिचित हो सकेंगे।

(ख) श्रीहर्ष की काव्यशैली से अवगत हो सकेंगे।

(ग) राजा नल के वैदुष्य से परिचित हो सकेंगे।

(घ) राजा नल के गुणों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

(ङ) निषधपति नल की सैन्यशक्ति के विषय में जान सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना – अलङ्कृत शैली में लिखा गया महाकाव्य नैषधीयचरितम् महाकवि श्रीहर्ष द्वारा विरचित है। संस्कृत–साहित्य के समीक्षकों ने इसे बृहत्त्रयी में रखा है। नैषधीयचरितम् का प्रथम सर्ग, 98 पद्यपर्यन्त पाठ्यक्रम में निर्धारित है।चूँकि इसकी कथावस्तु नल–दमयन्ती की प्रणयकथा पर आधृत है, प्रथम सर्ग में प्रणय की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गयी है, जिसमें नायक निषधपति नल के गुणों का वर्णन, दमयन्ती का नल के प्रति एवं नल का दमयन्ती के प्रति अनुराग का वर्णन, नल के शारीरिक सौन्दर्य, सैन्यशक्ति,नल की वीरता आदि का वर्णन किया गया है।

3.2 इकाई–परिचय – परास्नातक संस्कृत (MAST) कार्यक्रम के अन्तर्गत 'संस्कृत–पद्यकाव्य' नामक प्रश्न पत्र तृतीय सेमेस्टर (MAST–112N) में निर्धारित किया गया है। इस प्रश्न पत्र में कुल तेरह इकाईयाँ हैं, जिसकी तृतीय इकाई 'महाकवि श्रीहर्षकृत'नैषधीयचरितम्' के प्रथम सर्ग के पद्य 01 से पद्य 14 तक संस्कृत–व्याख्या से सम्बन्धित है, जिसमें वस्तुनिर्द्रेशात्मक मङ्गलाचरण, पद्य 02 से लेकर पद्य 10 तक महाराज नल की कथा की पवित्रता एवं चतुर्दश विद्याओं का वर्णन किया गया है। 11वें पद्य में सभी प्रकार की ईतियों के समाप्त होने की चर्चा से महाराज नल के सुशासन की ओर सङ्केत किया गया है। पद्य 12, 13 एवं 14वें में नल के यश एवं पराक्रम का वर्णन किया गया है।

3.3 पद्यों की व्याख्या

3.3.1 नल के गुणों का वर्णन (पद्य संख्या 01–07 तक)

सर्वप्रथम पुण्यश्लोकश्लोकपर 'नैषधीयचरितम्' महाकाव्य ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिए महाकवि श्रीहर्ष वस्तुनिर्देशात्मकमङ्गलाचरण करते हैं–

निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथां तथाद्रियन्ते न बुधास्सुधामपि।

नलः सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः स राशिरासीन्महसां महोज्ज्वलः।। 1।।

अन्वय –यस्य क्षितिरक्षिणः कथां निपीय बुधाः सुधामपि तथा न आद्रियन्ते, सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः महोज्ज्वलः स नलः महसां राशिः आसीत्।

शब्दार्थ –यस्य = जिस। क्षितिरक्षिणः = राजा की। कथाम् = उपाख्यान को।निपीय = पानकर या सुनकर। बुधाः = विद्वज्जन या देवगण। सुधामपि = अमृत को भी। तथा = उस प्रकार। **न** आद्रियन्ते = नहीं आदर या सम्मान करते हैं। सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः = यशोमण्डल को श्वेत छत्र बनाने वाला। महोज्ज्वलः = उत्सवप्रिय। सः नलः = वह राजा नल। महसां = तेजपुरुष का। राशिः = समुदायस्वरूप। आसीत्= था।

हिन्दी में अनुवाद – जिसकी कथा को सुनकर विद्वज्जन या देवगण अमृत का भी उतना आदर नहीं करते, (ऐसे) यशोमण्डल को श्वेत छत्र बनाने वाले, उत्सवप्रिय या निष्कलङ्क चरित्र वाले वे राजा नल तेजपुरुष के समुदायस्वरूप थे।

हिन्दी–व्याख्या – महाभाष्यकार पतञ्जलि ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिए ग्रन्थ के तीन स्थानों पर मङ्गलाचरण का विधान करते हुए कहते हैं कि जिन शास्त्रों अथवा काव्यों के प्रारम्भ में, मध्य में एवं अन्त में मङ्गलाचरण किया जाता है, वे लोक में लोकप्रिय होते हैं तथा वीर एवं आयुष्मान् पुरुषों वाले होते हैं। उनके अध्येता बुद्धिसम्पन्न होते हैं–**मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाण्यायुष्मत्पुरुषाण्यध्येतारश्च बुद्धियुक्ता यथा स्युः।**"पतञ्जलि के मत का पालन करते हुए महाकवि श्रीहर्ष ने यहाँ वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण किया है।कलियुग में राजा नल का नामसङ्कीर्तन पापों को नाश करने वाला माना जाता है –

"कर्कोटस्य नागस्य दमयन्त्याः नलस्य च।

ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्तनं कलिनाशनम्।।"

म्हाराज नल के चरित्र में इतना माधुर्य है कि देवता भी अमृत पीना छोड़ देते हैं, ऐसे राजा नल का चरित्र सफेद छत्र को अपने यश के रूप में धारण करने वाला, तेजःपुञ्ज से प्रकाशमान एवं उत्सवप्रिय था।

संस्कृत–व्याख्या – अत्र पतञ्जलिमतमनुसृत्य चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफलप्राप्तः प्रतिभाप्रकर्षः महाकविः श्रीहर्षः स्वकीयं पुण्यश्लोकश्लोकनपरं नैषधीयचरितम् इत्याख्यमहाकाव्यं निर्मातुम् आदौ वस्तुनिर्देशात्मकं मङ्गलमाचरति–**निपीयेति** । यस्य क्षितिरक्षिणः=महीभर्तुः, कथां =चरित्र–चर्चां, निपीय = पीत्वा श्रुत्वा वा,बुधाः =देवगणाः विद्वज्जनाश्च, सुधामपि = अमृतमपि, तथा = तेन प्रकारेण, न आद्रियन्ते= श्रद्धया न निरीक्षन्ते, सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः = श्वेतातपत्रवत्, कृतं यशो मण्डलं येन सः महोज्ज्वलः= उत्सवप्रियः कलङ्करहितः वा, स नलः = एतदाख्यनृपः महसां = तेजसां, राशिः = समूहः, आसीत् =बभूव।

समास – क्षितिरक्षिणः = क्षितिं रक्षितुं शीलमस्य सः रक्षी, क्षितेः रक्षी क्षितिरक्षी तस्य क्षितिरक्षिणः(तत्पुरुष)। सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः = सितं च तत् छत्रं, कीर्तिमण्डलं सितच्छत्रितं येन सः (बहुव्रीहि)। महोज्ज्वलः = महैः उज्ज्वलः(तृतीया तत्पुरुष) महान् उज्ज्वलः यस्य(बहुव्रीहि)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी –कथाम् = 'कथ्' धातु से 'अङ्' प्रत्यय एवं स्त्रीत्वविवक्षा में 'टाप्' प्रत्यय, द्वितीया विभक्ति एकवचन। निपीय = नि उपसर्गपूर्वक 'पीङ् पाने' धातु से क्तवा (ल्यप्) प्रत्यय। बुधाः = 'बुध अवगमने' धातु से 'क' प्रत्यय। आद्रियन्ते = 'आङ्' उपसर्गपूर्वक 'वृङ् आदरे' धातु से 'क' प्रत्यय।

कोश–"ज्ञातृचान्द्रसुरा बुधाः" इति क्षीरस्वामी। "पीयूषममृतं सुधा" इत्यमरः। "क्षण उद्धर्षो मह उद्धव उत्सवः" इत्यमरः। "शृङ्गारः शुचिरुज्ज्वलः" इत्यमरः।

अलङ्कार –इस पद्य में उपमान सुधा से भी उपमेय नल की मधुरता का आधिक्य कथन किया गया है, अत एव व्यतिरेक अलङ्कार है। व्यतिरेक अलङ्कार का लक्षण है –"उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः (काव्यप्रकाशे)"। इसी प्रकार 'कीर्तिमण्डल' में 'सितच्छत्र' का तथा 'नल' में 'महोराशित्व' का आरोप होने के कारण रूपक अलङ्कार भी है –"तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः'' (काव्यप्रकाशे)। इस प्रकार निरपेक्ष रूप से व्यतिरेक एवं रूपक दोनों होने के कारण तिलतण्डुलन्यायेन संसृष्टि अलङ्कार है –"मिथोऽनपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते। (साहित्यदर्पणे)"

छन्द –इस सर्ग मेंवंशस्थ छन्द है। सर्गान्त में दोधक छन्द है। वंशस्थ का लक्षण है– "जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ।"

विशेष–काव्यशास्त्रीय आचार्यों द्वारा प्रदत्त महाकाव्य का लक्षण नैषधीयचरित में लक्षित होता है, अतः यह महाकाव्य है। इस महाकाव्य का नायक चतुर्विध नायकों में से धीरोदात्त कोटि का है।

प्रसङ्ग :–महाराज नल के साम्राज्यशालित्व का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि–

रसैः कथा यस्य सुधावधीरिणी नलः स भूजानिरभूद्गुणाद्भुतः।

सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतावलिकीर्तिमण्डलः।। 2।।

अन्वय– यस्य कथा रसैः सुधावधीरिणी, सः सुवर्णदण्डैकसितातपत्रित– ज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः गुणाद्भुतः भूजानिः नलः अभूत।

शब्दार्थ – यस्य = जिस राजा नल की। कथा = गाथा या उपाख्यान। रसैः = श्रृंगारादि नवरसों से, सुधावधीरिणी = अमृत का तिरस्कार करने वाली। सः = वह । सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः = प्रतापावलि को सुवर्ण का दण्डबनाने वाले तथा कीर्तिमण्डल को छाते का कपड़ा बनाने वाले। गुणाद्भुतः = शौर्य धैर्य आदि गुणों से अद्भुत् । भूजानिः = पृथ्वीपति । नलः = राजा नल। अभूत = हुए।

हिन्दी में अनुवाद – जिस (राजा नल)की गाथा शृङ्गारादि नौ रसों से युक्त होने के कारण अमृत रस का भी तिरस्कार करने वाली है, (ऐसे)वह प्रतापावलि को सुवर्ण का दण्ड बनाने वाले तथा कीर्तिमण्डल को छाते का कपड़ा बनाने वाले, शौर्यधैर्यादि गुणों से अद्भुत पृथ्वी के स्वामी राजा नल हुए।

हिन्दी–व्याख्या – यहाँ राजा नल को अत्यन्त गुणवान् बताया है तथा राजा नल के गुणों का हेतु देते हुए कवि कहता है कि पृथ्वी जिसकी पत्नी है, सुवर्ण–दण्ड को जिसने अपने तेजःपुञ्ज के रूप में धारण किया हुआ है एवं श्वेतातपत्र उसके कीर्तिमण्डल का सूचक है।

संस्कृत-व्याख्या –अत्र नलस्य साम्राज्यशालित्वं प्रतिपादयन् महाकविः प्राह– रसैः कथेति। यस्य = नलस्य, कथा = गाथा उपाख्यानं वा। रसैः = शृङ्गारादिनवरसैः। सुधावधीरिणी = अमृततिरस्करिणी वर्तते।(तादृशः)सः = पूर्वोक्तः। सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः = कनकदण्डैकशुक्लच्छत्रितदेदीप्यमानतेजःपुञ्जयशोमण्डलः। गुणादभुतः = शौर्यधैर्यादिभिः गुणैः आश्चर्यभूतः। भूजानिः = भूपतिः। नलः = एतदाख्यो नृपः। अभूत् = बभूव।

समास –भूजानिः = भूः जाया यस्य सः (बहुव्रीहि),सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः = सुवर्णस्य दण्डः (षष्ठी तत्पुरुष), सितञ्च तत् आतपत्रञ्च (कर्मधारय), एकञ्च तत् सितातपत्रञ्च (कर्मधारय), सुवर्णदण्डश्च एकसितातपत्रञ्च, सुवर्णदण्डैकसितातपत्रम् (इतरेतर द्वन्द्व), सुवर्णदण्डैकसितातपत्रे कृते सुवर्णदण्डै–कसितातपत्रिते, प्रतापानाम्आवलिः (षष्ठी तत्पुरुष), ज्वलन्ती चासौ प्रतापावलिः (कर्मधारय), कीर्तेः मण्डलम् (षष्ठी तत्पुरुष), ज्वलत्प्रतापावलिश्च कीर्तिमण्डलञ्च (द्वन्द्व),सुवर्णदण्डैकसितातपत्रिते ज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डले यस्य सः (बहुब्रीहि)

व्याकरणात्मक टिप्पणी– सुधावधीरिणी = सुधाम् अवधीरयतीति, सुधा+अव+धीर्+णिच्+णिनि, स्त्रीत्व विवक्षा में 'ऋन्नेभ्यो ङीप्'सूत्र से 'ङीप्' प्रत्यय। अभूत् = भू धातु, लुङ् लकार, प्रथम पुरुष एकवचन।

कोश– "रसो गन्धः रसः स्वादः इति विश्वः।"

अलङ्कार – यहाँ 'प्रताप' में 'सुवर्णदण्ड' का तथा 'कीर्तिमण्डल' में 'श्वेतच्छत्र' का क्रमशः आरोप होने के कारणरूपक एवं यथासंख्य अलङ्कार है । यथासंख्य अलङ्कार का लक्षण है–"यथासंख्यमनुद्देश्य उद्दिष्टानां क्रमेण यत्।"'सुधावधीरिणी' यहाँ प्रसिद्ध उपमान 'सुधा' को न्यून बताये जाने के कारण व्यतिरेक अलङ्कार है । व्यतिरेक अलङ्कार का लक्षण है –"उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः।" निरपेक्ष रूप से तीन अलङ्कार होने से संसृष्टि अलङ्कार है।

प्रसङ्ग– अपनी अकुण्ठित कवित्वशक्ति का गर्व–परिहार करता हुआ अपने विनय के कारण नल के गुण–वर्णन का कारण बताते हुए कवि कहता है–

पवित्रमत्रातनुते जगद्युगे स्मृता रसक्षालनयेव तत्कथा ।

कथं न सा मद्गिरमाविलामपि स्वसेविनीमेव पवित्रयिष्यति।। 3।।

अन्वय–यत्कथा अत्र युगे स्मृता (सती) जगत् रसक्षालनया इव पवित्रम् आतनुते, सा आविलामपि स्वसेविनीमेव मद्गिरं कथं न पवित्रयिष्यति ।

शब्दार्थ–यत्कथा = जिस (राजा नल) की कथा । अत्र इस। युगे = युग में। जगत् = संसार को। रसक्षालनयेव = जल से प्रक्षालन की तरह । पवित्र = स्वच्छ और शुद्ध। आतनुते = बना देती है। सा = वह। आविलामपि = दोष युक्त भी। स्वसेविनीमेव अपनी ही सेवा करने वाली । मद्गिरं = मेरी काव्य रूप वाणी को । कथं = क्यों । न नहीं। पवित्रयिष्यति = पवित्र करेगी ।

हिन्दी में अनुवाद – जिस (राजा नल) की कथा इस युग में संसार को जल से प्रक्षालन के समान स्वच्छ और शुद्ध बना देती है। वह (कथा)दोषयुक्त होती हुई भी अपनी ही सेवा करने वाली मेरी काव्यरूप वाणी को क्यों नहीं पवित्र करेगी अर्थात् अवश्य पवित्र करेगी।

हिन्दी–व्याख्या – भाव यह है कि जिस प्रकार जल–प्रक्षालनभौतिक अपवित्रता दूर करता है, उसी प्रकार राजा नल की कथा मानसिक मलों को दूर करती है। अन्य शब्दों में यह कहें कि जैसे जल से धोने से वस्तुओं की पवित्रता होती है, वैसे ही नल की कथा स्मरण करने से जगत् की पवित्रता होती है, तो उनके चरित्र–वर्णन में प्रयुक्त काव्य–दोषयुक्त मेरी (कवि की) वाणी क्यों नहीं पवित्र होगी।

संस्कृत–व्याख्या – पद्येऽस्मिन् औद्धत्यं परिहरन् कविः स्वविनयं प्रदर्शन्नाह– पवित्रमिति। यत्कथा = यस्यनलस्य कथाउपाख्यानं वा, अत्र युगे = अस्मिन् युगे स्मृता = स्मर्यमाणा, रसक्षालनया इव = जलप्रक्षालनेन इव, जगत् = लोकं, पवित्रां = पूतां विशुद्धां वा, आतनुते = करोति, सा = प्रसिद्धा नलकथा, आविलामपि = दोषयुक्तामपि, सदोषामिति भावः, स्वसेविनीमेव =केवलं स्वकीर्तनपरामेवेति भावः, मद्गिरं =मदीयां वाणीमपि, कथं = केन प्रकारेण, न पवित्रयिष्यति = पवित्रां करिष्यत्येवेति भावःकवेः।

समास – रसक्षालनयेव = रसेन क्षालना, तया, रसक्षालनयाइव (तृतीया तत्पुरुष)। यहाँ "इवेनसह नित्यसमासो विभक्त्यलोपश्च" वार्तिक से विभक्ति का लोप नहीं हुआ ।यत्कथा = यस्य कथा (षष्ठी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – अत्र = अस्मिन्निति, 'इदम्' से 'त्रल्' प्रत्यय। स्मृता = 'स्मृ' से 'क्त' प्रत्यय, स्त्रीत्व विवक्षा में 'टाप्' प्रत्यय। स्वसेविनीम् =स्वं सेवते तच्छीला, ताम्, स्व+सेव्+ णिनि+ङीप्। पवित्राम् ='पू' धातु से 'पुवः संज्ञायाम्' सूत्र से 'इत्र' प्रत्यय हुआ।

कोश–रस = "शृङ्गारादौ द्रवे वीर्ये देहधात्वम्बुपारदा" इति रसपर्याये विश्वः। आविलः = "कलुषोऽनच्छ आविलः" इत्यमरः।

अलङ्कार –इस पद्य में कौमुतिकन्यायेन अर्थापत्ति अलङ्कार है, क्योंकि जो कथा स्मरणमात्र से लोगों को पवित्र कर देती है, वह कीर्तन करने से (नाम लेने से) क्यों नहीं पवित्र करेगी। अर्थापत्ति अलङ्कार का लक्षण है –

"एकस्य वस्तुनो भावात् यत्र वस्त्वन्यथा भवेत्।

कौमुत्यन्यायतः सा स्यादर्थापत्तिरलङ्क्रिया।।"

विशेष – नल का स्मरण पापनाशक हैऔर इनका स्मरण करने से जगत् की पवित्रता स्पष्ट होती है, जैसाकि कहा गया है–

"कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च।

ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्तनं कलिनाशनम् ।।

पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः।

पुण्यश्लोका च वैदेही पुण्यश्लोको जनार्दनः।।"

प्रसङ्ग – प्रस्तुत श्लोक में राजा नल के चौदह विद्याओं में नैपुण्य का वर्णन करते हुए कवि कहता है –

अधीतिबोधाचरणप्रचारणैर्दशाश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः ।

चतुर्दशत्वं कृतवान् कुतः स्वयं न वेद्मि विद्यासु चतुर्दशस्वयम्।। 4।।

अन्वय – अधीतिबोधाचरणप्रचारणैः उपाधिभिः चतस्रः दशाः प्रणयन् अयं न वेद्मि स्वयं चतुर्दश विद्यासु चतुर्दशत्वं कुतः कृतवान्, (इति) न वेद्मि।

शब्दार्थ – अधीतिबोधाचरणप्रचारणैः = शब्दतः अध्ययन, अर्थज्ञान, शास्त्रोक्त कर्मानुष्ठान और अध्यापन नामक । उपाधिभिः = रूपों या विशेषताओं से। चतस्राः = चार । दशाः = अवस्थाओं को।प्रणयन् = करते हुए। अयम् = इस राजा नल ने। स्वयं = स्वतः । चतुर्दशसु विद्यासु = चौदह प्रकार की विद्याओं में । चतुर्दशत्वं = चतुर्दशता को। कुतः = कहाँ से। कृतवान् = स्थापित कर दिया।न वेद्मि = नहीं जानता हूँ।

हिन्दी में अनुवाद – शब्दतः अध्ययन, अर्थज्ञान, शास्त्रोक्त कर्मानुष्ठान और अध्यापन नामक विशेषताओं से चार अवस्थाओं को करते हुए इस राजा नल ने स्वयं ही चौदह प्रकार की विद्याओं में चतुर्दशता को कैसे स्थापित कर दिया;मैं नहीं जानता (जबकि उसके 56 भेद होने चाहिए।)

हिन्दी–व्याख्या – भाव यह है कि राजा नल ने चौदह विद्याओं का अध्ययन, मनन, तदनुकूल आचरण तथा अध्यापन किया। इस प्रकार 14 विद्याओं की चार–चार आवृत्तियाँ हुईं। 14 विद्याओं को चतुर्गुणित करने पर जो विद्यायें थीं, उनमें 14 संख्या न होकर एक–एक के 4–4 भेद होने से 56 संख्या होनी चाहिए थी । फिर भी चौदह विद्याओं में चौदह संख्या क्यों रही ? कवि कहता है कि मैं इस रहस्य को नहीं जान पा रहा हूँ ।

संस्कृत–व्याख्या – अत्र नलस्य चतुर्दशविद्याध्ययनं प्रतिपादयन् कविः कथयति यत् –अधीतीति। अधीतिबोधाचरणप्रचारणैः = श्रवणार्थज्ञानतदर्थानुष्ठानप्रसारणैः, उपाधिभिः = भेदकैः, चतस्रः दशाः = चतुः संख्यकाः अवस्थाः, प्रणयन् = कुर्वन्,अयं = राजा नलः, स्वयं=आत्मना, चतुर्दशसु विद्यासु = चतुरधिकदशसु विद्यासु वेदादिषु, चतुर्दशत्वं = चतुर्दशसंख्यकत्वं, कुतः = कस्मात्,कृतवान् = विहितवान्, इति,न वेद्मि = इत्यहं न जानामि, अपितु जानाम्येवेति काक्वा।अत्र चतुर्दशसंख्यकानां विद्यानां चतुरावृत्या षट्पञ्चाशत्वस्यापत्तिः निरस्ता, यतो हि अत्र केवलं चतुर्दशत्वमिति भावः, चतुरवस्थत्वं विहितवानिति विरोधपरिहारः।

समास – चतुर्दशत्वम् = चतस्रो दशाः यासां, ताः चतुर्दशाः, तासां भावः चतुर्दशत्वम् (बहुव्रीहि) । अधीतिबोधाचरणप्रचारणैः=अधीतिश्च बोधश्च आचरणञ्च प्रचारणञ्चेत्य– धीतिबोधाचरणप्रचारणानि, तैः (द्वन्द्व)। चतुर्दशसु =चतुरधिका दश चतुर्दश, तासु ("शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपसंख्यानम्" सूत्र से मध्यमपदलोपी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – चतुर्दशत्वम् = 'चतुर्दश' शब्द से "तस्य भावस्त्वलौ" सूत्र से 'त्व' प्रत्यय। त्व प्रत्यान्त शब्द हमेशा नपुंसकलिङ्ग में होता है– "त्वान्तं क्लीबम्।" अधीतिः = 'अधि' उपसर्गपूर्वक 'इङ् अध्ययने' धातु से "स्त्रियां क्तिन्" सूत्र से 'क्तिन्' प्रत्यय।बोधः = बोधनं बोधः, 'बुध् अवगमने' धातु से 'घञ्' प्रत्यय। प्रणयन् = 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'णीञ् प्रापणे' धातु से 'लट्' के स्थान में "लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे" सूत्र से शतृ आदेश। विद्यासु = विदन्ति धर्मकाममोक्षान् आभिरिति विद्या, तासु। 'विद् ज्ञाने' धातु से "सञ्ज्ञायां समजनिषदनिपतमनविदषुञ्शीङ् भृञिणः" सूत्र से 'क्यप्','अजाद्यतष्टाप्' सूत्र से 'टाप्' प्रत्यय।

कोश–उपाधिः = "उपाधिभिर्धर्मचिन्तायां कैतवे च विशेषणे" इति विश्वः

अलङ्कार – चौदह विद्याओं को चार उपाधियों (भेदों) से गुणा करने पर छप्पन विद्याएं होनी चाहिए, फिर चतुर्दशत्व कैसे, यह विरोध दिखायी देता है, किन्तु 'चतस्रः दशाः यासां ताश्चतुर्दशाः, तासां भावः' अर्थात् चार अवस्था वाली विद्याओं का भाव, ऐसा अर्थ करने पर विरोध का परिहार हो जाता है, अतः इस पद्य मेंविरोधाभास अलङ्कारहै। विरोधाभास अलङ्कार का लक्षण है –"आभासत्वं विरोधस्य विरोधाभास उच्यते।"

विशेष – विष्णुपुराण मेंचौदह विद्याओं की चर्चा करते हुए कहा गया है कि चार वेद, छः वेदाङ्ग, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र एवं पुराण; ये चौदह विद्याएं हैं–

"अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसान्यायविस्तरः।

धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश।।"

इस विषय में याज्ञवल्क्यस्मृति में भी यही उल्लेख है–

"पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।

वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ।।"

प्रसङ्ग – पूर्वोक्त चौदह विद्याओं में चार उपवेद को समाहित कर लेने परअठारह विद्याओं को मानकर कवि कहता है कि–

अमुष्यविद्या रसनाग्रनर्तकी त्रयीव नीताङ्गगुणेन विस्तरम्।

अगाहताष्टादशतां जिगीषया नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम् ।। 5।।

अन्वय–अमुष्य रसनाग्रनर्त्तकी विद्या त्रयी इव अङ्गगुणेन विस्तरतम् नीता नवद्वयद्वीपपृथक्जयश्रियां जिगीषया अष्टादशताम् अगाहत।

शब्दार्थ – अमुष्य = इस राजा नल की । रसनाग्रनर्तकीविद्या = जिह्वा के अग्र भाग पर नाचने वाली (पाक) विद्या । त्रयीव = वेदत्रयी (ऋक्, यजुः, साम) की तरह। अङ्गगुणेन = वेदाङ्गों की गुणनक्रिया से । विस्तरम् विस्तार को। नीता = प्राप्त हुई । नवद्वयद्वीप = अठारह द्वीपों की। पृथक्जयश्रियाम् = अलग–अलग विजयश्री को । जिगीषया = जीतने की इच्छा से । अष्टादशतां = अठारह संख्या को । अगाहत = प्राप्त किया।

हिन्दी में अनुवाद – इस राजा नल की जिह्वा के अग्र भाग पर नाचने वाली पाक विद्या मधुराम्ल लवणादि अंगों के विस्तार से व्यापकता को प्राप्त हुई वेदत्रयी (ऋक्, यजुः, साम) के समान वेदाङ्गों की गुणनक्रिया से वृद्धि को प्राप्त करायी जाती हुई अठारह द्वीपों की पृथक्–पृथक् विजयश्री को जीतने की इच्छा से अठारह संख्या को प्राप्त हुई ।

हिन्दी–व्याख्या – भाव यह है कि इस नल को प्रत्येक विद्या कण्ठस्थ थी । अठारह विद्याओं में से एक विद्या तो ऐसी थी जो रसनाग्र की नर्तकी थी और वह थी पाक विद्या। इसी प्रकार राजा नल अश्व विद्या और द्यूत विद्या में निपुण था। इनमें प्रत्येक के छः अङ्ग होते हैं। इस प्रकार अठारह अङ्ग हुए।राजानल वेदत्रयी (ऋक्, यजुः, साम) का ज्ञाता था । वेदत्रयी भी छःअङ्ग से गुणित होने पर अठारह प्रकार की होती है अर्थात् नल वेदवेदाङ्गशास्त्रादि में तथा पाकादि विद्याओं में निपुण थे और उनका साम्राज्य अठारह द्वीपों में फैला हुआ था ।

संस्कृत–व्याख्या – नलस्याष्टादशविद्यनैपुण्यं प्रतिपादयति–**अमुष्येति**। अमुष्य = नलस्य, रसनाग्रनर्तकी = जिह्वाग्रसञ्चारिणीविद्या, पूर्वोक्तावेदविद्या पाकविद्या च, अङ्गगुणेन =वेदाङ्गावृत्या, त्रयीव = वेदत्रयीव, विस्तरम् =वैपुल्यं, नीता = प्रापिता,सती,नवद्वयद्वीपपृथक्जयश्रियाम् = अष्टादशद्वीपभिन्नविजयलक्ष्मीनां, जिगीषया = जेतुम् इच्छया, अष्टादशतां = अष्टादशसंख्यकत्वम्,अगाहत = अभजत।

समास – रसनाग्रनर्तकी = रसनाया अग्रम् (षष्ठी तत्पुरुष), नृत्यतीति नर्तकी, रसनाग्रे नर्तकी (सप्तमी तत्पुरुष)। अङ्गगुणेन = अङ्गानां गुणः, तेन(षष्ठी तत्पुरुष)। नवद्वयद्वीप– पृथक्जयश्रियाम् = द्वौ अवयवौ यस्य तत्द्वयम्, द्वि+तयप् (अयच्), द्विर्गता आपो यस्मिन्निति द्वीपम् (बहुव्रीहि), नवानां द्वयम् (षष्ठी तत्पुरुष), नवद्वयं च ते द्वीपाः(कर्मधारय), जयस्य श्रियः (षष्ठी तत्पुरुष), नवद्वयद्वीपानां पृथक्जयश्रियः तासाम्(षष्ठी तत्पुरुष) नवद्वयद्वीपपृथक्जयश्रियाम्। अष्टादशताम् = अष्टौ च दश च अष्टादश(द्वन्द्व), "द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः" सूत्र से आत्व।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – अमुष्य = 'अदस्'शब्द षष्ठी एकवचन। नर्तकी ='नृत्' धातु से 'ष्वुन्'प्रत्यय, स्त्रीत्व विवक्षा में 'ङीष्' प्रत्यय। त्रयी ='त्रि' शब्द से 'तयप्' प्रत्यय, 'तयप्' को 'अयच्', आदेश, स्त्रीत्व विवक्षा में 'ङीप्' प्रत्यय। विस्तरम् = विस्तरणं विस्तरः, तम्, 'वि' उपसर्गपूर्वक 'स्तृञ् आच्छादने' धातु से "ऋदोरप्" सूत्र से अप् प्रत्यय। शब्द के फैलाव को विस्तर कहा जाता है। शब्देतर फैलाव के अर्थ में पूर्वोक्त उपसर्ग एवं धातु से "प्रथने वावशब्दे" सूत्र से 'घञ्' प्रत्यय करने पर 'विस्तार' शब्द निष्पन्न होता है। नीता ='नी' धातु से 'क्त' एवं 'टाप्' प्रत्यय। जिगीषया = जेतुमिच्छा, 'जी' धातु से 'सन्' प्रत्यय करने पर तथा "अप्रत्ययात्" सूत्र से 'अ' प्रत्यय करने पर 'जिगीषा' बनता है। 'जिगीषया' शब्द तृतीया के एकवचन में है। अष्टादशन्+तल्+टाप्, द्वितीया एकवचन।

कोश – "विस्तारो विग्रहो व्यासः, स च शब्दस्य विस्तरः" इत्यमरः। "दीपोऽस्त्रियामन्तरीपं यदन्तर्वारिणस्तटम्"इत्यमरः।

अलङ्कार – इस पद्य में'त्रयीव' में उपमालङ्कार है तथा 'अष्टादशताम् अगाहत' इस कथन से उत्प्रेक्षा अलङ्कार घटित होता है। मल्लिनाथ ने यहाँ उत्प्रेक्षा एवम् उपमा अलङ्कारों की संसृष्टि मानी है।

दिगीशवृन्दांशविभूतिरीशिता दिशां स कामप्रसभावरोधिनीम् ।

बभार शास्त्राणि दृशं द्वयाधिकां निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम्।। 6।।

अन्वय – दिगीशवृन्दांशविभूतिः दिशामीशिता स कामप्रसभावरोधिनीं निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकां द्वयाधिकां शास्त्राणि दृशं बभार।

शब्दार्थ – दिगीशवृन्दांशविभूतिः = दिशाओं के स्वामियों के समूह के अंश से उत्पन्न। दिशामीशिता = दिशाओं का पालक। सः = वह नल। कामप्रसभावरोधिनीं = कामदेव अथवा इच्छा को हठात्रोकने वाली। निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम् = अपने तीन नेत्रों के आविर्भाव को अथवा महादेव के अवतार को सूचित करने वाली। द्वयाधिकाम् = दो नेत्रों से अधिक। शास्त्राणि = शास्त्रों को दृशम् = नेत्र को। बभार = धारण किया।

हिन्दी में अनुवाद – दिशाओं के स्वामियों (इन्द्रादि दिक्पालों) के समूह के अंश से उत्पन्न दिशाओं के शासक उस राजा नल ने काम अर्थात् भोग–लिप्सा आदि इच्छाओं को अथवा कामदेव को हठात् रोकने वाले अपने तीन नेत्रों के आविर्भाव को अथवा महादेव के अवतार को सूचित करने वाले दो से अधिक शास्त्ररूपी (तीसरे) नेत्र को धारण किया।

हिन्दी–व्याख्या – आशय यह है कि दिक्पालों के समूह से राजा की उत्पत्ति हुआ करती है, जैसाकि मनु का कथन है कि –

"इन्द्राग्निर्यमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।

चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः।।"

इन्द्रादि दिक्पाल एक–एक दिशाओं के स्वामी हैं, किन्तु राजा नल सभी दिशाओं के स्वामी हैं। शास्त्रवेत्ता होने के कारण नल के दो नेत्रों के अतिरिक्त शास्त्र उनका तीसरा नेत्र थाऔर इसी शास्त्रदृष्टि से नल स्वेच्छाचारिता को हठात् रोके रहता था। इस पद्य में कवि ने एक पौराणिक आख्यान की ओर संकेत किया है। प्राचीन समय में राक्षस तारकासुर के अत्याचार से देवगण बहुत भयभीत थे। उसके आतङ्क से मुक्ति भगवान् शिव दिला सकते थे, क्योंकि शिवजी के पुत्र स्वामिकार्तिकेय द्वारा ही उसका वध हो सकता था। भगवान् शंकर समाधि में थे। उनकी समाधि भंग करने के लिए कामदेव ने सम्मोहन बाण का प्रयोग किया, जिससे शिवजी क्रोधित होकर इधर–उधर देखने लगे और कामदेव को देखकर अपने तीसरे नेत्र से उसे भस्म कर दिया।

संस्कृत–व्याख्या – अर्थ पद्येऽस्मिन् नलस्य देवांशत्वं शास्त्रानुकूलमार्गगामित्वं प्रतिपादयन् कविः कथयतियत् –**दिगीशवृन्दांशविभूतीति**। दिगीशवृन्दांशविभूतिः = इन्द्रादिक्पालमात्रोद्भवः। दिशामीशिता = प्राच्यादिदशदिशां ईश्वरः स्वामी वा। सः = नलः। कामप्रसभावरोधिनीं = स्वेच्छाचारस्य कामदेवस्य वा बलादवरोधकारिणीम्। निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम् = स्वत्रिनयनाविर्भावसूचिकां स्वमहादेवावतारत्वज्ञापिकां वा। द्वयाधिकाम् = नेत्रद्वयादधिकां तृतीयामिति भावः। शास्त्राणि = वेदादिशास्त्राणि। दृशं = दृष्टिम्। बभार = धारयामास।

समास – दिगीशवृन्दांशविभूतिः = दिशाम् ईशाः (षष्ठी तत्पुरुष), तेषां वृन्दं (षष्ठी तत्पुरुष), दिगीशवृन्दस्य अंशः (षष्ठी तत्पुरुष), तैः विभूतिः उद्भवः यस्य सः (व्यधिकरण बहुव्रीहि)। निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम् = त्रीणि नेत्राणि यस्य सः त्रिनेत्रः (बहुव्रीहि), अवतरणमवतारः, अवतरस्य भावः अवतरत्वम् (उत्तरपद), निजं च तत् त्रिनेत्रावतरत्वम् (कर्मधारय),निजत्रिनेत्रावतरत्वस्य बोधिका, ताम् (षष्ठी तत्पुरुष), द्वयाधिकाम् = द्वौ अवयवौ यस्य तत् द्वयम्,द्वयात् अधिका, ताम् (पञ्चमी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी –ईशिता = ईष्ट इति, 'ईशऐश्वर्ये' धातु से "ण्वुलतृचौ" सूत्र से 'तृच्' प्रत्यय।शास्त्राणि = शिष्यते एभिरिति, 'शासु अनुशिष्टौ' धातु से "सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्" सूत्र से 'ष्ट्रन्' प्रत्यय। अवरोधिनीम् = अव उपसर्गपूर्वक 'रुधिर् आवरणे' धातु से 'णिनि' प्रत्यय, स्त्रीत्व विवक्षा में 'ङीप्' प्रत्यय।बोधिका = बोधयतीति बोधिका,

'बुध्' धातु से 'ण्वुल्' प्रत्यय, "अजाद्यतष्टाप्" से टाप्। बभार = डुभृञ् धारणपोषणयोः धातु से लिट् लकार, प्र.पु. एकवचन।

कोश–"स्त्रियां तु संहतिर्वन्दं निकुरम्बं कदम्बकम्" इत्यमरः।

अलङ्कार –इस पद्य में शास्त्रों को नल के तृतीय नेत्र के रूप में सम्भावित किया गया है, अतः उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। यदि शास्त्र में दृक् का आरोप माना जाय तो उत्प्रेक्षा न होकर रूपक अलङ्कार होगा।

प्रसङ्ग–राजा नल के प्रभाव कावर्णनकरता हुआ कवि कहता है–

पदैश्चतुर्भिः सुकृते स्थिरीकृते कृतेऽमुना के न तपः प्रपेदिरे ।।

भुवं यदेकाङ्घ्रिकनिष्ठया स्पृशन्दधावधर्मोऽपि कृशस्तपस्विताम्।। 7।।

अन्वय– अमुना कृते सुकृते चतुर्भिः पदैः स्थिरीकृते के तपः न प्रपेदिरे ? यत् अधर्मोऽपि कृशः (सन्) एकाङ्घ्रिकनिष्ठया भुवं स्पृशन् तपस्वितां दधौ ।

शब्दार्थ – अमुना = इनके(नल के) द्वारा । कृते = सत्ययुग में। सुकृते = धर्म के । चतुर्भिः = तप, दान, यज्ञ, ज्ञान रूप चार। पदैः = चरणों से। स्थिरीकृते = स्थिर किये जाने पर। के = किसने । तपः = तपश्चर्या को । न = नहीं। प्रपेदिरे = ग्रहण किया । यतः = क्योंकि । अधर्मोऽपि = अधर्म ने भी । कृशः = दुर्बल (होकर)। एकाङ्घ्रिकनिष्ठया = एक पैर की कनिष्ठिका अंगुलि से । भुवं = पृथ्वी को । स्पृशन् = स्पर्श करते हुए । तपस्वितां = तापसवेष को । दधौ = धारण किया।

हिन्दी में अनुवाद –इनके अर्थात् राजा नल के द्वारा सत्ययुग में धर्म को चार चरणों (तप, दान, यज्ञ एवं ज्ञान) से स्थिर किये जाने पर किसने तपश्चर्या को नहीं प्राप्त की अर्थात् सभी ने तपश्चर्या को प्राप्त किया। क्योंकि अधर्म ने भी दुर्बल होकर एक पैर की कनिष्ठिका अंगुली से पृथ्वी का स्पर्श करते हुए तपस्विता को धारण किया।

हिन्दी–व्याख्या – तात्पर्य यह है कि सत्ययुग में उत्पन्नराजा नल ने पुण्य को चारों चरणों से स्थिर कर दिया था। अतः उस समय सभी लोग तपश्चर्या में संलग्न थे। अधर्म समाप्तप्राय था । अतः केवल एक चरण (अंश) से पृथ्वी पर निवास करता हुआ अतिशय दुर्बल होने पर वह अधर्म तपस्वी बन कर मानों स्वयं भी तपस्या करने लगा।यहाँ कवि ने यह स्पष्ट किया है कि सत्ययुग में धर्म की स्थिति चारों चरणों से रहने पर भी अधर्म की स्थिति एक चरण में रहती है इसलिये वह अधर्म अत्यन्त क्षीण रहता है। लोक में भी यदि कोई तपस्वी एक चरण से या एक चरण की कनिष्ठिका अंगुली से पृथ्वी का स्पर्श करता हुआ तपश्चर्या करता है तो वह पोषण के अभाव में अत्यन्त दुर्बल हो जाता है।

संस्कृत–व्याख्या –पद्येऽस्मिन् नलस्य प्रभावं वर्णयन् कविः कथयतीति–**पदैश्चतुर्भिः**। अमुना = नलेन । ते = सत्ययुगे। सुकृते = धर्मे। चतुर्भिः = चतुः संख्याकैः। पदैः = चरणैः। स्थिरीकृते = स्थापिते। के तपः न प्रपेदिरे =

के जनाः तपश्चर्यां न प्रापुःअनुष्ठितवन्तः वा, किमुत अन्येषामित्यपिशब्दार्थः । यत् = यस्मात्कारणात्। अधर्मोऽपि = धर्मविरोध्यपि। कृशः = दुर्बलः सन्। एकाङ्घ्रिकनिष्ठया = एकचरणकनिष्ठिकया। भुवं स्पृशन् = पृथ्वीतलं आमृशन्। तपस्वितां दधौ =तापसत्वं दीनत्वं चधारयामास।

समास –अधर्मः = न धर्मः(नञ् तत्पुरुष), यहाँनञ् विरोध के अर्थ में है। नञ् के छः अर्थ होते हैं– "तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।

अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः।।"

एकाङ्घ्रिकनिष्ठया = एकः अङ्घ्रिः यस्यां सा एकाङ्घ्रिका (बहुव्रीहि), एकाङ्घ्रिका चासौ निष्ठा एकाङ्घ्रिकनिष्ठा (कर्मधारय), तया। सुकृते = शोभनं कृतं सुकृतम्(प्रादि), तस्मिन्।

व्याकरणात्मक टिप्पणी –स्थिरीकृते = अस्थिरः स्थिरः कृतः इति स्थिरीकृतः, तस्मिन्, स्थिर+च्वि+कृ+ङि। प्रपेदिरे ='प्र' उपसर्गपूर्वक 'पद्' धातु से लिट् लकार, प्र. पु. बहुवचन। स्पृशन् = स्पृश्+लट्+शतृ। तपस्विताम् = तपः अस्यास्तीति तपस्वी, 'तपस्' शब्द से "तपः सहस्राभ्यां विनीनी" सूत्र से'विनि' प्रत्यय, तपस्विनो भावः तपस्विता, ताम्, तपस्विन्+तल्+टाप्।

कोश– "युगपर्याप्तयोः कृतम्" इत्यमरः। "स्याद्धर्ममस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृषः" इत्यमरः। "पादः पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः। "तपस्वी शोचनीयः स्यात्"इति कोशकारः। "मुनिदीनौ तपस्विनौ"इति विश्वकोशः।

अलङ्कार – इस पद्य में 'कृते सुकृते'में यमक अलङ्कार है। 'अधर्मोऽपि तपस्वितां दधौ किमुत अन्यः' इस कथन से कैमुतिकन्यायेन अर्थापत्ति अलङ्कार है। 'अधर्म भी धार्मिक हो गया' ऐसा कथन करने पर विरोधाभास अलङ्कार की प्रतीति होती है।

विशेष–यहाँ तपस्वी पद के दो अर्थ हैं–शोचनीय, दीन–हीन पुरुष (तपस्वी शोचनीयः स्यात्)तथा दूसरा तपस्या करने वाला मुनि(मुनिदीनौ तपस्विनौ)। नल की स्थिति किस युग मेंथी, इस विषय में विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ ने इनकी स्थिति सत्ययुग में मानी है–

"अवश्यं भाविभावानां प्रतिकारो भवेद्यदि।

प्रतिकुर्युर्न किं नूनं नलरामयुधिष्ठिराः।।"

अर्थात् अवश्यम्भावी भावों का प्रतिकार यदि सम्भव होता, तो नल, राम और युधिष्ठिर भी प्रतिकार कर लेते। कुछ विद्वानों के अनुसार नल त्रेता युग में हुए।

3.3.2 नल की सैन्य–शक्ति एवम् उनके प्रताप का वर्णन (पद्य संख्या 08 –14 तक)

प्रसङ्ग–यहाँ से लेकर पन्द्रहवें पद्य तक श्रीहर्ष महाराज नल के प्रताप का वर्णन करते हैं –

यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रजः स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम।

तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ दधाति पङ्कीभवदङ्कतां विधौ ।। 8।।

अन्वय–अस्य यात्रासु बलोद्धतं स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम यद्रजः, तदेव गत्वा सुधाम्बुधौ पतितम्, पङ्कीभवद् विधौ अङ्कतां दधाति ।

शब्दार्थ – अस्य = इस राजा नल की । यात्रासु = दिग्विजय सम्बन्धी यात्राओं में। बलोद्धतं = सेना से उड़ी हुई। स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम = जाज्वल्यमान प्रतापाग्नि के धुएँ के समान सुन्दर । यद् रजः = जो धूलि । तदेव = वही । गत्वा = जाकर । सुधाम्बुधौ = अमृत समुद्र या क्षीर सागर में । पतितम् = गिरी अथवा गिरने के कारण। पङ्कीभवद् = कीचड़ होती हुई । विधौ = चन्द्रमा में । अङ्कताम् = कलङ्क। दधाति = धारण करती है।

हिन्दी में अनुवाद – इस राजा नल की विजय यात्राओं में सेना के चलने से उड़ी हुई जाज्वल्यमान प्रतापाग्नि के धुएँ के समान सुन्दर धूलि जाकर जो क्षीर सागर में गिरकर कीचड़ हो गयी वही धूलि चन्द्रमा में कलङ्क के रूप में विद्यमान है।

हिन्दी व्याख्या – भाव यह है कि जब राजा नल दिग्विजय के लिए सेना लेकर यात्रा करते हैं, तब इनकी सेना से जो धूल उड़ती है, वही क्षीर सागर में गिरकर कीचड़ बन जाती है। चूँकि चन्द्रमा की उत्पत्ति समुद्र से मानी गयी है, अतः वहाँ से उत्पन्न चन्द्रमा में कीचड़ लग जाने से वही कलङ्क रूप में प्रतीत होती है।

संस्कृत–व्याख्या –पद्येऽस्मिन् महाकविः नलस्य प्रतापवर्णनं करोति –**यदस्येति**। अस्य = नलस्य। यात्रासु = दिग्विजयप्रयाणेसु।बलोद्धतम् = सेनयोत्क्षिप्तम्। स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम = देदीप्यमानतेजोऽग्निधूमसौन्दर्यम्। यद् रजः = यद् धूलिः। तदेव गत्वा = तद्धूलिःयात्वा। सुधाम्बुधौ = अमृतजलनिधौ। पतितम् = निपतितम्। पङ्कीभवद् = कर्दमीभवद्। विधौ = चन्द्रमसि। अङ्कताम् = कलङ्कताम्। दधाति = धारयति ।

समास –बलोद्धतम् = बलैः उद्धतम् (तृतीया तत्पुरुष), स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम = स्फुरन् चासौ प्रतापः (कर्मधारय),स एव अनलः (कर्मधारय), तस्य धूमः (षष्ठी तत्पुरुष),तस्य मञ्जिमा एव मञ्जिमा यस्य (बहुव्रीहि),सुधाम्बुधौ = सुधाया अम्बुधिः, तस्मिन् (षष्ठी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – अम्बुधिः = अम्बु उपपदपूर्वक 'धा' धातु से "कर्मण्यधिकरणे च" सूत्र से 'कि' प्रत्यय। पङ्कीभवद् = अपङ्कं पङ्कं भवदीति पङ्कीभवद्, पङ्क+च्वि+ईत्व, भू+लट्+शतृ।

कोश– मञ्जु = "कान्तं मनोरमं रुच्यं मनोज्ञं मञ्जु मञ्जुलम्" इत्यमरः। रजः = "पांशुर्ना न द्वयोः रजः "इत्यमरः। अङ्क = "कलङ्काङ्कौ लाञ्छनं च चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्" इत्यमरः।

अलङ्कार–यहाँ उत्तरार्ध में रूपक एवं उपमा दोनों अलङ्कार हैं। धूलि समुद्र में पड़कर कीचड़ बनती हुई चन्द्रमा में कलङ्क को धारण कर रही है, अतः उत्प्रेक्षा है।

प्रसङ्ग – कवि कहता है कि नल ने युद्ध में शताधिक शत्रुओं को जीतकर उनकी प्रतापाग्नि को बुझा दिया था–

स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य सङ्गरे ।

निजस्य तेजश्शिखिनः परश्शताः वितेनुरङ्गारमिवायशः परे ।। 9 ।।

अन्वय–सङ्गरे परश्शताः परे स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य निजस्य तेजश्शिखिनः अङ्गारमिव अयशः वितेनुः ।

शब्दार्थ–सङ्गरे = युद्ध में । परश्शताः = सौ से अधिक। परे = शत्रुओं ने। स्फुरद्= चंचल या प्रकाशमान। धनुः = धनुष की। निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भ = टङ्कार वाले राजा नल के अत्यधिक बाणों की घनघोर। वृष्टिव्ययितस्य = वर्षा से बुझी हुई। निजस्य = अपने। तेजश्शिखिनः = तेज रूप अग्नि के । अङ्गारमिव = अङ्गार के सदृश। अयशः = अपयश को। वितेनुः = फैला दिया।

हिन्दी में अनुवाद –युद्ध में सौ से अधिक शत्रुओं ने चंचल या प्रकाशमान धनुष के टङ्कार वाले राजा नल के अत्यधिक बाणों की घनघोर वर्षा से बुझी हुई अपने तेजरूप अग्नि के अङ्गार के समान अपयश को फैला दिया ।

हिन्दी–व्याख्या –भाव यह है कि नल; युद्ध में प्रकाशमान धनुष का टङ्कार करते हुए मेघ के समान बाणों को बरसाते हैं। उस बाण की घनघोर बौछार से नल के शताधिक शत्रुओं की प्रतापाग्नि बुझ गयी और उनके कृष्णवर्ण वाले अङ्गार के समान अपयश फैल गये । काव्य में 'यश' का रङ्ग 'श्वेत'तथा 'अयश' कारङ्ग 'कृष्ण' माना गया है।

संस्कृत–व्याख्या –पद्येऽस्मिन् नलप्रतामवर्णनं कुर्वन् कविः कथयति–**स्फुरदिति।** सङ्गरे = सङ्ग्रामे। परश्शताः = शताधिकाः। परे = शत्रवः। स्फुरद् = प्रसरन्तौ। धनुर्निस्वनौ = चापमर्जिते। तद्घनस्य = नलरूपमेघस्य। आशुगानां = शराणाम्। प्रगल्भा = महतीं वृष्टिस्तया। व्ययितस्य = निर्वापितस्य। निजस्य =स्वस्य। तेजश्शिखिनः = प्रतापाग्नेः। अङ्गारमिव = निर्वापिताग्निसमूह इव। अयशः = अपयशः। वितेनुः =विस्तारयामासुः।

समास – परश्शताः = शतात् परे (पञ्चमी तत्पुरुष), स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भ–वृष्टिव्ययितस्य = धनुश्च निःस्वनश्च धनुर्निस्वनौ (द्वन्द्व), स्फुरन्तौ धनुर्निस्वनौ यस्य सः (बहुव्रीहि),स्फुरद्धनुर्निस्वनश्चासौ तद्घनः (कर्मधारय), तस्य आशुगा (षष्ठी तत्पुरुष), प्रगल्भा चासौ वृष्टिश्च (कर्मधारय), स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्घनाशुगानां प्रगल्भवृष्टिः (षष्ठी तत्पुरुष), तया व्ययितस्य। अयशः न यशः, तत् (नञ् तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी– सङ्गरे = 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'गृ' धातु से 'अप्' प्रत्यय। वितेनुः ='वि'उपसर्गपूर्वक 'तनु विस्तारे' धातु लिट् लकार प्र.पु. बहुवचन।आशुगः = 'आशु' उपपद रहते'गम्' धातु से 'ड' प्रत्यय। व्ययित शब्द में इतच् प्रत्यय है।

कोश– परे = "अभिघातिपराऽरातिप्रत्यर्थिपरिपन्थिनः" इत्यमरः।

अलङ्कार – इस पद्य में तेजश्शिखिनः रूपक अलङ्कार, वितेनुः इव में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। दोनों का अङ्गाङ्गिभाव होने सङ्करअलङ्कार है।

प्रसङ्ग – कवि; राजा नल के दिग्विजयी होकर लौटने रूप प्रताप का वर्णन करते हुए कह रहा है कि –

अनल्पदग्धारिपुरानलोज्जवलैर्निजप्रतापैर्वलयं ज्वलद्भुवः।

प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्टया रराज नीराजनया स राजघः।।10।।

अन्वय–राजघः अनल्पदग्धारिपुरानलोज्जवलैः निजप्रतापैः ज्वलद् भुवः वलयं प्रदक्षिणीकृत्य सः जयाय सृष्टया नीराजनया रराज।

शब्दार्थ–राजघः = शत्रुराजाओं को मारने वाले। अनल्पदग्धारिपुरानलोज्जवलैः = बहुत से जलाये गये शत्रु नगरों की अग्नि के समान प्रकाशमान। निजप्रतापैः = अपने प्रतापों से। ज्वलद् = देदीप्यमान । भुवः वलयं = भूमण्डल को । प्रदक्षिणीकृत्य = प्रदक्षिण करके । सः = वह राजा नल। जयाय = विजय के लिये। सृष्ट्या = निर्मित की गयी। नीराजनया = आरती से । रराज = सुशोभित हुए।

हिन्दी में अनुवाद –राजाओं को मारने वाले तथा बहुत से जलाये गये शत्रुनगरों की अग्नि के समान प्रकाशमान अपने प्रतापों से देदीप्यमान भूमण्डल की प्रदक्षिणा करके वह राजा नल विजय के लिए(विजयप्राप्ति के अनन्तर)की गयी आरती से सुशोभित हुए ।

हिन्दी–व्याख्या –भाव यह है कि राजा नल ने शत्रु महीपतियों के नगरों को अग्निसात् कर दिया। उन नगरों से जो अग्नि की ज्वाला उठ रही थी वही उसने अपने लिये मानो आरती का दीपक तैयार किया ।

संस्कृत–व्याख्या–पद्येऽस्मिन् नलस्य प्रतापः पृथ्वीतलव्यापकोऽभूदिति प्रतिपादयन् कवि कथयति–**अनल्पेति**।राजघः = राज्ञाम् हन्ता। सः = नलः। अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलैः = बहुभस्मीकृतारिपुराग्निदीप्यमानम्। निजप्रतापैः = स्वप्रभावैः। ज्वलद् = दीप्तियुक्तम्। भुवः = पृथिव्याः वलयं = मण्डलम्। प्रदक्षिणीकृत्य = प्रदक्षिणं विधाय।जयाय = जेतुम्। सृष्ट्या = निर्मितया। नीराजनया =आरार्तिकया। रराज = शुशुभे ।

समास –अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलैः = न अल्पानि अनल्पानि (नञ् तत्पुरुष), अरीणां पुराणि (षष्ठी तत्पुरुष), अनल्पानि दग्धानि अरिपुराणि यैः ते च अनलः तद्वत् उज्ज्वलैः(बहुव्रीहिगर्भित कर्मधारय एवं तृतीया तत्पुरुष), निजप्रतापैः = निजस्य प्रतापाः, तैः (षष्ठी तत्पुरुष),

व्याकरणात्मक टिप्पणी –राजघः = राजानं हन्तीति, राजन्+हन्+क । प्रदक्षिणीकृत्य = अप्रदक्षिणं प्रदक्षिणं कृत्वा इति प्रदक्षिणीकृत्य, प्रदक्षिण+च्वि+कृ+क्त्वा (ल्यप्) प्रदक्षिणीकृत्य।

कोश–प्रतापः = "स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोशदण्डज"मित्यमरः।उज्ज्वलः = "शृङ्गारे शुचिरुज्ज्वलः" इत्यमरः।

अलङ्कार–इस पद्य में 'राज' पद तीन बार आया हुआ है और ये सभी निरर्थक हैं, अतः यमक अलङ्कार है। 'प्रताप' एवं 'नीराजना'में कोई सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध दिखाया गया है, अतः अतिशयोक्तिअलङ्कार है।मानो राजा नल पृथ्वी की नीराजना करते हुए सुशोभित हुए, अतः सम्भावना के कारण उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

प्रसङ्ग–

दिग्विजय के पश्चात् राजा नल के अपने राज्य से अतिवृष्टि आदि ईतियों के अभाव को प्रतिपादित करते हुए कवि कहता है कि–

निवारितास्तेन महीतलेऽखिले निरीतिभावं गमितेऽतिवृष्टयः ।

न तत्यजुर्नूनमनन्यसंश्रयाः प्रतीपभूपालमृगीदृशां दृशः ।।11।।

अन्वय–तेन अखिले महीतले निरीतिभावं गमिते निवारिताः अतिवृष्टयः अनन्यसंश्रयाः प्रतीपभूपालमृगीदृशां दृशः नूनं न तत्यजुः ।

शब्दार्थ –तेन = उस राजा नल के द्वारा । अखिलेमहीतले = सम्पूर्ण पृथ्वी पर । निरीतिभावं = ईतिभाव से रहित भाव को । गमिते= प्रापिते सति । निवारिताः = हटाई गई। अतिवृष्टयः = अत्यधिक वर्षा आदि ईतियाँ। अनन्यसंश्रयाः = अन्यत्र आश्रय न पाकर। प्रतीपभूपालमृगीदृशां = प्रतिपक्षी राजाओं की मृगी के समान नेत्रों वाली स्त्रियों के। दृशः = नेत्रों को। नूनं = मानो । न तत्यजुः = नहीं छोड़ती थीं।

हिन्दी में अनुवाद –उस राजा नल के द्वारा सम्पूर्ण पृथ्वीतल में ईतिभाव (विघ्नरूपता) को प्राप्त न करनेपर रोकी गयीं अतिवृष्टि आदि ईतियाँ अन्यत्र आश्रय न प्राप्त कर शत्रु राजाओं की मृगनयनी स्त्रियों के नेत्रों को मानो नहीं छोड़ती थीं।

हिन्दी–व्याख्या –राजा नल के राज्य में कहीं भी अतिवृष्टि आदि ईति नहीं होती थी, अतएव पृथ्वी पर कहीं भी आश्रय नहीं मिलने से उन्होंने शत्रुओं की रानियों के नेत्रों को अपना आश्रय बना लिया अर्थात् नल ने शत्रुओं को मार दिया, जिससे उनकी स्त्रियाँ निरन्तर रोती हुई आँसुओं की वर्षा करती रहती थीं। लोक में भी किसी के द्वारा निकाला गया कोई व्यक्ति उसके शत्रु के पास जाकर आश्रय पाता है तथा अतिवृष्टि रूप स्त्रियों के लिये मृगनयनियों की दृष्टिरूप स्त्रियों के पास आश्रय पाना उचित ही है।

संस्कृत–व्याख्या – अत्र नलराज्यस्य विघ्नराहित्यं वर्णयन् कविः प्राह –**निवारितेति**। तेन = राज्ञा नलेन। अखिले= निखिले । महीतले = पृथ्वीतले । निवारिताः = दूरीकृताः । निरीतिभावं = ईतिभावराहित्यम् । गमिते = प्रापितेसति। अतिवृष्टयः = अतिवृष्टिरिति नामिका ईतयः । अनन्यसंश्रयाः = न अन्य संश्रयाः इति पराश्रयरहिताः। प्रतीपभूपालमृगीदृशाम् =शत्रुनृपसुन्दरीणां कान्तानां वा। नूनम् = मन्ये। न = नैव। तत्यजुः = मुमुचुः।

समास –अखिले = न खिलम् अखिलम् (नञ् तत्पुरुष), तस्मिन्। महीतले = मह्यास्तलम्, तस्मिन् (षष्ठी तत्पुरुष), निरीतिभावम् = निर्गताः ईतयः यस्मिन् तत् (बहुव्रीहि), निरीतिनः भावः, तम् (षष्ठी तत्पुरुष)। अनन्यसंश्रयाः =

अन्यस्य संश्रयः अन्यसंश्रयः (षष्ठी तत्पुरुष), अविद्यमानः अन्यसंश्रयः यासां ताः (नञ् बहुव्रीहि)। प्रतीपभूपालमृगीदृशाम् = प्रतीपाः भूपालाः (कर्मधारय), प्रतीपभूपालानां मृगीदृशः (षष्ठी तत्पुरुष), तासाम्। मृगीणां दृश इव दृशो यासां ताः मृगीदृशः (बहुव्रीहि)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–निवारिताः =नि+वृ+णिच्+क्त+टाप्। गमिते = गम्+णिच्+क्त+ङि।

अलङ्कार – यहाँ कवि कहता है कि शत्रु की स्त्रियों के नेत्रों से जो रुदन हो रहा था, वहमानो राजा नल से पराभूत शत्रुओं की स्त्रियों के नेत्रों में अतिवृष्टि नाम की ईति जा बसी, ऐसा प्रतीत होता है, अतः यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। शत्रुराजाओं की पत्नियों के निरन्तर अश्रुपात से उनके निधन की सूचना प्राप्त होती है, अतः पर्यायोक्त अलङ्कार भी है – "पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद् वचः।" 'अतिवृष्टयः' में अतिशयोक्ति अलङ्कार है।

विशेष– राष्ट्र में दुर्भिक्ष आदि उपद्रवों की सूचना देने वाली को ईति कहा जाता है। ईतियाँ छ प्रकार की होती हैं–अतिवृष्टि, अनावृष्टि, चूहे, शलभ (टिड्डियाँ), तोते, अधिक निकटवर्ती राजा–

अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः।

अत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः।।

प्रसङ्ग –

युद्धभूमि में राजा नल के सैनिकनैपुण्य का वर्णन करते हुए कवि कहता है –

सितांशुवर्णैर्वयति स्म तद्गुणैर्महासिवेम्नः सहकृत्वरी बहुम् ।

दिगङ्गनाङ्गाभरणं रणाङ्गणे यशःपटं तद्भटचातुरीतुरी ।। 12 ।।

अन्वय–महासिवेम्नः सहकृत्वरी तद्भटचातुरी तुरी रणाङ्गणे सितांशुवर्णैः दिगङ्गनाङ्गावरणं बहुं यशःपटं वयति स्म।

शब्दार्थ –महासिवेम्नः = विशाल तलवार रूपी वेमा की। सहकृत्वरी = सहायता करने वाली । तद्भटचातुरी = उस नल के योद्धाओं की चतुरतारूपिणी। तुरी = वायदण्ड। रणाङ्गणे = युद्ध रूपी आंगन में । सितांशुवर्णैः = चन्द्रमा के समान वर्ण (स्वच्छ) वाले। तद्गुणैः = नल के गुणों से। दिगङ्गनाङ्गाभरणम् = दिशारूपी स्त्रियों के अङ्गों के आभूषणभूत । बहुम् = बड़े। यशःपटं = कीर्ति रूपी कपड़े को । वयतिस्म = बुना करती थी।

हिन्दी में अनुवाद – बड़ीतलवार रूपी वेमा की सहायता करने वाली उस नल के योद्धाओं की चतुरतारूपिणी तुरी (वायदण्ड) युद्ध रूपी आंगन में चन्द्रमा के समान स्वच्छ नल के गुणों से दिशारूपी स्त्रियों के अङ्गों के आभूषणभूत बड़े यशरूपी कपड़े को बुना करती थी।

हिन्दी–व्याख्या – आशय यह है कि जिस प्रकार वेमा और तुरी आदि से पट का निर्माण होता है, उसी प्रकार नल के सैनिकों की चतुरता से एवं तलवारों के प्रहार से युद्ध में शत्रु मरते थे, तो नल का यश दिग्–दिगन्त तक फैलता था। यहाँ कवि कल्पना करता है कि वह कीर्ति ही मानो दिशा रूपी नायिका का पट है। कवि ने यहाँ अपने न्यायदर्शननैपुण्य का परिचय दिया है। राजा नल को जुलाहा बताकर उसके द्वारा राजा नल के श्वेतवर्ण वाले गुणतन्तुओं से श्वेतकीर्तिरूपीवस्त्र को बनवाया है, जो कि सारी दिशाओं में व्याप्त था। भाव यह है कि दिग्दिगन्त में नल की कीर्तिपताका फहरा रही थी।

संस्कृत–व्याख्या –महासिवेम्नः = विशालखड्गवायदण्डस्य। सहकृत्वरी = सहकारिणी। तद्भटचातुरी = नलसैनिकचातुर्यं। तुरी = वायदण्डःवयनोपकरणविशेषाः। रणाङ्गणे = समराङ्गणे। सितांशुवर्णैः=चन्द्रगुणैः। तद्गुणैः =नलस्य शौर्यागुणैरेव तन्तुभिः।दिगङ्गनाङ्गाभरणम् = दिग्वनिताभूषणम्। बहुम् = विस्तृतं प्रचुरं वा। यशःपटं = कीर्तिदुकूलम्। वयतिस्म = अवयत्।

समास –तद्भटचातुरी = तस्य भटाः, तेषां (षष्ठी तत्पुरुष), तस्य चातुरी (षष्ठी तत्पुरुष)। महासिवेम्नः = महान् चासौ असिः, स एव वेमा (कर्मधारय), तस्य। रणाङ्गणे = रणस्य अङ्गणं, तस्मिन् (षष्ठी तत्पुरुष)। सितांशुवर्णैः = सिता अंशवः यस्य सः सितांशुः (बहुव्रीहि), सितांशोरिव वर्णो येषां ते, तैः(व्यधिकरण बहुव्रीहि)। तद्गुणैः = तस्य गुणाः, तैः(षष्ठी तत्पुरुष)। दिगङ्गनाङ्गाभरणम् = दिश एव अङ्गनाः (कर्मधारय), तासाम् अङ्गानि (षष्ठी तत्पुरुष), तेषाम् आभरणम्(षष्ठी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी –चातुरी = चतुर+ष्यञ्+ङीष्।सहकृत्वरी = सह+कृ+क्वनिप् ('सह' उपपदपूर्वक 'कृ' धातु से "सहे च" सूत्र से 'क्वनिप्' प्रत्यय, "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक", सूत्र से 'तुक्' एवं स्त्रीत्व विवक्षा में 'ङीप्')। वयति स्म = 'वेञ् तन्तुसन्ताने' धातु से 'स्म' के योग में "लट् स्मे"सूत्र से भूत के अर्थ में 'लट्' लकार।

कोश–"भटा योधाश्च योद्धारः"इत्यमरः। "पुंसि वेमा वायदण्डः" इत्यमरः। "अङ्गण चत्वाराऽजिरे" इत्यमरः।

अलङ्कार –इस पद्य में 'महासि' में 'वेमा' का 'भटचातुरी' में 'तुरी'का 'रण' में 'अङ्गण' का 'गुणों' में 'तन्तुओं' का, 'दिशाओं' में 'अङ्गना' का, 'यश' में 'पट' का आरोप होने से साङ्गरूपक अलङ्कार है।

प्रसङ्ग –

कवि राजा नल की तेजस्विता का वर्णन करते हुए कहता है–

प्रतीपभूपैरिव किं ततो भिया विरुद्धधर्मैरपि भेत्तृतोज्झिता ।

अमित्रजिन्मित्रजिदोजसा स यद् विचारदृक् चारुदृगप्यवर्तत।। 13।।

अन्वय– प्रतीपभूपैः इव विरुद्धधर्मैःअपि ततो भिया भेत्तृता उज्झिता किम् ? यत् स ओजसा अमित्रजिद् अपि मित्रजिद् चारदृग् अपि विचारदृग् अवर्तत ।

शब्दार्थ –प्रतीपभूपैः इव = विरोधी राजाओं के समान। विरुद्धधर्मैः अपि = विरोधी धर्मों ने भी । ततोभिया = उस राजा नल के भय से । भेतृता = भेद भाव को । उज्झिता छोड़ दिया। यत् = क्योंकि । स = नल। ओजसा = तेज से । अमित्रजिदपि = शत्रुओं को जीतने वाला होकर भी । मित्रजिद् = मित्रों को जीतने वाला । चारदृग = गुप्तचरों के द्वारा कार्यकलाप को देखने वाला होकर भी । विचारदृग् = विचार से देखने वाले अर्थात् विचार से कार्य करने वाले । अवर्तत =था।

हिन्दी अनुवाद –विरोधी राजाओं के समान विरोधी धर्मों ने भी उस राजा नल के भय से भेदकता को छोड़ दिया था क्या ? क्योंकि वह तेज से मित्रजित् (सूर्य को जीतने वाला) होते हुए भी अमित्रजित् (शत्रु को जीतने वाला) विचारदृक्अर्थात् विचारपूर्वक कार्य करने वाला होते हुए भी चारदृक् अर्थात् गुप्तचरों द्वारा देखने वाला था।

हिन्द–व्याख्या–भाव यह है कि राजा नल शत्रुओं का विजेता और तेजस्वी सूर्य का विजेता था। वह विचारदृक् अर्थात् चरों की अर्थात् दूतों की दृष्टि से रहित था, फिर भी चारदृक् अर्थात् दूतदृष्टि वाला था। यहाँ विरोधाभास है। इसके परिहार के लिए विचार द्वारा कार्य करने वाला था, यह कहा है।

संस्कृत–व्याख्या –प्रतीपभूपैः इव = प्रतिकूलभूपतिभिः इव। विरुद्धधर्मैः अपि =असमानाधिकरणधर्मैः अपि। ततः = तस्मात्, नलादित्यर्थः। भिया = भयेन। भेत्तृता = भेदज्ञापकत्वं भेदत्वं वा। उज्झिता किम् ? = परित्यक्ता किम् ? यत् = यस्मात् कारणात्। सः = नलः। ओजसा = तेजसा। अमित्रजिद् अपि = शत्रुजिदपि। मित्रजिद् = मित्रजेता, यः अमित्रजित्, स कथं मित्रजित्इत्यत्र विरोधः भवति, अत्र परिहारः कथ्यते– ओजसा = प्रतापेन। अमित्रजित् =शत्रुजेता। मित्रजित् = सूर्यजिदिति। इत्थंसः नलःविचारदृग् अपि = चारहीनदृष्टिरपि । चारदृग् =चारदृष्टिः,अत्रापि यः विचारदृक्, स कथं चारदृक् भवतीति विरोधः प्रतीयते, तत्परिहारस्तु–विचारदृग् = विवेकपश्यन्नपि। चारदृक् = गुप्तचरदृष्टिः। अवर्तत = आसीत् ।

समास – प्रतीपभूपैः = प्रतीपाश्च ते भूपाः, तैः (कर्मधारय)। विरुद्धधर्मैः = विरुद्धाश्च ते धर्माः, तैः (कर्मधारय)। चारदृक् = चारा एव दृशो यस्य सः (बहुव्रीहि)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी –भेतृता = भिनत्तीति भेत्ता, भिद् धातु से तृच् प्रत्यय, भावे तल्, स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् । अमित्रजित् = अमित्रान् जयतीति अमित्रजित्, अमित्र+भी+ क्विप्। विचारदृक् = विचारं पश्यतीति, विचारदृक्, विचारदृश्+क्विप्।

कोश– "भीतिर्भीः साध्वसं भयम्" इत्यमरः।

अलङ्कार – अमित्रजित्–मित्रजित्, विचारदृक्–चारदृक्; यहाँ विरोधाभास अलङ्कार है । 'किं' शब्द सम्भावना को प्रकट करता है, अतः उत्प्रेक्षा है। 'प्रतीपभूपैरिव' में उपमा है।

प्रसङ्ग –

नल के प्रताप के आगे सूर्य–चन्द्र कावैयर्थ्य सूचित करते हुए कविकहता है–

तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा ।

तनोति भानोः परिवेषकैतवात्तदा विधिः कुण्डलनां विधोरपि ।।14 ।।

अन्वय–तदोजसः तद्यशसः स्थितौ इमौ वृथा इति विधिः यदा यदा चित्ते कुरुते, तदा परिवेषकैतवाद् भानोः विधोः अपि कुण्डलनां तनोति ।

शब्दार्थ– तदोजसः = उसके प्रताप के । तद्यशसः = उसके यश के । स्थितौ = स्थित रहने पर । इमौ = ये दोनों (सूर्य और चन्द्र)। वृथा = व्यर्थ है । इति = इस प्रकार।विधिः = ब्रह्मा । यदा यदा = जब जब । चित्ते = मन में । कुरुते = विचारते हैं। तदा = तब । परिवेषकैतवात् = परिधि के बहाने से। भानोः = सूर्य की । विधोः चन्द्र की। अपि = भी। कुण्डलनां = कुण्डलना (घेरा) । तनोति = बना देते हैं।

हिन्दी में अनुवाद –उस राजा नल के प्रताप और यश के रहने पर ये सूर्य और चन्द्र दोनों व्यर्थ हैं इस प्रकार ब्रह्मा जी जब–जब मन में विचार करते हैं, तब तब परिधि के बहाने से सूर्य और चन्द्र का कुण्डलना अर्थात् घेरा बना देते हैं।

हिन्दी–व्याख्या– जिस प्रकार लोक में कोई लिखित सामग्रीगलत लिखी रहती है या उसे अनावश्यक समझा जाता है तो उसे घेरे में कर दिया जाता है, उसी प्रकारनल के तेज के समक्ष सूर्य और चन्द्रमा का होना अनावश्यक प्रतीत होता है। इसलिए ब्रह्मा ने उसे घेर दिया है।

संस्कृत–व्याख्या –पद्येऽस्मिन् सूर्यचन्द्रमसोः वैयर्थ्यं सूचयन् कविः कथयति –**तदोजस इति**।तस्य = नलस्य, ओजसः = प्रतापस्य, यशसः = कीर्तेः च, स्थितौ = उपस्थितौ, इमौ = सूर्यचन्द्रौ, वृथा = निरर्थकौ निष्फलौ वा, इति = एवं, विधिः = ब्रह्मा, यदा यदा = यस्मिन् यस्मिन्समये, चित्ते = मनसि, कुरुते = विचारयति विमृशतीत्यर्थः, तदा = तस्मिन् तस्मिन् काले, परिवेषकैतवात् = परिधिव्यजात्, भानोः = सूर्यस्य, विधोरपि = चन्द्रमसोऽपि, च, कुण्डलनां = वर्तुलरेखांवैयर्थ्यसूचकं रेखामण्डलं वा, तनोति = विधत्ते विस्तारयतीत्यर्थः।

समास –तदोजसः =तस्य ओजः, तस्य (षष्ठी तत्पुरुष)। तद्यशसः = तस्य यशः, तस्य (षष्ठी तत्पुरुष)। परिवेषकैतवात् = परिवेषस्य कैतवं, तस्मात् (षष्ठी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–स्थितौ = 'स्था' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय, सप्तमी एकवचन। तनोति = 'तनु विस्तारे' धातु, लट्लकार, प्र.पु. एकवचन।

कोश–"परिवेषस्तु परिधिरुपसूर्यकमण्डले" इत्यमरः।

अलङ्कार –इस पद्य में प्रसिद्ध उपमान सूर्य एवं चन्द्रमा के निष्फलत्व का कथन किया गया है, अतः प्रतीप अलङ्कार है। साहित्यदर्पणकार नेप्रतीप अलङ्कार का लक्षण किया है–

प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम्।

निष्फलत्वाभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते।।

'परिवेष' का निषेध करके 'कुण्डलना' की स्थापना करने के कारण अपह्नुति अलङ्कार है ।निरपेक्षभाव से दो अलङ्कारों की स्थिति होने के कारण संसृष्टि अलङ्कार है।

3.4 सारांश – वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण के बाद महाराज नल के कथा की पवित्रता का वर्णन किया गया। तत्पश्चात्नल के चतुर्दश विद्याओं में नैपुण्य की चर्चा करते हुए इन्द्रादिदिक्पालों से नल की उत्पत्ति के विषय में प्रकाश डाला गया है।नल के प्रताप के विषय में विस्तार से वर्णन किया गया है।

3.5 बोध प्रश्नः

लघु उत्तरीय प्रश्न–

1. नैषधीयचरितम् के मङ्गलाचरण पर प्रकाश डालिए।
2. नल की कथा की पवित्रता का वर्णन कीजिए।
3. नल के वैदुष्य का विवेचन कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न–

1. पद्यों की ससन्दर्भ संस्कृत–व्याख्या लिखिए–

   दिगीशवृन्दांशविभूतिरीशिता दिशां स कामप्रसभावरोधिनीम् ।
   बभार शास्त्राणि दृशं द्वयाधिकां निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम्।।

   प्रतीपभूपैरिव किं ततो भिया विरुद्धधर्मैरपि भेत्तृतोज्झिता ।

   अमित्रजिन्मित्रजिदोजसा स यद् विचारदृक् चारुदृगप्यवर्तत।।
2. महाराज नल के प्रताप का वर्णन कीजिए।

3.6 उपयोगी पाठ्य–पुस्तकें –

1. नैषधीयचरितम् प्रथम सर्ग, व्याख्याकार शेषराज शर्मा रेग्मी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।
2. नैषधीयचरितम् प्रथम सर्ग, व्याख्याकार श्री बद्रीनाथ मालवीय, रामनारायण लाल विजय कुमार, इलाहाबाद।
3. नैषधीयचरितम् प्रथम सर्ग, व्याख्याकार शोभा भारद्वाज, युवराज पब्लिकेशन आगरा।

संस्कृत–पद्यकाव्य

खण्ड – 1 नैषधीयचरितम्, प्रथम सर्ग (पद्य 01 से 98 पद्यपर्यन्त)

इकाई –4 पद्यों का अनुवाद एवं संस्कृत–व्याख्या (पद्य संख्या 15– 41 तक)

इकाई की रूपरेखा

4.0 प्रस्तावना

4.1 उद्देश्य

4.2 इकाई–परिचय

4.3 पद्यों की व्याख्या

4.3.1 पद्य संख्या 15–16 तक (नल की दानवीरता का वर्णन)

4.3.2 पद्य संख्या 17–26 तक (नल की विद्वज्जनसङ्गति एवं उनके यौवनोद्गम का वर्णन)

4.3.3 पद्य संख्या 27–32 तक (नल के शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन)

4.3.4 पद्य संख्या 33–41 तक (दमयन्ती का नल के प्रति अनुराग–वर्णन)

4.4 सारांश

4.5 बोध प्रश्न

4.6 कुछ उपयोगी पाठ्य–पुस्तकें

4.0 प्रस्तावना – इस महाकाव्य का फल है नल–दमयन्ती की प्रणयकथा की उनके विवाह के रूप में परिणति। अतः महाकवि श्रीहर्ष फलप्राप्ति हेतु क्रमशः पृष्ठभूमि तैयार करते हैं। इसी क्रम में नल के गुणवर्णन के अन्तर्गत पद्य 15 एवं 16वें पद्य में नल की दानवीरता का वर्णन किया गया है। 17वें पद्य से लेकर26वें पद्य तक नल की विद्वज्जनसङ्गति एवं उनके यौवनोद्गम की चर्चा है। 27वें पद्य से लेकर 32वें पद्य तक नल के शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। सौन्दर्य–वर्णन के ठीक पश्चात् कवि 33वें पद्य से लेकर 41वें पद्य तक दमयन्ती का नल के प्रति अनुराग उत्पन्न होने का विस्तृत वर्णन करता है। इन्हीं विषयों का हम अध्ययन करने जा रहे हैं।

4.1 उद्देश्य– इस इकाई के अध्ययन से शिक्षार्थी :

(क) राजा नल की दानवीरता के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

(ख) श्रीहर्ष की काव्यशैली से अवगत हो सकेंगे।

(ग) महाराज नल के यौवन के विषय में जान सकेंगे।

(घ) राजा नल के प्रति स्त्रियों के भाव से अवगत हो सकेंगे।

(ङ) राजा नल के प्रति दमयन्ती के अनुराग के से परिचित हो सकेंगे।

4.2 इकाई – परिचय –परास्नातक संस्कृत (MAST) कार्यक्रम के अन्तर्गत 'संस्कृत–पद्यकाव्य' नामक प्रश्न पत्र तृतीय सेमेस्टर (MAST–112N) में निर्धारित किया गया है। इस प्रश्न पत्र में कुल तेरह इकाईयाँ हैं, जिसकी चतुर्थ इकाई 'महाकवि श्रीहर्षकृत 'नैषधीयचरितम्' के प्रथम सर्ग के पद्य 15 से पद्य 41 तक अनुवाद एवं व्याख्या से सम्बन्धित है।

4.3 पद्यों का अनुवाद एवं व्याख्या–

4.3.1 पद्य संख्या 15–16 तक (नल की दानवीरता का वर्णन)

प्रसङ्ग–अग्रिम दो पद्यों में कवि राजा नल की दानवीरता (दानशौण्डत्व)का वर्णन करते हुए कहता है–

अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम् ।

मृषा न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः प्रणीय दारिद्र्यदरिद्रतां नृपः । । 15 ।।

अन्वय–'अयं दरिद्रो भविता' इति अर्थिजनस्य ललाटे जाग्रतीं वैधसीं लिपिं अल्पितकल्पपादपः नृपः दारिद्र्यदरिद्रतां प्रणीय मृषा न चक्रे ।

शब्दार्थ – अयं = यह । दरिद्रो = दरिद्र । भविता = होगा । इति = इस प्रकार । अर्थिजनस्य = याचकों के। ललाटे = मस्तक पर । जाग्रतीं = लिखी गयी। वैधसीं ब्रह्मा की । लिपि = लिपि को । अल्पितकल्पपादपः = कल्पवृक्ष को भी तुच्छ या न्यून बना देने वाले। नृपः = राजा नल ने। दारिद्र्य = दरिद्रता की । दरिद्रतां = दरिद्रता अर्थात् अभाव । प्रणीय = निर्माण कर । मृषा = व्यर्थ या मिथ्या। न चक्रे = नहीं किया।

हिन्दी में अनुवाद–'यह दरिद्र होगा' इस प्रकार याचकों के मस्तक पर लिखी गयी ब्रह्मा की लिपि को; कल्प वृक्ष को भी तुच्छ करने वाले राजा नल ने दरिद्रता का अभाव करके अर्थात् धन के अभाव का अभाव करके व्यर्थ नहीं किया।

हिन्दी–व्याख्या – भाव यह है कि राजा नल याचकों को उनकी अभिलाषा से भी अधिक दिया, अतएव उनके राज्य में कोई भी दरिद्र न था ।परिणाम यह हुआ कि उनकी दरिद्रता को भी दरिद्रता आ गयीअर्थात् याचकों के मस्तक पर 'यह दरिद्र होगा' इसको मिथ्या नहीं किया, क्योंकि अब उनके पास धन का अभाव नहीं, अपितु धनाभाव का अभाव हो गया। अतः महाराज नलके राज्य में कोई भी व्यक्ति धन से दरिद्र नहीं था।

संस्कृत–व्याख्या–पद्येऽस्मिन् नलस्य दानशौण्डत्वं वर्णयन् कविः प्राह –**अयमिति**। अयं = एषः जनः। दरिद्रः = निर्धनः। भविता = भविष्यति। इति = इत्थम्। अर्थिजनस्य = याचकजनस्य । ललाटे = मस्तके। जाग्रतीं = दीप्यमानाम्।वैधसीं = ब्रह्मणः । लिपिम् = वर्णावलीम् । अल्पितः = न्यूनीकृतकल्पवृक्षः। नृपः = राजा, नल इत्यर्थः । दारिद्र्य– दरिद्रतां = धनाभावाभावम्। प्रणीय = निर्माय। मृषा = मिथ्या। न चक्रे =न कृतवान् अर्थात्ब्रह्मणः लिपिं सत्यमेव विहितवान्।

समास – अल्पितकल्पपादपः = कल्पपूरकः पादपः कल्पपादपः(मध्यमपदलोपी),अल्पितः कल्पपादपःयेन सः (बहुव्रीहि)। अर्थिजनस्य = अर्थीचासौ जनः, तस्य(कर्मधारय)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–अल्पं कृतवानिति अल्पितः, अल्प शब्द से 'णिच्' एवं 'क्त' प्रत्यय। अर्थी =अर्थः अस्यास्तीति अर्थी, अर्थ शब्द से 'इनि' प्रत्यय।जाग्रतीम् = जागर्तीति जाग्रती, ताम्, 'जागृ' धातुलट्लकार 'शतृ' प्रत्यय, स्त्रीत्व विवक्षा में 'ङीप्' प्रत्यय, द्वितीया एकवचन। वैधसीम् = वेधसइयमिति वैधसी, ताम्, वेधस् शब्द से अण् प्रत्यय, स्त्रीत्व विवक्षा में 'ङीप्' प्रत्यय। प्रणीय ='प्र' उपसर्गपूर्वक 'नी' धातु से 'क्तवा' (ल्यप्) प्रत्ययचक्रे = 'कृ' धातु लिट् लकार प्रथम पुरुष, एकवचन।

कोश – याचक = "वनीयको याचनको मार्गणो याचकाऽर्थिनौ" इत्यमरः।

अलङ्कार – इस पद्य में उपमान 'कल्पपादप' से उपमेय 'नल' का आधिक्य कथन किया गया है, अतः व्यतिरेक अलङ्कार है।

प्रसङ्ग–

अन्य प्रकार से राजा नल केवदान्यत्व (दयालुता) का वर्णन करते हुए कवि पुनःकहता है–

विभज्य मेरुर्न यदर्थिसात्कृतो न सिन्धुरुत्सर्गजलव्ययैर्मरुः ।

अमानि तत्तेन निजायशोयुगं द्विफालबद्धाश्चिकुराः शिरःस्थितम् ।। 16 ।।

अन्वय–यत् मेरुः विभज्य अर्थिसात् न कृतः, सिन्धुः उत्सर्गजलव्ययैः मरुः न (कृतः) तत् तेन द्विफालबद्धाः चिकुराः शिरःस्थितं निजायशोयुगं अमानि ।

शब्दार्थ –यत् = जो । मेरुः = सुमेरु पर्वत को । विभज्य = खण्ड–खण्ड करके। अर्थिसात् = याचकों को। न = नहीं। कृतः = दिया । सिन्धु = समुद्र को । उत्सर्गजलव्ययैः = दान के संकल्प जल में व्यय द्वारा । मरुः मरु स्थल । न = नहीं। कृतः = बना दिया। तत् = इसलिए। तेन = उसने। द्विफालबद्धा = दो भागों में विभक्त । चिकुराः = केश। शिरस्थितं = सिर पर स्थित । निज = अपने । अयशोयुगं = दो अपयश । अमानि = समझा ।

हिन्दी में अनुवाद –जो सुमेरु पर्वत को खण्ड–खण्ड करके याचकों को दान में नहीं दे दिया और दान के सङ्कल्प से जल को व्यय करसमुद्र को मरुस्थल नहीं बनाया। इसलिए उन्होंने अर्थात् महाराज नल ने दो भागों में बाँधे गये केशों कोअपने सिर पर स्थित अपने दो अपयश समझे ।

हिन्दी–व्याख्या – राजा नल के मस्तक पर जो दो भागों में केश बँधे हुए थे, वे काले होने के कारण दो अपयश प्रतीत होते थे। एक तो यह कि उन्होंने याचकों में सुमेरु को टुकड़े–टुकड़ेकर नहीं बाँटा और दूसरा यह कि दान के लिए संकल्प जल से समुद्र को मरुभूमि में परिवर्तित नहीं किया।

संस्कृत–व्याख्या – यत् = यस्मात् कारणात्।मेरुः = सुमेरु इत्याख्यपर्वतः । विभज्य = खण्डशः कृत्वा। अर्थिसात् =याचकाधीनः। न कृतः = न विहितः । सिन्धुः = समुद्रः। उत्सर्गजलव्ययैः = दानाम्बुप्रक्षेपैः। मरुः = निर्जलदेशः। न कृतः = न विहितः । तत् = तस्मात् कारणद्वयात्। तेन = नलेन। द्विफालबद्धाः =द्विभागसंयमिताः। चिकुराः = केशाः। शिरःस्थितम् = मस्तकस्थम्। निज = स्वीयम्। अयशोयुगम् = अपकीर्तिद्वयम्। अमानि = अमन्यत्।

समास – उत्सर्गजलव्ययैः = उत्सर्गस्य जलम् (षष्ठी तत्पुरुष), तस्याः व्ययाः, तैः (षष्ठी तत्पुरुष)।शिरःस्थितम् = शिरसि स्थितम् (सप्तमी तत्पुरुष)। निजायशोयुगम् = न यशसी (नञ्), अयशसोः युगम् (षष्ठी तत्पुरुष), निजं च तत् अयशोयुगम् (कर्मधारय)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी –विभज्य = 'वि'उपसर्गपूर्वक 'भज्' धातु से 'क्त्वा' (ल्यप्)प्रत्यय।अमानि = 'मन्' धातु, लुङ्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

कोश – मेरुः = "मेरुः सुमेरुर्हेमाद्री रत्नसानुः सुरालयः" इत्यमरः। सिन्धुः = "उदन्वानुदधिः सिन्धुः सरस्वान् सागरोऽर्णवः" इत्यमरः।चिकुराः = "केशः चिकुरः कुन्तलो बालः कचः केशः शिरोरुहः" इत्यमरः।

अलङ्कार –इस पद्य में 'मेरुः' और 'मरुः' इन दोनों अप्रस्तुत पदों की कर्मता से सम्बन्ध होने के कारण तुल्ययोगिता अलङ्कार है। आचार्य विश्वनाथ ने इसका लक्षण निम्न रूप में किया है –

पदार्थानां प्रस्तुतानमन्येषां वा यदा भवेत्।

एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता।। (साहित्यदर्पण 10/66)

केशों में कृष्णता की समता के कारण अयश का रूपण करने में रूपकालङ्कार है। अतः दोनों अलङ्कारों की परस्पर निरपेक्ष स्थिति से संसृष्टि है।

4.3.2 पद्यसंख्या 17–26 तक (नल की विद्वज्जनसङ्गति एवं उनके यौवनोद्गम का वर्णन)

प्रसङ्ग–

राजा नल के हृदय में विद्वानों के प्रति सम्मान का भाव बताते हुए कवि कहता है कि–

अजस्रमभ्यासमुपेयुषा समं मुदैव देवः कविना बुधेन च ।

दधौ पटीयान् समयं नयन्नयं दिनेश्वरश्रीरुदयं दिने दिने ।। 17 ।।

अन्वय–दिनेश्वरश्रीः पटीयान् अयं देवः अजस्रम् अभ्यासमुपेयुषा कविना बुधेन च समं मुदैव समयं नयन् दिने दिने उदयं दधौ।

शब्दार्थ –दिनेश्वरश्रीः = सूर्य के समान कान्तिमान् । पटीयान् = समर्थतर । अयं = यह। देवः = राजा नल। अजस्रम् = सतत। अभ्यासमुपेयुषा = अभ्यास करने वाले। कविना बुधेन च समं = कवि और विद्वानों के साथ, सूर्य पक्ष में शुक्र एवं बुध ग्रहों के साथ । मुदा एव = प्रसन्नता से ही । समयम् = समय को। नयन् = व्यतीत करता हुआ। दिनेदिने = प्रतिदिन । उदयम् = समृद्धि को । दधौ = धारण कर रहा था।

हिन्दी में अनुवाद –(शुक्र एवं बुधग्रहों से युक्त) सूर्य के समान कान्तिमान् और बुद्धिमान् यह राजा नल निरन्तर अभ्यास करने वाले कवि और विद्वानों के साथ प्रसन्नता से ही समय को व्यतीत करता हुआ प्रतिदिन समृद्धि को प्राप्त कर रहा था ।

हिन्दी–व्याख्या –भाव यह है कि जिस प्रकार निरन्तर समीप में स्थित शुक्र एवं बुध नामक ग्रहों के साथ समय को व्यतीत करते हुए तेजस्वी सूर्य उदय को प्राप्त होते हैं, इसी प्रकार राजा नल भी विद्वान् व कवियों के सामीप्य से अभ्युदय को प्राप्त हो रहेथे।

संस्कृत–व्याख्या–दिनेश्वरश्रीः = सूर्यस्यइव तेजस्वी, पटीयान् = समर्थतरः, अयं देवः = राजा नलइत्यर्थः, अजस्रम् = सततम्, अभ्यासम् = सान्निध्यम्, उपेयुषा = प्राप्तवता, कविना = काव्यशास्त्रपण्डितेन, बुधेन च = विदुषा च, समम् = सह, मुदा एव = आनन्देनैव, समयम् = कालम् । नयन् = यापयन्, दिने दिने = प्रतिदिनम्, उदयम् = समृद्धिम् उन्नतिं वा। दधौ = धारयामास।

समास – दिनेश्वरश्रीः = दिनस्य ईश्वरः (षष्ठी तत्पुरुष), तस्य इव श्रीः यस्य सः (व्यधिकरण बहुव्रीहि)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–पटीयान् = अतिशयेन पटुः इति पटीयान्, पटु से ईयसुन् प्रत्यय। उपेयुषा = उपेयायेति उपेयिवान्, तेन, उप उपसर्गपूर्वक इण् धातु से भूतकाल में लिट्लकार क्वसु प्रत्यय एवं इट् का आगम। नयन = नी धातु से शतृ प्रत्यय।दधौ = धा धातु लिट् लकार, प्रथम पुरुष एकवचन।

कोश –अभ्यास = "सदेशाभ्याससविधसमर्यासवेशवत्" इत्यमरः। "अभ्यासे व्यसनेऽन्तिके" इति विश्वः। कविः = "उशना भार्गवः कविः" इत्यमरः। "सख्यावान्पण्डितः कविः" इत्यमरः। बुधः = "सन्सुधी कोविदो बुधः"। "रोहिणेयो बुधः सौम्य" इति चाऽमरः। देव = "देवः सूर्ये यमे राज्ञि" इति विश्वः।

अलङ्कार – प्रकृत पद्य में 'कविना' तथा 'बुधेन' दोनों के दो दो अर्थ निकलते हैं,।'कवि' शब्द कविता करने वाले का तथा दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य का तथा'बुध' शब्द व्याकरण आदि शास्त्रों के ज्ञाता का तथा ग्रह विशेष का वाचक है। अतः यहाँ श्लेष अलङ्कार है। 'दिनेश्वरश्रीः' में उपमा अलङ्कार है।

प्रसङ्ग –

कवि सामुद्रिकशास्त्रोक्त लक्षण का वर्णन करते हुए कहता है –

अधोविधानात् कमलप्रवालयोः शिरस्सु दानादखिलक्षमाभुजाम्।।

पुरेदमूर्ध्वं भवतीति वेधसा पदं किमस्याङ्कितमूर्ध्वरेखया ।। 18 ।।

अन्वय – कमलप्रवालयोः अधोविधानात् अखिलक्षमाभुजां शिरस्सु दानात् 'इदं ऊर्ध्वंपुरा भवति' इति वेधसा अस्य पदं ऊर्ध्वरेखया अङ्कितं किम् ?

शब्दार्थ–कमलप्रवालयोः = कमल और पल्लव को। अधोविधानात् = नीचा दिखाने से अर्थात् तिरस्कृत करने से । अखिलक्षमाभुजां = समस्त राजाओं के । शिरस्सु सिर पर । दानात् = रखे जाने से । इदं = यह । ऊर्ध्व = ऊँचा। पुरा भवति =होगा । इति = ऐसा सोचकर । वेधसा = ब्रह्मा ने । अस्य = इस नल। पदं = चरण को । ऊर्ध्वरेखया = ऊर्ध्वगामिनी रेखा से । अङ्कित = अङ्कित किया । किम् = क्या ।

हिन्दी में अनुवाद – कमल और पल्लव (कोपल) को नीचा करने से, समस्त राजाओं के सिर पर रखे जाने से 'यह ऊँचा होगा' ऐसा विचारकर ब्रह्मा ने इस नल के चरण को ऊर्ध्वगामिनी रेखा से अङ्कित किया क्या ?

हिन्दी – व्याख्या – भाव यह है कि राजा नल ने अपने चरण की सुन्दरता से कमल और पल्लव को भी तिरस्कृत कर दिया तथा शत्रुभूत राजाओं के मस्तक पर अपना चरण रखा अर्थात् उन्हें जीत लिया। राजा नल के पैर में एक ऊर्ध्वरेखा थी जो शुभ लक्षण है अतः कवि यहाँ कल्पना करता है कि ब्रह्मा ने मानो यह सोचकर कि आगे भविष्य में भी नल सर्वश्रेष्ठ रहे, सर्वोत्कृष्टता की सूचक ऊर्ध्वरेखा को पहले ही उसके चरण पर अङ्कित कर दिया, क्योंकि सामुद्रिकशास्त्र में कहा गया है कि " ऊर्ध्वरेखाङ्कितपदः सर्वोकर्षं भजेत् पुमान्" अर्थात् ऊर्ध्वरेखा से युक्त पैर वाला मानव महामानव हुआ करता है।

संस्कृत – व्याख्या – पद्येऽस्मिन् राज्ञः नलस्य सामुद्रिकलक्षणत्वं वर्णयन् कविः प्राह –**अधोविधानेति।** कमलप्रवालयोः = पद्मपल्लवयोः, अधोविधानात् = तिरस्करणात्, अखिलक्षमाभुजां = सर्वेषां द्विषतां प्रतिकूलवर्तिनां राज्ञां (शत्राणाम्), शिरस्सु = मूर्धसु, दानात् = स्थापनात्, धानादिति पाठान्तरेऽपि स एवाऽर्थः, पुरा = प्राचीन समये, इदं = पदं, ऊर्ध्वं = उपरिवर्ति, नलस्य सर्वेषां उपरि, पुरा भवति = भविष्यति, इति = हेतोः, वेधसा = ब्रह्मणा, अस्य = नलस्य, पदं = चरणं, ऊर्ध्वरेखया= उच्चरेखया, अंकितं किं = चिह्नितं किम् ?

समास – कमलप्रवालयोः = कमलञ्च प्रवालश्च, तयोः (द्वन्द्व), अखिलक्षमाभुजाम् = अखिलश्च क्षमाभुजः, तेषाम् (कर्मधारय), ऊर्ध्वरेखया = ऊर्ध्वा चासौ रेखा, तया (कर्मधारय)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – क्षमां भुनक्तीति क्षमाभुक्, क्षमा+भुज्+क्विप् । भवति = भू धातु भविष्यत् काल के अर्थ में है। 'पुरा' शब्द के योग में लट्लकार का प्रयोग "यावत्पुरानिपातयोर्लट्" सूत्र से हुआ है।

कोश– क्षमा = "गौरिला कुम्भिनी क्षमा"इत्यमरः।

अलङ्कार – सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार जिसके चरण में ऊर्ध्वरेखाहोती है, वह सर्वोत्कृष्ट होता है–"ऊर्ध्वरेखाङ्कितपदः सर्वोकर्षं भजेत्पुमान्।" महाराज नल का चरण शुभ लक्षणों से युक्त है, ऐसी सम्भावना होने के कारण यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

प्रसङ्ग –

नल की वयःसन्धि (यौवनागम) को सूचित करतेहुए कवि कहता है–

जगज्जयं तेन च कोशमक्षयं प्रणीतवान्शैशवशेषवानयम् ।

सखा रतीशस्य ऋतुर्यथा वनं वपुस्तथालिङ्गदथास्य यौवनम् ।। 19 ।।

अन्वय – शैशवशेषवान् अयं जगज्जयं तेन च अक्षयं कोशं प्रणीतवान्। अथ यथा रतीशस्य सखा ऋतुः वनं यौवनं अस्य वपुः आलिंङ्गत् ।

शब्दार्थ – शैशवशेषवान् = कुछ बाल्यावस्था शेष रहने पर अर्थात् सोलह वर्ष पूर्ण होने के पूर्व की अवस्था। अयं = इस नल ने । जगज्जयं = संसार की विजय । तेन = उसके अर्थात् विजय के द्वारा । च = और। अक्षयं कोशं = अक्षय कोष को । प्रणीतवान् =बनाया। अथ = इसके पश्चात् । यथा = जिस प्रकार । रतीशस्य = काम देव का । सखा = मित्र । ऋतु = वसन्त ऋतु । वनं = वन को। तथा = उसी प्रकार । यौवन युवावस्था ने। अस्य = इसके । वपुः = शरीर को । आलिङ्गत् = आलिङ्गन किया।

हिन्दी में अनुवाद – बाल्यावस्था समाप्तप्राय है जिसकी ऐसे इस नल ने संसार को जीतकर अर्थात् शत्रुरहित होकर अक्षय कोष को संचित किया । तदनन्तर जैसे कामदेव का मित्र वसन्त वन को प्राप्त करता है उसी प्रकार युवावस्था ने इसके शरीर का आलिंगन (अर्थात् उसके शरीर में युवावस्था का उदय हुआ)।

हिन्दी–व्याख्या – भाव यह है कि बाल्यावस्था पूर्ण होते–होते ही नल ने संसार पर विजय प्राप्त करके राज्य को शत्रु रहित बना लिया तथा विजय के कारण राज्य कोष को भी भरपूर कर लिया। उसके पश्चात् कामदेव रूप नल के वसन्त रूपी शरीर ने वन रूपी युवावस्था को प्राप्त कियाअर्थात् युवावस्था आरम्भ होते ही उसके शरीर का सौन्दर्य वृद्धि को प्राप्त हो गया ।

संस्कृत–व्याख्या – पद्येऽस्मिन् नलस्य वयसन्धिं यौवनागमं वा क्रमेण वर्णयन् कविः प्राह –**जगज्जयमिति**। शैशवशेषवान् = बाल्यावस्थावसानप्राय एव षोडशवर्षदेशीयः। अयं = पूर्वोक्तः नलः। जगज्जयम् = संसारविजयम्। प्रणीतवान् = कृतवान्। तेन च =जगज्जयेन च। अक्षयं कोशम् = क्षयरहितं कोशं कृतवानिति भावः। अथ = तदनन्तरम्। यथा = येन प्रकारेण। रतीशस्य सखा = मदनस्य सुहृद्, कामदेवस्य मित्रमिति भावः। ऋतुः = वसन्तर्तुः। वनं = काननम्। आलिङ्गत् = आलिङ्गनम् अकरोत्, तथैव, यौवनम् = तारुण्यम्। अस्य वपुः = नलस्य शरीरम्। आलिङ्गत् = आलिङ्गितवान्,। यौवनं तारुण्यं वा नलस्य शरीरे आश्रयं चकारेत्यर्थः।

समास–जगज्जयम् = जगतां जयः, ताम् (षष्ठी तत्पुरुष)। अक्षयम् = अविद्यमानः क्षयः यस्य, तम् (नञ् बहुव्रीहि)। रतीशस्य = रतेः ईशः, तस्य (षष्ठी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – शैशवशेषवान् = शैशवशेषोऽस्ति अस्य इति, शैशवशेष + मतुप्। यौवनम् = यूनः भावः यौवनम्, 'युवन्' शब्द से "हायनाऽन्तयुवादिभ्योऽण्" सूत्र से 'अण्' प्रत्यय।आलिङ्गत् = आङ् उपसर्गपूर्वक लिङ्ग धातु लङ्लकार प्रथम पुरुष एकवचन। प्रणीतवान् = 'प्र'उपसर्गपूर्वक'नी'धातु से 'क्तवतु' प्रत्यय।

अलङ्कार – इस पद्य में उपमा अलङ्कार है।

विशेष – नल को दमयन्ती की प्राप्ति नैषधमहाकाव्य का फल है,अत एव नलसौन्दर्य के वर्णन का प्रसङ्ग प्रारम्भ किया गया है।

प्रसङ्ग–

नल के शारीरिक शोभा का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं–

अधारि पद्मेषु तदङ्घ्रिणा घृणा, क्व तच्छयच्छायलवोऽपि पल्लवे ।

तदास्यदास्येऽपि गतोऽधिकारितां न शारदः पार्विकशर्वरीश्वरः ।। 20 ।।

अन्वय – तदङ्घ्रिणा पद्मेषु घृणा अधारि, पल्लवे तच्छयच्छायलवोऽपि क्व ? शारदः पार्विकशर्वरीश्वरः तदास्यदास्येऽपि अधिकारितां न गतः ।

शब्दार्थ – तदङ्घ्रिणा = उसके चरण ने। पद्मेषु = कमलों में। घृणा = घृणा। अधारि = धारण की। पल्लवे = नवीन किसलय में । तच्छयच्छाय = उसके हाथ की कान्ति का । लवोऽपि = लेशमात्र भी । क्व = कहाँ ? शारदः = शरद्ऋतु से सम्बन्धित । पार्विक पूर्णिमा का । शर्वरीश्वरः = चन्द्रमा । तदास्यदास्येऽपि = उसके मुख के दासत्व का भी। अधिकारितां = अधिकारी । न = नहीं। गतः = हुआ।

हिन्दी में अनुवाद–उस नल के चरण ने कमलों में घृणा धारण की। नवीन किसलय में उसके हाथ की कान्ति का लेशमात्र भी कहाँ ?अर्थात् नहीं था। शरत्कालिक पूर्णिमा का चन्द्रमा उसके मुख के दासत्व का भी अधिकारी नहीं हुआ।

हिन्दी–व्याख्या – तात्पर्य यह है कि नल ने कमल को अपने सुन्दर चरण पर रेखा रूप में स्थित जानकर उनसे घृणा की या कमल को अपने ही आश्रित जानकर उन पर दया दृष्टि रखी। नल ने अपने चरण सौन्दर्य से पद्म को भी सौन्दर्यहीन सिद्ध कर दिया। नवीन किसलय में उसके रक्त वर्ण वाले हाथ की कान्ति का लेशमात्र भी नहीं था, अर्थात् जो नवीन किसलय;हाथ से साम्य रखता है, वह भी राजा नल के हाथ के सौन्दर्य के समक्ष अल्पतमांश होने के कारण हीन था। शरद्ऋतु की पूर्णिमा का चन्द्रमा भी नल के मुख की समता नहीं रखता, क्योंकि चन्द्रमा

शरद्ऋतु एवं पूर्णिमा के योग से रमणीय हुआ है, लेकिन नल का मुख विना किसी योग के हमेशा के लिए रमणीय है। चन्द्रमा को सोलह कलाओं से युक्त है, लेकिन नल तो चौंसठ कलाओं से युक्त है। अतः उस हीन चन्द्रमा की श्रेष्ठ नल के मुख से समानता कैसे हो सकती है। समानता तो दूर; चन्द्रमा नल के दासत्व के योग्य भी नहीं है, क्योंकि रमणीय नायक के लिए रमणीय दास का होना ही उचित है ।

संस्कृत – व्याख्या – अथ नलशरीरवर्णनमुपक्रमते – **अधारीति**। तदङ्घ्रिणा = तस्य नलस्य चरणेन, पद्मेषु = कमलेषु, घृणा = जुगुप्सा, अधारि = धृता, नलपादापेक्षया पद्मानां निकृष्टत्वादिति भावः। पल्लवे = किसलये, तच्छयच्छायलवोऽपि = नलपाणिकान्तिलेशोऽपि, क्वः = कुतः अर्थात् नास्ति, नलपाणितः किसलयानां हीनत्वादिति भावः। शारदः = शरत्कालिकः, पार्विकशर्वरीश्वरः = षोडशकलोपेतश्चन्द्रः, तदास्यदास्ये = नलमुखस्यभृत्येऽपि अधिकारिताम्= योग्यताम्, न गतः = न प्राप्तः, पूर्णकलश्चन्द्रोऽपि नलमुखतः हीनत्वादिति भावः।

समास – तदङ्घ्रिणा = तस्य अङ्घ्रिः, तेन (षष्ठी तत्पुरुष), तच्छयच्छायम् = तस्य छयः, तच्छयः (षष्ठी तत्पुरुष), तस्य छाया तच्छयच्छायम् (षष्ठी तत्पुरुष), पार्विकशर्वरीश्वरः = पार्विकश्चासौ शर्वरीश्वरः (कर्मधारय), तदास्यदास्ये = तस्य आस्यम् (षष्ठी तत्पुरुष), तदास्यस्य दास्यम्, तस्मिन् (षष्ठी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – अधारि = धृ+णिच्+लुङ्+कर्मणि, प्रथम पुरुष एकवचन। शारदः = शरदि भवः, 'शरद्' शब्द से "सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्" सूत्र से 'अण्' प्रत्यय। दास्यम् = दासस्य भावः, दास्यम्ष्यञ् प्रत्यय। पार्विकः = पर्वणि भवः पार्विकः, 'पर्वन्' शब्द से "कालाट्ठञ्" सूत्र से 'ठञ्' प्रत्यय। अधिकारिताम् = अधिकरोतीति तच्छीलः अधिकारी, अधि+कृ+णिनि, अधिकारिन्, अधिकारिणो भावः अधिकारिता, ताम्, अधिकारिन्+तल्+टाप् प्रत्यय।

कोश –अङ्घ्रि = "पादः पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः। शयः = "पञ्चशाखः शयः पाणिः" इत्यमरः। छाया = "छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः"इत्यमरः। घृणा ="घृणा जुगुप्साकृपयोः" इत्यमरः।

अलङ्कार – यहाँ "अधारि पद्मेषु तदङ्घ्रिणा घृणा" इस पद में अतिशयोक्ति अलङ्कार हैक्योंकि नल के अङ्घ्रि आदि का पद्म आदि में घृणा का सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध का कथन किया गया है तथा नल के चरण, हाथ एवं मुख को उनके प्रसिद्ध उपमान कमल, पल्लव एवं चन्द्र से उत्कृष्ट बताया गया है, अतः व्यतिरेक अलङ्कार है।

प्रसङ्ग–

अब प्रकारान्तर से सामुद्रिकलक्षणत्व को बताता हुआ कवि कहता है–

किमस्य रोम्णाङ्कपटेन कोटिभिर्विधिर्न रेखाभिरजीगणद् गुणान्।

न रोमकूपौघमिषाज्जगत्कृताकृताश्च किं दूषणशून्यबिन्दवः ।। 21।।

अन्वय – विधिः रोम्णां कपटेन कोटिभिः रेखाभिः गुणान् किं न अजीगणत् ? किं च जगत्कृता रोमकूपौधमिषात् दूषणशून्यविन्दवः न कृताः ?

शब्दार्थ – विधिः = ब्रह्मा ने । अस्य = नल के । रोम्णां = रोमों को । कपटेन = बहाने से। कोटिभिः = करोड़ों। रेखाभिः = रेखाओं द्वारा । गुणान् = गुणों को। को। किं = क्या। न नहीं। अजीगणत् = गिना । किं जगत्कृता = सृष्टिकर्ता ने। रोमकूपौघमिषाद् = रोमकूप के समूह के बहाने से। दूषणशून्यबिन्दवः = दोषाभावात्मक शून्य बिन्दुओं को। किं न कृताः = क्या नहीं बनाया।

हिन्दी में अनुवाद – क्या ब्रह्मा ने नल के रोमों के बहाने से करोड़ों रेखाओं द्वारा (नल के) गुणों को नहीं गिना अर्थात् अवश्य ही गिना । क्या सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने रोमकूपों के बहाने से (इसके) दोषाभावात्मक शून्य बिन्दुओं को नहीं बनाया अर्थात् अवश्य ही बनाया।

हिन्दी–व्याख्या – कवि कल्पना करता है कि नल के शरीर में जो रोम हैं मानो वह रोम नहीं अपितु नल के गुण हैं। तथा जो नलकूल हैं वह उसके दोषाभाव को सूचित कर रहे हैं। भाव यह है कि राजा नल में बहुसंख्यक गुण थे, लेकिन दोष कोई भी न था।

संस्कृत–व्याख्या – पद्येऽस्मिन् कविः प्रकारान्तरेण सामुद्रिकलक्षणत्वं कथयति यत् –**किमस्येति।** विधिः = विधाता, अस्य = नलस्य, रोम्णां = लोम्नां, कपटेन = छलेन, कोटिभिः = बहुसंख्याभिः, रेखाभिः = लेखाभिः,किं न अजीगणत् = किं न अगणयत् अर्थात् अवश्यमेव अगणयत् । किं च जगत्कृता = सृष्टिकर्ता विधाता, रोमकूपौघमिषाद् = रोमकूपानां समूहस्य छलेन, दूषणशून्यबिन्दवः = दोषाणां अभावस्य सूचकाः बिन्दवः वर्तुलरेखाः, न कृताः = न विहिताः, अपितु विहिता एवेत्यर्थः। आशयोऽयमस्ति यत् अस्मिन्नले गुणा एव सन्ति, न दोषाः।

समास – रोमकूपौघमिषाद् = रोम्णां कूपाः (षष्ठी तत्पुरुष), तेषामौघः (षष्ठी तत्पुरुष), तस्य मिषम्, तस्मात् (षष्ठी तत्पुरुष)। दूषणशून्यबिन्दवः = दूषणानां शून्यानि(षष्ठी तत्पुरुष), तत्सूचकाः बिन्दवः (मध्यमपदलोपी)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – जगत्कृता = जगत् करोतीति जगत्कृत्, तेन, जगत्+कृ+क्विप्+टा।अजीगणत्= गण् धातु, लुङ् लकार प्रथम पुरुष एकवचन।

अलङ्कार –यहाँ कवि ने रोम को बिन्दु के समान गोल होने की सम्भावना बतायी है, अत एव उत्प्रेक्षालङ्कार है। 'कपट'एवं 'मिष' शब्द के कारण अपह्नुति भी है।

प्रसङ्ग–

नल के भुजदण्ड एवं वक्षस्थल केदीर्घत्व एवं पीनत्व का वर्णन करते हुए कविकहता है–

अमुष्य दोर्भ्यामरिदुर्गलुण्ठने ध्रुवं गृहीतार्गलदीर्घपीनता ।

उरःश्रिया तत्र च गोपुरस्फुरत्कपाटदुर्धर्षतिरः प्रसारिता ।। 22 ।।

अन्वय – अमुष्य दोर्भ्याम् अरिदुर्गलुण्ठने अर्गलदीर्घपीनता तत्र उरःश्रिया च तत्र गोपुरस्फुरत्कपाटदुर्धर्षतिरः प्रसारिता ग्रहीता (इति) ध्रुवम्।

शब्दार्थ – अमुष्य – इस नल की । दोर्भ्याम् = भुजाओं ने । अरिदुर्गलुण्ठने = शत्रु के दुर्गों को लूटने में। अर्गलदीर्घपीनता = अर्गला (किवाड़ को बन्द करने के लिए अन्दर की ओर लगाया जाने वाला लकड़ी का मोटा दण्डया लकड़ी के डण्डे वाली सिटकनी) की लम्बाई और मोटाई को । उरः श्रिया = वक्षस्थल की शोभा से । तत्र = वहाँ (शत्रुओं के)। गोपुर = नगरद्वार पर । स्फुरत्कपाट = प्रकाशित होते हुए किवाड़ की । दुर्धर्षतिरः = कठोरता को । प्रसारिता = फैलाव को । ग्रहीता = प्राप्त कर लिया। ध्रुवम् = निश्चित रूप में।

हिन्दी में अनुवाद – इस नल की भुजाओं ने शत्रुओं के किलों के लूटने में अर्गला की लम्बाई और मोटाई को प्राप्त कर लिया और वक्षस्थल की शोभा ने वहाँ के नगरद्वार पर प्रकाशित होते हुए किवाड़ की दुर्जेयता एवं विशालता को निश्चय ही प्राप्त कर लिया ।

हिन्दी–व्याख्या – भाव यह है कि नल की भुजायें अर्गला के समान लम्बी एवं मोटी थीं तथा वक्ष किवाड़ के समान चौड़ा और कठोर था । अतः राजा नल दीर्घबाहु एवं विशालवक्ष वाले थे।

संस्कृत–व्याख्या – पद्येऽस्मिन् राज्ञः नलस्यआजानुबाहुत्वं व्यूढोरस्कत्वञ्च वर्णयन्नाह–**अमुष्येति**।अमुष्य = नलस्य। दोर्भ्याम् = बाहुभ्याम्। अरिदुर्गलुण्ठने =शत्रुदुर्गभञ्जने। अर्गलदीर्घपीनतां = कपाटार्गलस्य आयतपीवरत्वम्। उरःश्रिया = वक्षलक्ष्म्या। तत्र = तस्मिन्नेव शत्रुदुर्गलुण्ठनकाले।गोपुरस्फुरत्कपाटदुर्धर्षतिरःप्रसारिता= नगरद्वारप्रकाशमानकपाटाधृष्यता तिर्यक्प्रसरणशीलता च।ग्रहीता = अवलम्बिता इति, ध्रुवम् = निश्चयमेव।

समास – अरिदुर्गलुण्ठने = अरीणां दुर्गाणि (षष्ठी तत्पुरुष), तेषां लुण्ठनम्, तस्मिन् (षष्ठी तत्पुरुष)। अर्गलदीर्घपीनता = दीर्घं च तत् पीनम् (कर्मधारय), तस्य भावः, अर्गलस्य दीर्घपीनता (षष्ठी तत्पुरुष)। उरःश्रिया = उरसः श्री, तया (षष्ठी तत्पुरुष)। गोपुरस्फुरत्कपाटदुर्धर्षतिरःप्रसारिता = स्फुरच्च तत् कपाटं (कर्मधारय), गोपुरे स्फुरत्कपाटम् (सप्तमी तत्पुरुष), तिरः प्रसरतीति तच्छीलं तिरःप्रसारि(कर्मधारय), तस्य भावः, गोपुरस्फुरत्कपाटस्य दुर्धर्षतिरःप्रसारिता(षष्ठी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – दुर्ग = 'दुर्' उपसर्गपूर्वक 'गम्' धातु से "सुदुरोरधिकरणे" सूत्र से 'ड' प्रत्यय।लुण्ठने = 'लुठि स्तेये' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय, सप्तमी एकवचन। गृहीता = ग्रह+क्त+टाप्, 'ग्रह् प्रापणे' धातु से 'क्त' प्रत्यय तथा स्त्रीत्व विवक्षा में 'टाप्' प्रत्यय। दुर्धर्ष = 'दुर्' उपसर्गपूर्वक 'धृष्' धातु से 'खल्' प्रत्यय। प्रसारिता = प्रसारिन्+तल्+टाप्प्रत्यय।

कोश–दोः = "भुजबाहूप्रवेष्टो दोः" इत्यमरः। अर्गला–"तद्विष्कम्भोऽर्गलं न ना" इत्यमरः। गोपुरः= "पुरद्वारं तु गोपुरम्" इत्यमरः।

अलङ्कार – इस पद्य में'ध्रुवम्' यह उत्प्रेक्षा वाचक शब्द का प्रयोग हुआ है। अतः उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

प्रसङ्ग –

नल के मुख के सहज सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कवि कहता है–

स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुनःनिजांशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः।

अतद्द्वयीजित्वरसुन्दरान्तरे न तन्मुखस्य प्रतिमा चराचरे ।। 23 ।।

अन्वय– स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुनः निजांशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः तन्मुखस्य प्रतिमा अतद्द्वयीजित्वरसुन्दरान्तरे चराचरे न (आसीत्)।

शब्दार्थ – स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुनः = अपनी क्रीड़ा के लेशमात्र मुस्कुराहट से चन्द्रमा को तिरस्कृत करने वाले। निजांशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः = अपने अवयवभूत नेत्र से कमलकी शोभा कीभर्त्सना करने वाले। तन्मुखस्य = नलमुख के । प्रतिमा उपमानभूत। अतद्द्वयीजित्वरसुन्दरान्तरे = उन दोनों (कमल और चन्द्रमा) की शोभा को जीतने वाली दूसरी कोई दूसरी सुन्दर वस्तु । चराचरे = जगत् में। न = नहीं (थी)।

हिन्दी में अनुवाद – अपनी क्रीड़ा की लेशमात्र मुस्कान से चन्द्रमा को तिरस्कृत करने वाले तथा अपने अंशभूत नेत्र से कमल की शोभा की भर्त्सना करने वाले राजा नल के मुख का उपमान नहीं था, क्योंकि उन दोनों (मुख एवं नेत्र) की शोभा को जीतने वाली दूसरी कोई दूसरी सुन्दर वस्तु संसार में नहीं थी (जिससे नल के मुख की तुलना की जा सके)।

हिन्दी – व्याख्या – नल के मुख ने अपनी क्रीड़ापूर्वक मन्द मुस्कान से चन्द्रमा को जीत लिया तथा उस मुख के एक भाग ने कमल शोभा को जीत लिया, अतएव उस नल के मुख की उपमा संसार भर में कोई न थी, क्योंकि नल मुख के द्वारा जगत् में सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध उपमान चन्द्रमा और कमल पराजित हो चुके थे और दूसरी कोई सुन्दर वस्तु चन्द्रमा को एवं कमल को जीतने वाली संसार में थी ही नहीं, जो नल के मुख से अधिक सुन्दर होकर उपमान हो सके, अतएव नल का मुख अनुपमेय था ।

संस्कृत–व्याख्या–पद्येऽस्मिन्कविः राज्ञः नलस्य सहजसौन्दर्यवर्णनं कुर्वन्नाह–स्वकेलीति। स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुनः = आत्मक्रीडालवमन्दहास्यविजितविधोः, निजांशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः = स्वभागनेत्रभर्त्सितपद्मश्रियः,तन्मुखस्य = नलमुखस्य,प्रतिमा = सादृश्यं,अतद्द्वयीजित्वरसुन्दरान्तरे =चन्द्रपद्मजेतृरुचिरपदार्थरहिते, चराचरे = जडजङ्गममये जगति, न = नास्ति।

समास – **स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुनः** =स्वस्य केलिः (षष्ठी तत्पुरुष), तस्याः लेशः स्वकेलिलेशः (षष्ठी तत्पुरुष), स्वकेलिलेशः तत् स्मितम् (कर्मधारय), निर्जित इन्दुः येन तत् (बहुव्रीहि), स्वकेलिलेशस्मितेन निर्जितेन्दुः, तस्य (तृतीया तत्पुरुष), **निजांशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः** = निजश्चासौ अंशः (कर्मधारय), स चासौ दृक् (कर्मधारय),पद्मस्य सम्पत् (षष्ठी तत्पुरुष), तर्जिता पद्मसम्पत् येन (बहुव्रीहि), निजांशदृशा तर्जितपद्मसम्पत् तस्य (तृतीया तत्पुरुष)। **अतद्द्वयीजित्वरसुन्दरान्तरे**= द्वौ अवयवौ यस्याः सा द्वयी, तयोः द्वयोः तद्द्वयी (षष्ठी तत्पुरुष), अन्यत् सुन्दरं

सुन्दरान्तरम् (मयूरव्यंसकादि), तद् द्वय्याः जित्वरं तद्द्वयीजित्वरम् (षष्ठी तत्पुरुष), तादृशं सुन्दरान्तरम् (कर्मधारय), न विद्यते तद्वयीजित्वरसुन्दरान्तरं यत्र तत् (नञ् बहुव्रीहि)।**चराचरे** = चराश्च अचराश्च चराचरम्, तस्मिन् (द्वन्द्व)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – द्वयी = 'द्वि' शब्द से "संख्याया अवयवे तयप्" सूत्र से 'तयप्' होकर उसके स्थान में 'अयच्' आदेश, स्त्रीत्व विवक्षा में 'ङीष्' प्रत्यय। तर्जित = तृज्+णिच्+इत्+क्त। जित्वर ='जि'धातु से "इण्नशजिसर्तिभ्यः क्वरप्" सूत्र से'क्वरप्'प्रत्यय।

कोश–चराचर = "चराचरं स्यात् जगदि"ति विश्वः।

अलङ्कार – काव्यजगत् में मुखसौन्दर्य के दो ही उपमान प्रसिद्ध हैं– चन्द्रमा और कमल। यहाँ इन दोनों उपमानों से उपमेयभूत नल का मुख उत्कृष्ट बताया गया है, अतः व्यतिरेक अलङ्कार है । इसके अतिरिक्त चन्द्रमा एवं पद्म पर विजयसूचक विशेषणों के द्वारा नल के मुख का अनुपमेयत्व कथन किया गया है, अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार है –"हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते।"

प्रसङ्ग – इस पद्य में भी प्रकारान्तर से नल के मुख के सहज सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कवि कहता है–

सरोरुहं तस्य दृशैव तर्जितं जिताः स्मितेनेव विधोरपि श्रियः ।

कुतः परं भव्यमहो महीयसी तदाननस्योपमितौ दरिद्रता ।। 24 ।।

अन्वय – तस्य दृशैव सरोरुहं तर्जितम्, विधोः श्रियः अपि स्मितेनेव जिताः । परं भव्यं कुतः ? अहो तदाननस्योपमितौ महीयसी दरिद्रता ।

शब्दार्थ – तस्य = उसके । दृशैव = नेत्रों से ही,सरोरुहम् = कमल की। तर्जितम्= भर्त्सना की गयी । विधोः = चन्द्रमा की । श्रियः = शोभा। अपि = भी। स्मितेनैव मुस्कान से ही। जिताः = जीत ली गयी। परं = अन्य । भव्यं = सुन्दर वस्तु । कुतः कहाँ । अहो = आश्चर्य से । तदाननस्य = उसके मुख की। उपमितौ = उपमा की। महीयसी = बड़ी भारी । दरिद्रता = कमी है।

हिन्दी में अनुवाद – उस नल के नेत्रों से ही कमल की भर्त्सना की गयी। चन्द्रमा की शोभायें भी उसके मुख की मुस्कान से जीत ली गयी । अन्य सुन्दर वस्तु हैं कहाँ ? अर्थात् कमल और चन्द्रमा से बढ़कर अन्य सुन्दर वस्तु कहाँ से प्राप्त हो। आश्चर्य है कि नल के मुख के उपमान का अत्यन्त अभाव है।

हिन्दी–व्याख्या – भाव यह है कि नलमुख द्वारा चन्द्रमा और कमल के पराभूत होने पर उपमानभाव के कारण नलमुख का अन्य किसी से साम्य नहीं प्राप्त होता, क्योंकि इस जगत् में मुख की सुन्दरता के उपमान के रूप में कमल एवं चन्द्रमा ही प्रसिद्ध हैं।

संस्कृत–व्याख्या – पद्येऽस्मिन्'सर्वप्रकारेण नलमुखं निरुपमि'ति प्रतिपादयतीति–**सरोरुहमिति**।सरोरुहम् = पद्मम्। तस्य = नलस्य। दृशैव = नेत्रेणैव।तर्जितम्= भर्त्सितम्। विधोः = चन्द्रमसः। श्रियः अपि = शोभाअपि। स्मितेनेव = मन्दहास्येनैव जिताः = तिरस्कृताः। परम्= अन्यद्वस्तु। भव्यम् = शुभकारि वस्तु। कुतः = कुत्र (स्यात्) अर्थात् न कुत्राप्यस्ति । अहो = आश्चर्य। तदाननस्योपमितौ = नलमुखस्य उपमायाम्।महीयसी = अतिमहती। दरिद्रता = ज्ञानकार्पण्यं वचनसम्पत्तेरभावः वा अर्थात् नलस्य वदनं निरुपमासीदिति भावः।

समास – तदाननस्य = तस्य आननम्, तस्य (षष्ठी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – सरोरुहम् = सरसि रोहतीति,'सरस्' उपपदपूर्वक 'रुह्' धातु से "इगुपज्ञाप्रीकिरः कः" सूत्र से 'क' प्रत्यय, प्रथमा एकवचन।महीयसी = 'महत्'शब्द से 'ईयसुन्' प्रत्यय, स्त्रीत्व विवक्षा में'ङीप्' प्रत्यय।

कोश–"विधुः सुधांशुः शुभ्राशुः" इत्यमरः।

अलङ्कार – उपमान चन्द्रमा एवं कमल की अपेक्षा उपमेय नेत्र, स्मित की उत्कृष्टता का कथन किया गया है, अतः व्यतिरेक अलङ्कार है ।

प्रसङ्ग –

नल के केश–सौन्दर्य का वर्णन करते हुएकपि कहता है कि

स्वबालभारस्य तदुत्तमांङ्गजैः समंचमर्येव तुलाभिलाषिणः । ।

अनागसे शंसति बालचापलं पुनः पुनः पुच्छविलोलनच्छलात्।। 25।।

अन्वय – चमरी तदुत्तमाङ्गजैः सममेव तुलाभिलाषिणः स्वबालभारस्य अनागसे पुनः पुनः पुच्छविलोलनच्छलात् बालचापलं शंसति ।

शब्दार्थ – चमरी = चमरी नामक मृग । तदुत्तमाङ्गजैःसममेव = उस नल के मस्तक के केशों के साथ ही। तुलाभिलाषिणः = समता चाहने वाले। स्वबालभारस्य = अपने केश समूह के।अनागसे = अपराध के लिए । पुनः पुनः = बार–बार। पुच्छविलोलनच्छलाद् = पूँछ हिलाने के बहाने से । बालचापलं = केशों की चपलता को, बालक की चंचलता को । शंसति = कहता है।

हिन्दी में अनुवाद – चमरी मृग उनके (नल के) केशों के साथ ही समानता चाहने वाले अपने केश समूह के निरपराधिता प्रकाशन के लिए बार–बार पूँछ हिलाने के बहाने से बालों की चपलता (केशों की चपलता, पक्षान्तर में शिशुचापल्य)को कहती है।

हिन्दी–व्याख्या – आशय यह है कि चमरी मृग के केश नल के केशों से समानता चाहते हैं । किन्तु तुच्छ होने पर श्रेष्ठ नल के साथ उनकी समता करना उसका अपराध है। यहाँ कवि कल्पना करता है कि मानों मृग अपने

निरपराध को बताने के लिए या अपराधक्षमा की याचना के लिए अपनी पूँछ हिलाकर यह सूचित कर रहा है कि उसके केशों ने चपलता की है अथवा बाल अर्थात् बच्चे ने चपलता की है, इसलिए उसका अपराध क्षम्य है।

संस्कृत–व्याख्या – पद्यांशेऽस्मिन् कवि नलकेशसौन्दर्यस्य वर्णनं कुर्वन्नाह–**स्वबालभारस्येति**।चमरी =मृगविशेषः, तदुत्तमाङ्गजैः = नलमूर्धजैः सममेव= सार्धमेव, तुलाभिलाषिणः = सादृश्येच्छुकस्य, स्वबालभारस्य = स्वकचवृन्दस्य, अनागसे = अनपराधाय पुनःपुनः = बारं बारम्, पुच्छविलोलनच्छलाद् = लोगूलसंचालनकतैवात्, बालचापलं = शिशोश्चपलता, मद्बालानां चाञ्चल्यं, शंसति = कथयति । तात्पर्यमस्ति यत् यथा माता महापुरुषैः समं संघर्षशीलस्य स्वपुत्रस्य अपराधाभावप्रकाशनाय 'एतेन शैशवत्वाद् मूर्खत्वादित्थमाचरितमि'ति कथयति, तथैव चमरीमृग्यपि नलकचैः साकं सादृश्यं वाञ्छतः पुच्छसंचालनब्याजात् निजबालभारस्यापराधाभावप्रकाशनार्थं सूचयतीति भावः।

समास – तदुत्तमाङ्गजैः = उत्तमं च तत् अङ्गम् (कर्मधारय), तस्य उत्तमाङ्गम् (षष्ठी तत्पुरुष), तदुत्तमाङ्गे जाताः, तैः (सप्तमी तत्पुरुष)। स्वबालभारस्य =स्वबालानां भारः, तस्य (षष्ठी तत्पुरुष)। पुच्छविलोलनच्छलाद् = पुच्छस्य विलोलनम् (षष्ठी तत्पुरुष), तस्य छलम्, तस्मात् (षष्ठी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – तदुत्तमाङ्गजैः = तदुत्तमाङ्ग उपपदपूर्वक 'जनी प्रादुभावे' धातु से "सप्तम्यां जनेर्डः" सूत्र से 'ड' प्रत्यय तथा 'समम्' के योग में तृतीया विभक्ति। अनागसे = "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः"सूत्र से चतुर्थी विभक्ति।

कोश– उत्तमाङ्गः = " उत्तमाङ्गः शिरः शीर्षं मूर्धा ना मस्तकोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः।

अलङ्कार – इस पद्य में बालचापलम् में बाल शब्द के दो अर्थ हैं –केश एवं शिशु, अतः श्लेषालङ्कार है। पुच्छविलोलन के छल से निरपराधता का प्रकाशन करके बालचापल्य की स्थापना की गयी है, अतः यहाँ कैतवापह्नुति अलङ्कार है – प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यत्स्थापनं स्यादपह्नुतिः।

प्रसङ्ग –

नल की कामदेव जैसी कान्ति का वर्णनकरता हुआ कवि कहता है कि–

महीभृतस्तस्य च मन्मथश्रिया निजस्य चित्तस्य च तं प्रतीच्छया ।

द्विधा नृपे तत्र जगत्त्रयीभुवां नतभ्रुवां मन्मथविभ्रमोऽभवत्।। 26।।

अन्वय–तस्य महीभृतः मन्मथश्रिया तं प्रति निजस्य चित्तस्य इच्छया च तत्र नृपे जगत्त्ररयी भुवां नतभ्रुवां द्विधा मन्मथविभ्रमः अभवत् ।

शब्दार्थ – तस्य महीभृतः = उस राजा नल की। मन्मथश्रिया = कामदेव के समान कान्ति से।तं प्रति = उसकेप्रति। निजस्य चित्तस्य = अपने चित्त की।इच्छया = अभिलाषा के कारण। तत्र नृपे = उन राजा के विषय

में। जगत्त्रयीभुवाम्=लोकत्रयोत्पन्न। नतभ्रुवाम् = सुन्दरियों को अथवा तिरछी भौंह वाली स्त्रियों को । द्विधा = दो प्रकार से । मन्मथविभ्रमः = कामदेव का विभ्रम । अभवत् = हुआ। ।

हिन्दी में अनुवाद – उन राजा नल की कामदेव के समान कान्ति से एवं उनके प्रति अपने चित्त की अभिलाषा के कारण उन राजा के विषय में तीनों लोकों की सुन्दरियों को दो प्रकार से कामदेव का विभ्रम हुआ ।

हिन्दी–व्याख्या – भाव यह है कि कामदेव के प्रति सुन्दरियों की आसक्ति होने से नल के प्रति दो प्रकार सेउन्हें कामदेव का विभ्रम हुआ या काम के प्रति अर्थात् वासना के प्रति आसक्ति होने से स्त्रियों में नल को देखकर कटाक्षादि रूप विलास हुआ। यहाँ काम शब्द कामदेव और वासना का वाचक है । तिरछी भौंह वाली स्त्रियों में दो प्रकार दो प्रकार का कामविभ्रम हुआ – पहला कामदेव के प्रति विशेष भ्रम तथा दूसरा कामजन्य विलास। राजा नल कामदेव के समान सुन्दर थे, इस कारण तीनों लोकों की स्त्रियाँ उन्हें चाहती थीं, अतः नल को देखते समय उन्हें यह भ्रम होता था कि यह कामदेव है, जिस कारण वे कटाक्षादि शृङ्गारज हाव–भाव प्रदर्शित करने लगती थी, इसे ही द्विधा मन्मथविभ्रम की संज्ञा दी गयी है।

संस्कृत–व्याख्या – महीभृतः = पृथ्वीपालकस्य, तस्य = पूर्वोक्तस्य राज्ञः नलस्य, मन्मथश्रिया = कामदेवकान्त्या, तं = नलं प्रति, निजस्य = स्वीयस्य, चित्तस्य = हृदयस्य, इच्छया = अभिलाषया, तत्र = नृपे नले, जगत्त्रयीभुवां = लोकत्रयोत्पन्नानां, नतभ्रुवाम् = कामिनीनां योषितां वा, द्विधा = द्विप्रकारेण, मन्मथविभ्रमः = कन्दर्पस्यभ्रान्तिः, अभवत्= बभूव। अत्र मन्मथः इति प्रथमा भ्रान्तिः भ्रूविलासकटाक्षादिरूपा द्वितीया भ्रान्तिश्च।

समास – मन्मथश्रिया = मन्मथस्य श्रीः, तया (षष्ठी तत्पुरुष), जगत्त्रयीभुवाम् = जगतां त्रयी(षष्ठी तत्पुरुष), तस्यां भवन्तीति जगत्त्रयीभुवः, तासाम्।नतभ्रुवाम् = नते भ्रुवौ यासां ताः नतभ्रुवः, तासाम् (बहुव्रीहि)। मन्मथविभ्रमः = मन्मथस्य विभ्रमः (षष्ठी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – महीभृतः = महीं बिभर्तीति महीभृत्, तस्य, मही उपपदपूर्वक भृ+क्विप्+तुक्+ङस्। नृपे = नॄन् पातीति नृपः, तस्मिन्, न+ृपा+क।

कोश – विभ्रमः = "स्त्रीणां विलासविब्वोकविभ्रमा ललितं तथा।

हेला लीलेत्यमी भावाः क्रियाः शृङ्गारभावजाः।।"इत्यमरः।

"विभ्रमो भ्रान्तिहावयोः" इति विश्वः।

मन्मथः = "मन्मथः कामचिन्तायां कपित्थे कुसुमायुधे" इति विश्वः।

अलङ्कार – 'मन्मथविभ्रमः' के नलकान्तिमूलक तथा 'नतभ्रूः' के विश्ववनितेच्छामूलक होने से एवं 'विभ्रम' शब्द के भ्रान्ति एवं विलास; दो अर्थ होने के कारण यथासंख्यमूलक श्लेष अलङ्कार है।

4.3.3 पद्य संख्या 27–32 तक (नल के शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन)

प्रसङ्ग –

नल के सौन्दर्याधिक्य से उत्पन्न देवाङ्गनाओं के कामविभ्रम का वर्णन करते हुएकवि कहता है–

निमीलनभ्रंशजुषा दृशा भृशं निपीय तं यस्त्रिदशीभिरर्जितः ।

अमूस्तमभ्यासभरं विवृण्वते निमेषनिःस्वैरधुनाऽपि लोचनैः ।। 27 ।।

अन्वय – त्रिदशीभिः निमीलनभ्रंशजुषा दृशा तं भृशं निपीय यः अर्जितः, अमूः अधुनाऽपि निमेषनिःस्वैः लोचनैः तम् अभ्यासभरं विवृण्वते ।

शब्दार्थ – त्रिदशीभिः = देवङ्गनाओं के द्वारा । निमीलनभ्रंशजुषा = निर्निमेष । दृशा = दृष्टि से । तं = नल को । भृशं = अच्छी तरह। निपीय = देखकर अथवा दृष्टि सेपीकर । यः = जो (अभ्यास) । अर्जित = प्राप्त किया। अमूः = वे (देवाङ्गनायें) । अधुनाऽपि = अब भी। निमेषनिःस्वैः लोचनैः=निमेषरहित अपने नेत्रों से। तं = उस । अभ्यासभरं = अभ्यास के अतिशय को। विवृण्वते = प्रगट करती हैं।

हिन्दी में अनुवाद–बाल्यकौमारयौवन से युक्त देवरमणियों ने निर्निमेष दृष्टि से नल को तृष्णा के साथ देखकर जो निर्निमेषत्व प्राप्त किया अर्थात् जो अभ्यासार्जन किया, वे देवाङ्गनायें अब भी निमेषरहित नेत्रों से उस अभ्यास के अतिशय को प्रगट करती है।

हिन्दी – व्याख्या – भाव यह है कि देवरमणियाँ स्वभावतः निर्निमेष दृष्टि वाली होती है, लेकिन कवि ने मानों नल को देखने के कारण वे अभ्यस्त हो गयी हैं, कवि ने ऐसी कल्पना की है।

संस्कृत – व्याख्या – पद्येऽस्मिन् नलं प्रति देवाङ्गनायाः कामविभ्रमंप्रतिपादयतीति कविः –**निमीलनेति**। त्रिदशीभिः = देवाङ्गनाभिः, निमीलनभ्रंशजुषा = निर्निमेषया, दृशा = नयनेन, तं = नलं, भृशं =मुहुर्मुहुः, निपीय = पानं कृत्वा; सतृष्णं दृष्ट्वेति भावः, यः = अभ्यासातिशयः, अर्जितः = विहितः उपार्जितः वा, अमूः = देवाङ्गनाः, अधुनाऽपि = साम्प्रतमपि, निमेषनिःस्वैः लोचनैः = निमेषशून्यैः नेत्रैः, तम् अभ्यासभरं = पूर्वोपार्जितम् अभ्यासातिशयं, विवृण्वते = प्रकटयन्ति।

समास – त्रिदशीभिः = तिस्रः दशाः येषां ते त्रिदशाः (बहुव्रीहि), त्रिदशानां स्त्रियः त्रिदश्यः, ताभिः। निमेषनिःस्वैः = निर्गतः स्वः येभ्यः, तानि (बहुव्रीहि), निमेषेसु निःस्वानि, तैः (सप्तमी तत्पुरुष)। अभ्यासभरम् = अभ्यासस्य भरः, तम् (षष्ठी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – अर्जितः = 'अर्ज अर्जने' धातु से कर्म में 'क्त' प्रत्यय। विवृण्वते = वि उपसर्गपूर्वक वृञ् वरणे धातु लट्लकार प्र.पु.बहुवचन।

कोश – भरः = "अथाऽतिशयो भरः" इत्यमरः।

अलङ्कार – यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है, क्योंकि देवरमणियाँ कभी भी पलक नहीं झपकातीं, किन्तु कवि इस बात को उत्प्रेक्षित कर रहा है कि नल के सौन्दर्य को जी भरकर देखने के लिये वे अपलक दृष्टि से देखने का अभ्यास कर रहीं हों ।

प्रसङ्ग –

निम्न पद्य में नल – सौन्दर्यनागलोक की युवतियों के लिये आकर्षण का केन्द्रबिन्दु है, इस बात का वर्णन करते हुए कवि कहता है–

अदस्तदाकर्णि फलाढ्यजीवितं, दृशोर्द्वयं नस्तदवीक्षि चाफलम् ।

इति स्म चक्षुःश्रवसां प्रिया नले, स्तुवन्ति निन्दन्ति हृदा तदात्मनः ।।28।।

अन्वय – चक्षुःश्रवसां प्रियाः अदः नः दृशोर्द्वयं तदाकर्णि फलाढ्यजीवितम् तदवीक्षि च अफलम् इति तदा नले आत्मनःतत् हृदा स्तुवन्ति निन्दन्ति स्म ।

शब्दार्थ – चक्षुःश्रवसां = सर्पों की; या आँखों से सुनने वालों की। प्रियाः = प्रियायें अर्थात् नागाङ्गनायें । अदः = ये । नः = हम लोगों के । दृशोर्द्वयम् = दोनों नेत्रों। तदाकर्णि = उनको (नल को) सुनकर। फलाढ्यजीवितम् = सफल जीवन वाले हो गये। तदवीक्षि = उनको न देखने वाले। च अफलम् = और असफल जीवन वाले हैं। इति = इस प्रकार । तदा = तब । नले = नल के विषय में। आत्मनः = अपने नेत्रों की। हृदा = हृदय से । स्तुवन्ति = प्रशंसा करती हैं। निन्दन्तिस्म = निन्दा करती हैं।

हिन्दी में अनुवाद – नागों की स्त्रियाँ'ये हम लोगों के दोनों नेत्र उसको (नल के चरित्र को) सुनकर सफल जीवन वाले हो गये, किन्तु उसको न देखने वाले होने के कारण असफल जीवन वाले(भी) हैं', इस प्रकार तब (वे) नल के विषय में अपने नेत्रों की हृदय से प्रशंसा व निन्दा किया करती थीं।

हिन्दी–व्याख्या – सर्पों की दृष्टि और श्रवण–शक्ति केवल नेत्र में ही रहती है। नागलोक के निवासियों ने रसातल में रहते हुए उसकी कीर्ति आँखों से सुनी, जिसके कारण उनकी श्रवण शक्ति रूप आँखें कान के रूप में सफल हो गयी, किन्तु देखने की उत्सुकता बनी रही, क्योंकि नल के सौन्दर्य का वर्णन सुनकर वे उसको देखने को उत्सुक थे, अतः नेत्र सुनने से तो सफल हुए, किन्तु दर्शन न कर सकने के कारण निष्फल हुए । भाव यह है किसर्प के नेत्र ही कान होते हैं,इसलिए उन्हें चक्षुश्रवा कहा जाता है। जब वे चक्षु से देखते हैं, तब सुनते नहीं और जब सुनते हैं तब देखते नहीं। यही कारण है कि जब वेनल के गुणगान को सुनती हैं, तब उनको देख नहीं पाती, अतः वे सुनने के कारण प्रशंसा करती हैं और न देख पाने के कारण नेत्रों की निन्दा भी करती हैं।

संस्कृत–व्याख्या – पद्येऽस्मिन् नलं प्रति नागरमणीनां कामविभ्रमस्य वर्णनं कुर्वन् कविः कथयति –अद इति।चक्षुःश्रवसाम् = सर्पप्रियाणाम्, अदः = इदम्, नः = अस्माकम्, दृशोर्द्वयम् = नेत्रयुगलम्, तदाकर्णि = तत्श्रावी; नलगुणश्रावीत्यर्थः, फलाढ्यजीवितम् = फलयुक्तजीवनम्; सफलजीवनमिति भावः, तदवीक्षि = तददर्शि, अफलम् च = फलरहितं च, इति = एवं, तदा =तस्मिन् काले, नले = नलस्य विषये, आत्मनः तत् = निजनेत्रयोः, हृदा =मनसा, स्तुवन्ति = प्रशंसन्ति, निन्दन्ति स्म = जुगुप्सन्ते च।

समास –चक्षुःश्रवसाम् = चक्षुषी एव श्रवसी येषां ते चक्षुःश्रवसः, तेषाम् (बहुव्रीहि)। फलाढ्यजीवितम् = फलेन आढ्यम् (तृतीया तत्पुरुष), तादृशं जीवितम् यस्य तत् (बहुव्रीहि)। अफलम् = अविद्यमानं फलं यस्य तत् (नञ् बहुव्रीहि)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–नः = अस्मद्+आम्'"बहुवचनस्य वस् नसौ"सूत्र से 'नस्' आदेश। तदाकर्णि = तम् आकर्णयतीति, तद्+अम्+आङ्+कर्ण+णिनि+सु। तदवीक्षि = वीक्षते तच्छीलं वीक्षि, वि+ईक्ष+णिनि।

कोश–चक्षुःश्रवा = "कुण्डली गूढपाच्चक्षुःश्रवा, काकोदरः फणी" इत्यमरः।

अलङ्कार –स्तुति और निन्दा का सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध दिखाया गया है, अतः यहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार है।

प्रसङ्ग – नल के रूप एवं लावण्य के कारण मर्त्यलोक की सुन्दरियों के हृदय में स्थित कामविभ्रम का वर्णन करते हुए कवि कहता है–

विलोकयन्तीभिरजस्रभावनाबलादमुं नेत्रनिमीलनेष्वपि ।

अलम्भि मर्त्याभिरमुष्य दर्शने न विघ्नलेशोऽपि निमेषनिर्मितः।। 29।।

अन्वय–अजस्त्रभावनाबलात् नेत्र निमीलनेष्वपि अमुं विलोकयन्तीभिः मर्त्याभिः अमुष्य दर्शने निमेषनिर्मितः विघ्नलेशोऽपि न अलम्भि ।

शब्दार्थ – अजस्रभावनाबलाद् = निरन्तर भावनावश । नेत्रनिमीलनेष्वपि = नेत्र को बन्द करने पर भी । अमुं = इस नल को । विलोकयन्तीभिः = देखती हुई।मर्त्याभिः = मनुष्य लोक की रमणियों के द्वारा । अमुष्य = नल के । दर्शन = दर्शन में। निमेषनिर्मितः = पलक गिरने से होने वाला। विघ्नलेशोऽपि = विघ्न मात्रा भी। न = नहीं । अलम्भि = प्राप्त किया गया ।

हिन्दी में अनुवाद –सतत (नल विषयक) चिन्तन करने के कारण नेत्रों को मूँदलेने पर भी उन नल को (अन्तस् में) देखती हुई मर्त्यलोक की रमणियों ने नल को देखने में क्षणभर का भी विघ्न प्राप्त नहीं किया।

हिन्दी–व्याख्या – स्त्रियाँ निरन्तर हृदय से नल की ही इच्छा करती थीं। इसलिए पलक गिरने के कारण नेत्र बन्द होने पर भी मानों वे तन्मयता के कारण नल का ही दर्शन करती थीं। देवताओं की स्त्रियों के विपरीत मृत्युलोक

की स्त्रियों के नेत्र की पलकें झपकती रहती हैं, अतः पलक गिरते समय आँख बन्द हो जाती है और ऐसी स्थिति में नल का दर्शन नहीं होना चाहिए, किन्तु नल के चिन्तन में तन्मय हो जाने के कारण उस समय भी वे स्त्रियाँ नल को ही देखा करती थीं।जो वस्तु एक बार प्रत्यक्ष करली जाती है, उसकी मूर्ति यदि वह प्रिय है, तो हृदय में बस जाती है और आँखें बन्द हो जाने पर भी याद आती है या दिखायी पड़ती है। यह भावना की उत्कटअवस्था है, जिसके कारण अदृष्ट वस्तु भी प्रत्यक्ष हुआ करती है। यह दार्शनिक सिद्धान्त है।प्रेम का तो कहना ही क्या, तभी तो भवभूति कहते हैं –"तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः।"

संस्कृत–व्याख्या– अजस्रभावनाबलाद् = सततचिन्तनशक्तेः प्रभावात्, नेत्रनिमीलनेषु = चक्षुःसंकोचेष्वपि निद्रास्वपीत्यर्थः, अमुम् = नलम्, विलोकयन्तीभिः =पश्यन्तीभिः मनसेति शेषः। मर्त्याभिः = भूलोकललनाभिः, अमुष्य = नलस्य, दर्शने =प्रत्यक्षीकरणे साक्षात्करणे वा,निमेषनिर्मितः = क्षणनिर्मितः नेत्रनिमीलनकृतः वा, विघ्नलेशोऽपि = प्रत्यूहलवोऽपि, न अलम्भि = न लब्धः।

समास –अजस्रभावनाबलाद् = अजस्रं भावना(सुप्सुपा), तस्याःबलम् (षष्ठी तत्पुरुष), तस्मात्।नेत्रनिमीलनेषु = नेत्रयोः निमीलनानि, तेषु (षष्ठी तत्पुरुष)। निमेषनिर्मितः = निमीषेण निर्मितः (तृतीया तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी –विलोकयन्तीभिः = वि+लोक+णिच्+लट्(शतृ)+ङीप्,तृतीया बहुवचन।मर्त्याभिः = मर्त्य+यत्+टाप्प्रत्यय, तृतीयाबहुवचन।अलम्भि = 'डुलभष् प्राप्तौ' धातु से कर्म में लुङ् तथा "विभाषा चिण्णमुलोः" सूत्र से 'नुम्' का आगम।

कोश– "विघ्नोऽन्तरायः प्रत्यूहः" इत्यमरः।

अलङ्कार –इस पद्य में 'आँखें मूँद लेने पर भी निषधपति नल का दिखायी देना' में विरोधाभास है, अतः विरोधाभास अलङ्कार है। मर्त्यलोक की स्त्रियों द्वारा सभी अवस्थाओं में नल के दिखायी देने का सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध का कथन किया गया है, अतः अतिशयोक्ति अलङ्कार है। 'आँख मूँदना' न दिखायी देने का कारण है, किन्तु यहाँ 'आँख मूँदना' रूप कारण के होने पर भी 'न दिखायी देना' रूप कार्य का अभाव है, अतः विशेषोक्ति अलङ्कार है।

प्रसङ्ग –

प्रायः सभी स्त्रियों ने नल के प्रति अपने प्रेम को अभिव्यक्त किया है, इसी बात को कवि निम्न रूप में कहता है –

न का निशि स्वप्नगतं ददर्श तं जगाद गोत्रस्खलिते च का न तम् ।

तदात्मताध्यातधवा रते च का चकार वा न स्वमनोभवोद्भवम्।।30।।

अन्वय– का निशि स्वप्नगतं तं न ददर्श, का च गोत्रस्खलिते तं न जगाद । का च वा रते तदात्मताध्यातधवा स्वमनोभवोद्भवं न चकार ।

शब्दार्थ – का = किस स्त्री ने। निशि = रात्रि में। तं = नल को। स्वप्नगतं = स्वप्न में। न = नहीं। ददर्श = देखा। का = किसने (मध्यास्त्रीने) । गोत्रस्खलिते = गोत्रस्खलन में अर्थात् पति के नाम के स्थान पर भ्रमवश दूसरे पुरुष के नाम लेने में। तं = नल को। न = नहीं। जगाद = पुकारा। का = किसने (प्रगल्भास्त्री ने) रतिकाल में या सम्भोग के दौरान। तदात्मताध्यातधवा = उसके रूप में पति का चिन्तन करके । स्वमनोभवोद्भव = अपने काम का प्रकाशन। न = नहीं। चकार = किया।

हिन्दी मेंअनुवाद – किस स्त्री ने रात्रि में उस नल को स्वप्न में नहीं देखा । किस स्त्री ने गोत्रस्खलन में नल को नहीं पुकारा अथवा किस स्त्री ने रतिकाल में उसके रूप में पति का चिन्तन करके अपने काम का प्रकाशन अर्थात् अपने पति में नलभाव करके रमण नहीं किया।

हिन्दी–व्याख्या – पतिव्रता स्त्रियों को छोड़कर सभी ने पति के स्थान पर नल का ही स्मरण किया। आशय यह है कि मुग्धा स्वप्न में सदैव नल को ही देखती थी, मध्या नल में लीनचित्त होने के कारण अपने पति के नाम के स्थान पर नल का नाम लेती थीऔर प्रगल्भा का तो कहना ही क्या, वह अपने पति को नल मानकर ही उनके साथ सुरतव्यापार में संलग्न होती थी।वस्तुतः नलानुरक्त प्रत्येक कामिनी के शृङ्गारिक हाव–भाव के केन्द्रबिन्दु में नल ही होते थे।

संस्कृत–व्याख्या – का = स्त्री, निशि = रात्रौतं = नलं, स्वप्नगतं = स्वाप्नावस्थायां प्राप्तं, न ददर्श = न दृष्टवती, अपितु सर्वा अपि दृष्टवत्य इति भावः। का च = स्त्री च, गोत्रस्खलिते = अन्यनामोच्चारणसमये, तं = नलं, न जगाद = न बभाषे, स्वपतिनाम्नि उच्चारितव्ये तन्नाम नोच्चारितवती,अपितु सर्वा एव नलस्य नाम उच्चारिवत्यः। का च = स्त्री च, रते = सम्भोगकाले, तदात्मताध्यातधवा = नलरूपचिन्तितभर्तृका सती, स्वमनोभवोद्भवम् = निजकामोत्पत्तिम्, न चकार = न कृतवती, अपितु सर्वा एव चकार इत्यर्थः।

समास –स्वप्नगतम् = स्वप्नं गतः, तम् (द्वितीया तत्पुरुष)। गोत्रस्खलिते = गोत्रस्य स्खलितम्, तस्मिन् (षष्ठी तत्पुरुष)।तदात्मताध्यातधवा =तस्य आत्मा यस्य सः तदात्मा (व्यधिकरण बहुव्रीहि), तस्य भावः तदात्मता, ध्यातः धवः यया सा (बहुव्रीहि), तदात्मतया ध्यातधवा (तृतीया तत्पुरुष)। स्वमनोद्भवम् = स्वस्य मनोभवः (षष्ठी तत्पुरुष), तस्य उद्भवः, तम् (षष्ठी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी –तदात्मता = तदात्मन्+तल्+टाप्। चकार = कृ+लिट+्तिप्। ददर्श = दृश्+लिट्+तिप्।

कोश– गोत्र= "नाम गोत्रं कुलं गोत्रं गोत्रस्तु धरणीधरः"इति यादवप्रकाशः, "गोत्रं नाम्न्यचले कुले" इत्यमरः।धवः = "धवः प्रियः पतिर्भर्ता" इत्यमरः।

अलङ्कार –इस पद्य में सभी स्त्रियों का नलदर्शन से सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध दिखाया गया है, अतः यहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार है।

प्रसङ्ग –

अब अन्य स्त्रियों को नल के अयोग्य बताते हुए कवि दमयन्ती का प्रसङ्ग प्रारम्भ करते हैं–

श्रियास्य योग्याहमिति स्वमीक्षितुं करे तमालोक्य सुरूपया धृतः ।

विहाय भैमीमपदर्पया कया न दर्पणः श्वासमलीमसः कृतः।। 31।।

अन्वय–भैमीं विहाय कया सुरूपया तम् आलोक्य 'श्रिया अहं अस्य योग्या' इति स्वम् ईक्षितुं करे धृतः दर्पणः अपदर्पया श्वासमलीमसः न कृतः ?

शब्दार्थ –भैमीं = दमयन्ती को। विहाय = छोड़कर। कया = किस । सुरुपया = सुन्दरी के द्वारा । तम् = नल को । आलोक्य = देखकर । श्रिया = शोभा से । अहम् = मैं । अस्य = इसके। योग्या = योग्य हूँ । इति = इस प्रकार । स्वम् = अपने को । ईक्षितुम् = देखने के लिए। करे = हाथ में। धृतः = धारण किये हुए। दर्पण = दर्पण को । अपदर्पया = दर्परहित होकर । श्वासमलीमसः = श्वास से मलिन । न = नहीं। कृतः = किया गया।

हिन्दी में अनुवाद –दमयन्ती को छोड़कर किस सुन्दरी ने नल को देखकर 'शोभा से मैं उसके योग्य हूँ' ऐसा सोचकर अपने को देखने के लिए हाथ में लिए हुए दर्पण को दर्परहित होकर श्वास से मलिन नहीं किया, अर्थात् सभी ने किया।

हिन्दी–व्याख्या – भाव यह है कि रमणियाँ नल को देखने के पश्चात् भ्रमवश उन्होंने नल के योग्य स्वयं को समझा, लेकिन दर्पण में अपने प्रतिबिम्ब को देखने पर नल के सामने स्वयं को तुच्छ देख उदास होकर गर्म निःश्वास छोड़ती थीं, तो मानो उससे दर्पण भी मलिन हो जाता था।

संस्कृत–व्याख्या–पद्येऽस्मिन् कविः अन्यस्त्रीणां नलस्यायोग्यत्वं प्रतिपादनपुरःसरं दमयन्त्याः वर्णनं करोतीत्याह–**श्रियेति**।भैमीम् = दमयन्तीम्, विहाय= त्यक्त्वा, कया सुरूपया = कया सुन्दर्या,तम् = नलम्, आलोक्य = दृष्ट्वा, श्रिया = सौन्दर्येण, अहम् = अहमिति सौन्दर्याभिमानवत्यः स्त्रियः, अस्य = नलस्य, योग्या = अनुरूपा, इति = एवं विचार्य, स्वम् = आत्मानम्, ईक्षितुम् = द्रष्टुम्, करे = हस्ते, धृतः = गृहीतः, दर्पणः = आदर्शः अपदर्पया = रहिताभिमानया, श्वासमलीमसः = निश्वासवायुदूषितः, न कृतः = न विहितः। भैमीं व्यतिरिक्ताः सौन्दर्यदर्पान्विताःसर्वा एव रमण्यः नाहमस्य योग्येति निश्चयेन निःश्वासवायुना मलिनयन्तीत्यर्थः।

समास –सुरूपया = शोभनं रूपं यस्याः सा, तया (बहुव्रीहि), श्वासमलीमसः =श्वासैः मलीमसः (तृतीया तत्पुरुष)। अपदर्पया = अपगतः दर्पः यस्याः सा, तया (बहुव्रीहि)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी –भैमीम् = भीमस्य अपत्यं स्त्रीति भैमी, ताम्, भीम+अण्+ङीप्। विहाय = 'वि' उपसर्गपूर्वक 'हा' धातु से 'क्त्वा' (ल्यप्) प्रत्यय। आलोक्य = 'आङ्' उपसर्गपूर्वक 'लोक्' से 'क्त्वा' (ल्यप्) प्रत्यय।ईक्षितुं । धृतः ='धृञ् धारणे'धातु से 'क्त' प्रत्यय।

अलङ्कार – यहाँ सभी स्त्रियों की एक जैसी चेष्टा का सम्बन्ध बताने के कारण अतिशयोक्ति अलङ्कार है।

प्रसङ्ग–

प्रेम–वर्णन में सर्वप्रथम स्त्रियों के अनुराग का वर्णन करना चाहिए, इसको ध्यान में रखते हुए कवि दमयन्ती के हृदय में नलविषयक कामभावना के उदय का वर्णन करतेहुए कहता है–

यथोह्यमानः खलु भोगभोजिना प्रसह्य वैरोचनिजस्य पत्तनम् ।

विदर्भजाया मदनस्तथा मनोऽनलावरुद्धं वयसैव वेशितः ।। 32 ।।

अन्वय–यथा खलु भोगभोजिना वयसा उह्यमानः मदनःअनलावद्धं वैरोचनिजस्य पत्तनं प्रसह्य वेशितः तथा (भोगभोजिना वयसैव उह्यमानः मदनः)विदर्भजाया नलावरुद्धं मनः (वेशितः) ।

शब्दार्थ – यथा = जिस प्रकार । भोगभोजिना =सर्पभक्षी । वयसा = गरुड़ पक्षी से, पक्ष में यौवनावस्था से । उह्यमानः = ले जाया जाता हुआ । मदनः = प्रद्युम्न, पक्ष में कामदेव । वैरोचनिजस्य = विरोचन पौत्र अर्थात् बलिपुत्र वाणासुर के । अनलावरुद्धं = अग्नि से घिरे हुए, पक्ष में नलावरुद्धं = नल से आसक्त । पत्तने = नगर में । प्रसह्य बलपूर्वक । वेशितः = प्रविष्ट किया गया था । तथा = वैसे ही । विदर्भजायाः = विदर्भ के राजा की पुत्री दमयन्ती के । मनः = मन में ।

हिन्दी में अनुवाद – जिस प्रकार सर्पभक्षी गरुड़ के द्वारा प्रद्युम्न विरोचन के पौत्र अर्थात् बलिपुत्र वाणासुर के अग्नि से घिरे हुए नगर में बलपूर्वक प्रविष्ट किया गया था, वैसे ही भोगविलासकारी यौवन अवस्था से (वयसा) प्राप्त (उह्यमानः) कामदेव (मदनः) नल से आसक्त दमयन्ती के मन में प्रविष्ट किया गया।

हिन्दी–व्याख्या – भाव यह है कि चारण आदि प्रशंसकों के द्वारा नल का गुणगान सुनने के कारण दमयन्ती का मन उसके प्रति आकृष्ट हो गया। तथा जैसे गरुड़ की सहायता से प्रद्युम्न बाणासुर के अग्नि से घिरे हुए भी नगर में प्रविष्ट हुआ, उसी प्रकार यौवनावस्था के द्वारा काम नल से युक्त दमयन्ती के हृदय में प्रवेश कर गया। नल के दमयन्ती में कामभावोद्भव के समर्थन में कवि ने यहाँ पौराणिक आख्यान की ओर सङ्केत किया है। एक बार बलि के पुत्र बाणासुर की पुत्री उषा ने स्वप्न में प्रद्युम्न पुत्र अनिरुद्ध को देखा और उसके अन्दर कामभाव जागरित हुआ। स्वप्नगत वृत्तान्त को उसनेअपनी अन्तरङ्ग सखी चित्रलेखा से बताया। उसकी सखी योगविद्या से अनिरुद्ध को लाकर उषा से मिलन करा दिया। जब बाणासुर को यह ज्ञात हुआ तो उसे बहुत क्रोध आया उसने अनिरुद्ध को बन्दी बना लिया। इधर नारद जी से श्रीकृष्ण ने सम्पूर्ण वृत्तान्त जानकर वे प्रद्युम्नसहित बाणासुर की नगरी शोणितपुर पहुँचते हैं और बाणासुर को परास्त कर अनिरुद्ध को मुक्त कराते हैं।

संस्कृत–व्याख्या–"आदौ वाच्यः स्त्रियां रागः पुंसः पश्चात्तदिङ्गितैः" इत्यनुसारेण कविः नलं प्रति दमयन्त्याः पूर्वरागं प्रस्तौति –यथोह्यमानेति। यथा = येन प्रकारेण, भोगभोजिना = सर्पशरीरभक्षिणा, वयसा = पतत्रिणा गरुडेन,

उह्यमानः = नीयमानः, मदनः = प्रद्युम्नः कामदेवो वा, वैरोचनिजस्य = बलिपुत्रस्य बाणासुरस्य, अनलावरुद्धम् = अग्निवेष्टितम्, पत्तनम्=नगरं शोणितपुरमिति भावः, प्रसह्य = बलात्, वेशितः = प्रवेशितः, तथा = तथैव,नलावरुद्धं = नलासक्तम्,विदर्भजायाः =दमयन्त्याः, मनः = चित्तम्, वयसा एव = यौवनेन एव, उह्यमानः = वितर्क्यमाणः,मदनः = कामदेवः, वेशितः = प्रवेशितः, खलु =निश्चयेन। राज्ञः नलस्य गुणश्रवणानन्तरं भैम्याः यौवनेनैव नलविषयककामभावः प्रादुर्भूतः इति भावः।

समास – भोगभोजी = भोगं भुनक्तीति भोगभोजी (उपपद)। अनलाऽवरुद्धम् = अनलेन अवरुद्धम्, तत् (तृतीया तत्पुरुष)।

कोश– भोग = "भोगः सुखे फणकाययोः" इत्यमरः। वयस् = "खगबाल्याद्विनोर्वयः"इत्यमरः। पत्तन= "पूः स्त्री पुरीनगर्यौ वा पत्तनं पुटभेदनम्"इत्यमरः।

व्याकरणात्मक टिप्पणी –उह्यमानः = उह्यत इति, वह् प्रापणे या ऊह् वितर्के धातु से कर्म में लट्(शानच्)। प्रसह्य ='प्र' उपसर्गपूर्वक 'सह्' धातु से 'क्त्वा' (ल्यप्) प्रत्यय।वेशितः = विश्+णिच्+क्तप्रत्यय।

अलङ्कार –यहाँ 'भोगभोजिना' एवं 'वयसा' में अभङ्गश्लेष है, क्योंकि ये दोनों पद सार्थक हैं और क्रमशः दो–दो अर्थ निकलते हैं–'सर्पभक्षी' एवं 'भोगविलासिता' तथा 'पक्षी' एवं 'युवावस्था'। 'अनलावरुद्धम्' में सभङ्गश्लेष है।

4.3.4 पद्यसंख्या 33–41 तक (दमयन्ती का नल के प्रति अनुराग–वर्णन)

प्रसङ्ग –

दमयन्ती की नल के प्रति चित्तासक्ति का वर्णन करते हुए कविकहता है –

नृपेऽनुरूपे निजरूपसम्पदां दिदेश तस्मिन् बहुशः श्रुतिं गते ।

विशिष्य सा भीमनरेन्द्रनन्दना मनौभवाज्ञैकवशंवदं मनः ।। 33 ।।

अन्वय–सा भीमनरेन्द्रनन्दना निजरूपसम्पदाम् अनुरूपे बहुशः श्रुतिं गते तस्मिन् नृपे मनौभवाज्ञैकवशंवदं मनः विशिष्य दिदेश ।

शब्दार्थ – सा = उस। भीमनरेन्द्रनन्दना = राजा भीम की पुत्री दमयन्ती ने। निजरूपसम्पदाम् = अपने सौन्दर्य की सम्पत्ति के। अनुरूपे = अनुकूल। बहुशः = अनेक बार। श्रुतिं गते = कर्णगोचर हुए। तस्मिन् नृपे = उस राजा में। मनोभवाज्ञैकवशंवदम् = कामदेव की आज्ञा के एकमात्र अधीन। मनः = मन को। विशिष्य = विशेष रूप से। दिदेश = लगाया।

हिन्दी में अनुवाद– उस भीम नामक राजा की पुत्री दमयन्ती ने अपने सौन्दर्य की सम्पत्ति के योग्य या अनुकूल (चारण, बन्दी आदि के मुख से) भूरिशः कर्णगोचर हुए उस राजा नल में कामदेव की आज्ञाके एकमात्र अधीन सेवक की भाँति मन को विशेष रूप से लगाया।

हिन्दी–व्याख्या– भाव यह है कि जब भीम के दरबार में चारण बन्दी आदि के द्वारा राजाओं का गुणगान होता था तो दमयन्ती राजा नल के गुणगानों को विशेषरूप से ध्यानपूर्वक सुनती थी। बार–बार सुनते–सुनते वह उन पर आसक्त हो गयी। आचार्य रुद्रट कहते हैं कि नायक के गुणश्रवण से नायिका में अनुराग उत्पन्न हुआ करता है। वस्तुतः नायिका अपने गुणों के अनुरूप नायक को समझकर वह उसमें अपने मन को केन्द्रित करती है। दमयन्ती भी अपनी जैसी सुन्दरता से सम्पन्न नल भी हैं, यह सोचकर कामवशवर्ती अपने मन को नल में लगाती है।

संस्कृत–व्याख्या– टीकाकारमल्लिनाथमते इह विरहिणां चक्षुः प्रीत्यादयो दशावस्थाः सन्ति, तत्र चक्षुःप्रीतिः श्रवणानुरागस्याप्युपलक्षणमतस्तत्पूर्विकां मनःसङ्गाख्यां द्वितीयावस्थामाह–**नृपेइति**। सा = पूर्वोक्ता,भीमनरेन्द्रनन्दना =दमयन्ती, निजरूपसम्पदाम् = स्वसौन्दर्यसम्पत्तीनाम्, अनुरूपे = योग्ये, बहुशः = भूरिशः, श्रुतिं गते = कर्णगोचरं प्राप्ते, तस्मिन् =नले, मनोभवाज्ञैकवशंवदम् = कामाज्ञैकवशवर्ति, मनः = चित्तम्, विशिष्य = विशेषतया, दिदेश = दत्तवती।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–नन्दयतीति नन्दना, 'टुनदि समृद्धौ' धातु से 'णिच्' होकर "नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः" सूत्र से 'ल्यु' (अन) प्रत्यय, स्त्रीत्व विवक्षा में 'टाप्'। बहुशः = 'बहु' शब्द से 'शस्' प्रत्यय।

अलङ्कार –इस पद्य में अनुप्रास अलङ्कार है।

प्रसङ्ग–

कवि पुनः दमयन्ती के नलविषयक श्रवणानुराग का वर्णन करते हुए लिखता है–

उपासनामेत्य पितुः स्म रज्यते दिने दिने साऽवसरेषु वन्दिनाम् ।

पठत्सु तेषु प्रति भूपतीनलं विनिद्ररोमाऽजनि शृण्वती नलम् ।। 34 ।।

अन्वय–सा दिने दिने वन्दिनाम् अवसरेषु पितुः उपासनाम् एत्य तेषु भूपतीन् प्रति पठत्सु नलं शृण्वती अलं रज्यते स्म विनिद्रऽरोमा अजनि ।

शब्दार्थ – सा = वह (दमयन्ती)।दिने दिने = प्रतिदिन,वन्दिनाम् अवसरेषु = स्तुतिपाठ के अवसर पर । पितुः = पिता की । उपासनाम् = सेवा में । एत्य = उपस्थित होकर या प्राप्त कर। रज्यते स्म = अनुरक्त होती थी। तेषु = उन चारणों के । भूपतीन् = राजाओं के । पठत्सु = गुणगान करने पर। नलम् = नल को, शृण्वती = सुनती हुई, अलम् =अत्यधिक। विनिद्ररोमा = रोमांचयुक्त । अजनि = हो जाती थी।

हिन्दी में अनुवाद – वह दमयन्ती प्रतिदिन नृपस्तुतियों के समय पर पिता की सेवा में उपस्थित होकर या पिता के समीप में आकर अनुरक्त होती थी। उन चारणों के राजाओं के विषय में गुणगान करने पर नल को सुनती हुई (वह)अत्यधिक रोमांचयुक्त हो जाती थी।

हिन्दी – व्याख्या – भाव यह है कि राजदरबार में चारणों के द्वारा नल के गुणगान सुनकर दमयन्ती प्रसन्न तो होती थी साथ रोमाञ्चित भी हो जाती थी। नल–चरित्र के श्रवण मात्र से उसे रोमांच होने लगता था। वस्तुतः लोकव्यवहार में भी अपने विषय में या अपने प्रिय के विषय में प्रशंसा सुनकर पुलकित होना देखा जाता है, अतः दमयन्ती का रोमांचयुक्त होना स्वाभाविक है।

संस्कृत – व्याख्या – पद्येऽस्मिन् कविः दमयन्त्याः श्रवणानुरागं प्रतिपादयतीति–**उपासनामिति**। सा = दमयन्ती, दिने दिने = प्रतिदिनं, वन्दिनामवसरेषु =नृपस्तुत्यवसरेषु, पितुः = तातस्य, उपासनाम् = समीपम्, एत्य = आगत्य, रज्यतेस्म = अनुरागसम्पन्नाऽभूत्,तेषु = चारणेषु, भूपतीन् प्रति =महीपतीन् उद्दिश्य, पठत्सु = पठनं कुर्वत्सुस्तुतिकर्मत्वेनेति शेषः, नलं शृण्वती = नलं श्रावं श्रावं, अलं = भृशं, विनिद्ररोमा = रोमाञ्चयुक्ता, अजनि = बभूव। नलगुणश्रवणानन्तरं सा दमयन्ती भृशं सञ्जातपुलकाऽभूदिति भावः।

समास – विनिद्ररोमा = विगता निद्रा येभ्यः तानि विनिद्राणि (बहुव्रीहि), विनिद्राणि रोमाणि यस्याः सा (बहुव्रीहि)। भूपतीन् = भुवः पतयः, तान् (षष्ठी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – दिने दिने = "नित्यवीप्सयोः" सूत्र से वीप्सा के अर्थ में द्वित्व। उपासनाम् = 'उप' उपसर्गपूर्वक 'आस्' धातु से "ण्यासश्रन्थो युच्" सूत्र से 'युच्' तथा स्त्रीत्व विवक्षा में 'टाप्, द्वि. वि. ए. व.। एत्य ='आङ्' उपसर्गपूर्वक 'इण् गतौ' धातु 'क्त्वा' (ल्यप्)। रज्यते स्म = 'रज्ज रागे' धातु से भूतार्थ में "लट् स्मे" सूत्र से लट्लकार। शृण्वती = श्रु धातु+लट+्शतृ+ङीप्। अजनि = 'जनी प्रादुर्भावे'धातु से 'च्लि' (चिण्) प्रत्यय।

कोश – वन्दी = "वन्दिनः स्तुतिपाठकाः" इत्यमरः। अवसरः = "प्रसङ्गः स्यादवसरः" इत्यमरः। अलम् = "अलंभूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्" इत्यमरः।

अलङ्कार – 'नलं नलम्'में यमक अलङ्कार है, क्योंकि पहला पद निरर्थक है और दूसरा सार्थक।

प्रसङ्ग–

दमयन्ती की नल नाम के प्रति आतुरता का वर्णन करते हुए कवि कहता है–

कथाप्रसङ्गेषु मिथः सखीमुखात्तृणेऽपि तन्व्या नलनामनि श्रुते ।

द्रुतं विधूयान्यदभूयताऽनया मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया।। 35 ।।

अन्वय – मिथः कथाप्रसङ्गेषु सखीमुखात् नलनामनि तृणेऽपि श्रुते अनया तन्व्या द्रुतम् अन्यद् विधूय मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया अभूयत ।

शब्दार्थ – मिथः कथाप्रसङ्गेषु = परस्पर वार्तालाप के समय। सखीमुखाद् = सखी के मुख से। नलनामनि = नल नाम के। तृणेऽपि = तृण विशेष को भी । श्रुते = सुनने पर । अनया तन्व्या = यह कृश अंगों वाली । द्रुतम् = शीघ्र ही । अन्यद् = अन्य कार्य । विधूय = त्यागकर । मुदा = हर्ष से। तदाकर्णनसज्जकर्णया = उसको अर्थात् नल नाम को सुनने में दत्तकर्णा । अभूयत = हो जाती थी।

हिन्दी में अनुवाद – परस्पर वार्तालाप के समयसखी के मुख से नल नाम के तृण विशेष को भी सुनने पर यह कृश अङ्गों वाली दमयन्ती शीघ्र ही दूसरे कार्यों कोछोड़कर हर्ष से सुनने में दत्तकर्णा हो जाती थी।

हिन्दी–व्याख्या – नल नाम के तृण विशेष का नाम भी सुनकर यह नल की ही चर्चा कर रही है ऐसा जानकर दमयन्ती अन्य कार्यों को छोड़कर सखी की बात ध्यान पूर्वक सुनने लगती थी। तात्पर्य यह है कि नल के प्रति दमयन्ती का प्रेम इतना उत्कट था कि नल नाम की समानता के कारण नल नाम के तिनके सम्बन्धी वार्ता में भी निषध नल समझकर उसको सुनने के लिए कान लगा लेती थी।

संस्कृत – व्याख्या – पद्येऽस्मिन् दमयन्त्याः नलं प्रति नामश्रवणानुरागं कथयतीति –**कथाप्रसङ्गेष्विति**।मिथः =परस्परं, कथाप्रसङ्गेषु = वार्तालापसमये, सखीमुखाद् सखीवदनात्, नलनामनि = नलाभिधाने, तृणेऽपि = तृणविशेषेऽपि, श्रुते = श्रवणविषयीभूते, अनया तन्व्या = अनया कृशाङ्ग्या दमयन्त्या, द्रुतम् = शीघ्रमेव, अन्यद् = इतरत् कार्यं कथान्तरं वा, विधूय = परित्यज्य, मुदा =हर्षेण, तदाकर्णनसज्जकर्णया = तन्नलगुणकीर्तनश्रवणतत्परश्रोत्रया, अभूयत = अजनि। अन्यदर्थप्रयुक्तोऽपि नलशब्दः नृपस्मारकतया तदाकर्षकोऽभूदित्यर्थः।

समास – कथाप्रसङ्गेषु = कथायाः प्रसङ्गः, तेषु (षष्ठी तत्पुरुष)। नलनामनि =नलः नाम यस्य तत्, तस्मिन् (बहुव्रीहि)। तदाकर्णनसज्जकर्णया = तस्य आकर्णनम् (षष्ठी तत्पुरुष), सज्जौ कर्णौ यस्याः सा सज्जकर्णा (बहुव्रीहि), तदाकर्णने सज्जकर्णा,तया (सप्तमी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – तन्व्या ='तनु' से "वोतोगुणवचनात्" सूत्र से विकल्प से 'ङीप्'।श्रुते =श्रु+क्त+ङि, सप्तमी ए. व. । विधूय =वि+धू+क्त्वा (ल्यप्)।

कोश – द्रुतम् = "लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्" इत्यमरः। तृण = "तृणमर्जुनम्" इत्यमरः। मुद् = "मुत्प्रीतिः प्रभेदो हर्षप्रमोदामोद सम्मदाः"इत्यमरः।

अलङ्कार – यहाँ तृण विशेष में नल के कहने पर भी दमयन्ती राजा नल की चर्चा समझकर उनकी बातें सुनने को कान लगा देती थी। अतः भ्रान्तिमान् अलङ्कार है ।

प्रसङ्ग–

नल के प्रति दमयन्ती के उत्कट अनुराग को ही प्रदर्शित करते हुए कहते हैं–

स्मरात्परासोरनिमेषलोचनाद्, बिभेमि तद्भिन्नमुदाहरेति सा ।

जनेन यूनः स्तुवता तदास्पदे, निदर्शनं नैषधमभ्यषेचयत्।। 36।।

अन्वय – परासोः अनिमेषलोचनाद् स्मरात् बिभेमि, तद्भिन्नम् उदाहर इति सा यूनः स्तुवता जनेन तद् आस्पदे नैषधं निदर्शनम् अभ्यषेचयत्।

शब्दार्थ – परासोः = मरे हुए । अनिमेषलोचनाद्स्मराद् = निमेषरहित नेत्र वाले कामदेव से। बिभेमि = डरती हूँ। तत् = इसलिए। भिन्नम् = दूसरा । उदाहर उदाहरण दो। इति = ऐसा कहकर। सा उस दमयन्ती ने। यूनः = तरुणों की। स्तुवता = प्रशंसा करने वाली। जनेन = सखी जनों से । तद् = उसके अर्थात् कामदेव के । आस्पदे = स्थान पर । नैषधं = नल को । निदर्शनम् = उदाहरण स्वरूप । अभ्यषेचयत् =अभिषिक्त कराया।

हिन्दी में अनुवाद – 'मरे हुए, निमेषरहित नेत्र वाले कामदेव से (मैं) डरती हूँ,अतःदूसरा उदाहरण दो' ऐसा कहकर उस दमयन्ती ने तरुणों की प्रशंसा करने वाली सखीजनों से उसके (कामदेव) स्थान पर नल को उदाहरण स्वरूप में अभिषिक्त कराया ।

हिन्दी–व्याख्या – भाव यह है किजब सखियों द्वारा किसी सौन्दर्यशाली तरुण की तुलना करने के लिए कामदेव को उपमान के रूप में प्रस्तुत करती थीं तो दमयन्ती निर्निमेष कामदेव से डरकर उसके स्थान पर किसी और को उपमान के रूप में प्रस्तुत करने के लिए कहती थी। स्वाभाविक है सखियाँ कामदेव के स्थान पर अनुपमेय नल का नाम लेती थी और ऐसा करने पर दमयन्ती पुलकित हो जाती थी। इससे नल के प्रति दमयन्ती का उत्कट प्रेम परिलक्षित होता है।

संस्कृत–व्याख्या – परासोः = प्राणरहितात्, अनिमेषलोचनात् = निमेषविहीनात्, स्मरात् = कामदेवात्, बिभेमि = अहं भयं दधामि, तद्भिन्नम् = मदनभिन्नम् अन्यम्= जनम्, उदाहर = निदर्शनं देहि, इति = एवं, सा = दमयन्ती, यूनः = तरुणान्, स्तुवता = प्रशंसता, जनेन = सखीजनेन तदास्पदे = मदनस्थाने, नैषधम् = नलं, निदर्शनम् = उदाहरणं, अभ्यषेचयत् = अभिषिक्तवती।

समास – परासोः = परागता असवः यस्मात् स परासुः, तस्मात् (बहुव्रीहि), अनिमेषलोचनात् = अविद्यमानौ निमेषे ययोस्ते अनिमेषे (नञ् बहुव्रीहि), अनिमेषे लोचने यस्य, तस्मात् (बहुव्रीहि), तदास्पदे = तस्य आस्पदम्, तस्मिन् (षष्ठी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – बिभेमि = 'ञिभि भये'धातु से लट्लकार, उ.पु. एकवचन। स्तुवता = 'ष्टुञ्स्तुतौ' धातु से लट्लकार, 'शतृ' प्रत्यय, तृतीया एकवचन। निदर्शनम् = 'नि' उपसर्गपूर्वक 'दृश्' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय। नैषधम् = निषध से "तस्येदम्" सूत्र से 'अण्' प्रत्यय। अभ्यषेचयत् ='अभि' उपसर्गपूर्वक 'षिच्क्षरणे' धातु, लङ् प्र.पु. एकवचन।

कोश–स्मर = "कामः पञ्चशरः स्मरः" इत्यमरः। युवा = "वयस्थस्तरुणो युवा" इत्यमरः।

अलङ्कार – यहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार है ।

प्रसङ्ग –

नल के प्रति दमयन्ती के अनुराग का वर्णन करते हुए कविकहता है–

नलस्य पृष्टा निषधागता गुणान् मिषेण दूतद्विजवन्दिचारणाः ।

निपीयतत्कीर्तिकथामथानया चिरायतस्थे विमनायमानया ।। 37।।

अन्वय–निषधागताः दूतद्विजवन्दिचरणाः मिषेण नलस्यगुणान् पृष्टा, अथ तत्कीर्तिकथां निपीय अनया चिराय विमनायमानया तस्थे ।

शब्दार्थ – निषधागताः =निषधदेश से आये हुए। दूतद्विजवन्दिचारणाः =दूतों, द्विजों,स्तुतिपाठकों (विरुदावली गाने वालों) एवं चारणों से । मिषेण = बहाने से। नलस्य = नल के । गुणान् = गुणों को। पृष्टाः = पूछती थी । अथ = तदनन्तर। तत्कीर्तिकथाम् = नल के यशःवृत्तान्त को । निपीय = सुनकर। अनया = यह दमयन्ती । चिराय = बहुत समय तक । विमनायमानया = उदासीन या अन्यमनस्क। तस्थे = रहती थी ।

हिन्दी में अनुवाद – निषध देश से आये हुए दूतों, ब्राह्मणों, स्तुतिपाठकों एवं चारणों से; उस देश का राजा कौन है ? कैसा प्रजा का पालन करता है ? उसमें कौन–कौन से गुण हैं (इत्यादि); बहाने से नल के गुणों को पूछती थी। इसके बाद (उनके कहने पर) नल के यशःवृत्तान्त को जानकर अर्थात् सुनकर यह दमयन्ती बहुत समय तक अन्यमनस्कया अनमनी सी रहती थी।

हिन्दी–व्याख्या – भाव यह है कि चारणों से, स्तुतिपाठकों से नल के गुणों को सुनकरदमयन्ती इतना अधिक पुलकित हो जाती थी कि वह स्वयं किसी न किसी बहाने से उनसे नल के गुणों के विषय में विशेष रूप से पूछती थी। नल के गुणों को जानकर 'उनको प्राप्त कर मैं कृत्कृत्य हो जाऊँगी' ऐसा सोचकर वह आनन्दित हो जाती थी और न प्राप्त होने की स्थिति को सोचकर अन्यमनस्क हो जाया करती थी।

संस्कृत–व्याख्या – पद्येऽस्मिन् भैम्याः नलविषयकं श्रवणानुरागं प्रतिपादयन् कविः प्राह – **निषधागतेति**।निषधागताः = निषधदेशादागताः,दूतद्विजवन्दिचारणाः = सन्देशवाहकब्राह्मणस्तुतिपाठकनटाः, मिषेण = छलेनब्याजेन वा, नलस्य गुणान् = राज्ञः नलस्य गुणविशेषान्, पृष्टाः = जिज्ञासिताः। अथ = तदनन्तरं, तत्कीर्तिकथां = नलस्ययशोवर्णनम्, निपीय = प्रणयातिशयेन श्रुत्वा, अनया = अनया दमयन्त्या, चिराय = चिरकालाय; बहुकालपर्यन्तमित्यर्थः, विमनायमानया = अन्यमनस्कया, तस्थे = स्थितम्।

समास – निषधागता = निषधेभ्यः आगताः(पञ्चमी तत्पुरुष)। दूतद्विजवन्दिचारणाः = दूतश्च द्विजश्च वन्दिनश्च चारणाश्च (द्वन्द्व)।तत्कीर्तिकथां = तस्य कीर्तिः(षष्ठी तत्पुरुष) तस्याः कथा, ताम्(षष्ठी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – पृष्टाः ='प्रच्छ्' धातु से कर्मणि'क्त' प्रत्यय। प्रच्छ् धातु द्विकर्मक है। इसके वन्दी और गुण दो कर्म हैं। कर्म में प्रत्यय होने से प्रधान कर्म वन्दी आदि में उक्त होने के कारण प्रथमा हुई। विमनायमानया = 'विमनस्' शब्द से "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" सूत्र से 'क्यङ्'प्रत्यय 'स' का लोप, "अकृतसार्वधातुकयोर्दीर्घः" सूत्र से दीर्घ, ङित् होने से "अनुदात्तङित् आत्मनेपदम्" सूत्र से आत्मनेपद लट्लकार शानच्+टाप्+टा प्रत्यय। तस्थे = 'स्था' धातु लिट्लकार, प्र.पु. एक वचन।

कोश– दूतः = "स्यात्सन्देशहरो दूतः" इति "भरता इत्यपि नटाश्चारणाश्च कुशीलवाः" इत्यमरः। चिराय = "चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिराऽर्थकाः" इत्यमरः। दुर्मना = "दुर्मना विमना अन्तर्मनाः स्यात्" इत्यमरः।

अलङ्कार – यहाँ 'चिन्ता' नाम के व्यभिचारी भाव का उदय उक्त होने के कारण भावोदयलङ्कार है।

विशेष – निषध नल के राज्य का नाम था, इसीलिए इन्हें निषधराज भी कहा जाता था। निषध की राजधानी अलका थी, जो अलका नदी के तट पर स्थित थी। विद्वानों का कथन है कि वर्तमान कुमायूँ ही अलका है।

प्रसङ्ग–अब कवि श्रवणानुराग का वर्णन कर चुकने के पश्चात् चित्रदर्शनानुराग का वर्णन करते हैं–

प्रियं प्रियां च त्रिजगज्जयिश्रियौ लिखाऽधिलीलागृहभित्ति कावपि ।।
इति स्म सा कारुतरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते ।। 38 ।।

अन्वय–अधिलीलागृहभित्ति त्रिजगज्जयिश्रियौ कावपि प्रियं प्रिया च लिख इति सा कारुतरेण लेखितं नलस्य स्वस्य च सख्यम् ईक्षतेस्म ।

शब्दार्थ – अधिलीलागृहभित्ति = विलासगृह(क्रीडागृह) की दीवार पर। त्रिजगज्जयिश्रियौ =तीनों लोकों की सुन्दरता को जीतने वाली शोभा से युक्त । कावपि = किन्हीं दो । प्रिया = प्रेमी का । च = और। प्रिय = प्रेमी को । लिख = चित्रित करो। इति = इस प्रकार । सा = वह दमयन्ती। कारुतरेण = कुशल चित्रकार से । लिखित = बनवाये गये । नलस्य स्वस्य च = नल के और अपने। सख्यम् = रूपसाम्य को । ईक्षतेस्म = देखा करती थी।

हिन्दी में अनुवाद – विलासगृह (क्रीडागृह) की दीवार पर तीनों लोकों की सुन्दरता को जीतने वाली शोभा से युक्त'किन्हीं भी प्रेमिका और प्रेमी को चित्रित करो' इस तरह वह दमयन्ती कुशल चित्रकार से बनवाये गये नल और अपने रूपसाम्य को देखती थी।

हिन्दी–व्याख्या – भाव यह है कि दमयन्ती नल के चित्र द्वारा अपनी मनोकामनापूर्ण करने के लिये चित्रकार से पुरुष अर्थात् सुन्दर पुरुष नल का चित्र बनाने को कहती है तथा उस चित्र के माध्यम से अपनी कामना पूर्ति कर आनन्दित हो जाती है।

संस्कृत–व्याख्या – अधिलीलागृहभित्ति = विलासगृहकुड्ये, त्रिजगज्जयिश्रियौ= लोकत्रयविजयिशोभौ, कावपि =कौचिदपि अनिर्दिष्टनामानौ, प्रियम् = प्रेमयुक्तम्, प्रियां = प्रेमयुक्ताम्, लिख = चित्रय, इति = एवम्, सा =

दमयन्ती, कारुतरेण = कुशलेन चित्रकरेण, लेखितम् = चित्रितम्, नलस्य = राज्ञः नलस्य, स्वस्य च = आत्मनश्च, सख्यम् = मैत्रीसादृश्यं सहास्थितिमिति भावः, ईक्षते स्म =पश्यतिस्म।

समास – अधिलीलागृहभित्ति = लीलायाःगृहम् (षष्ठी तत्पुरुष), तस्य भित्तिः (षष्ठी तत्पुरुष), लीलागृहभित्तौ इतिअधिलीलागृहभित्ति (अव्ययीभाव)।त्रिजगज्जयिश्रियौ = त्रयाणां जगतां समाहारः, त्रिजगत्(द्विगु), त्रिजगज्जयतीति तच्छीला त्रिजगज्जयिनी, त्रिजगज्जयिनी श्रीः ययोस्तौ (बहुव्रीहि)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – प्रियः = 'प्रीञ् तर्पणे' धातु से 'क' प्रत्यय। कारुतरेण = कुर्वन्तीति कारवः, 'कृ' धातु से उणादि 'उण्' प्रत्यय, अतिशयेन कारुः कारुतरः'तरप्' प्रत्यय, तेन।

अलङ्कार – नल एवं दमयन्ती दोनों ही एक दूसरे के समान सुन्दर होने के कारण उपमानोपमेय भाव है, अतः यहाँ उपमेयोपमा अलङ्कार है। नल और दमयन्ती दोनों ही अपने लिए उपमानस्वरूप थे, अतः अनन्वय अलङ्कार भी है।

प्रसङ्ग – कवि पुनः दमयन्ती का नल के प्रति स्वप्नानुराग का वर्णन करता हुआ कहता है–

मनोरथेन स्वपतीकृतं नलं निशि क्व सा न स्वपतीस्म पश्यति ।

अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात्करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम् ।। 39।।

अन्वय–मनोरथेन स्वपतीकृतं नलं स्वपती सा क्व निशि न पश्यति स्म । सुप्तिः अदृष्टवैभवात् अदृष्टमपि अर्थं जनदर्शनातिथिं करोति ।

शब्दार्थ – मनोरथेन = मन के सङ्कल्प से। स्वपती कृतम् = अपना पति बनाये गये। नल = नल को। स्वपती = सोती हुई । सा = वह दमयन्ती । क्व = किस । निशि रात्रि में। न = नहीं। पश्यतिस्म = देखती थी। सुप्तिः = स्वप्न । अदृष्टवैभवात् = पूर्व जन्म की भावना से। अदृष्टमपि अर्थं = न देखे गये पदार्थ को भी। जनदर्शनातिथिम्= मनुष्यों की दृष्टि का अतिथि । करोति = बना देते हैं।

हिन्दी में अनुवाद – मन के सङ्कल्प से अपना पति बनाये गये नल को सोती हुयी दमयन्ती किस रात्रि में नहीं देखती थी अर्थात् प्रत्येक रात्रि में देखती थी। स्वप्न;धर्म और अधर्म के प्रभाव से न देखे गये पदार्थ को भी मनुष्यों की दृष्टि का अतिथि बना देता है।

हिन्दी – व्याख्या – भाव यह है कि नल की कामना होने के कारण दमयन्ती रात्रि में सोते हुए उसका प्रतिदिन दर्शन करती थी, क्योंकि स्वप्न के द्वारा अदृष्ट वस्तु भी दृष्ट हो जाती है। दमयन्ती के अन्दर नल के प्रति चित्रदर्शनानुराग के बाद स्वप्नदर्शनानुराग का उदय होता है। यह नल के प्रति उसके चित्त में उत्तरोत्तर आसक्ति का सूचक है।

संस्कृत–व्याख्या – मनोरथेन = अभिलाषेण, स्वपतीकृतम् = निजप्राणनाथीकृतम्, नलम् = नलमित्याख्यराजानम्, स्वपती स्वप्नावस्थायां निमग्नासती, सा = दमयन्ती, क्व निशि = कस्यां यामिन्याम्, न पश्यति स्म = नावलोकितवती, अर्थात् सर्वस्यां रात्रावपि दृष्टवतीत्यर्थः,। सुप्तिः = स्वप्नः, अदृष्टवैभवात् = धर्माऽधर्मप्रभावात् प्राक्तनजन्मनः भावनात् वा, अदृष्टमप्यर्थम् = अविलोकितमपि पदार्थम्, जनदर्शनातिथिम्= मानवदृष्टिगोचरीभूताम्, करोति = विदधाति।

समास – स्वपतीकृतम् = स्वस्य पतिः (षष्ठी तत्पुरुष), अस्वपतिः स्वपतीकृतः, तम्। अदृष्टवैभवात् = अदृष्टस्य वैभवम्, तस्मात् (षष्ठी तत्पुरुष)।अदृष्टम्= न दृष्टः, तम् (नञ् तत्पुरुष)।जनदर्शनातिथिम् = जनानां दर्शनम् (षष्ठी तत्पुरुष),तस्य अतिथिः तम् (षष्ठी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – स्वपती = 'ञि वप् शये'धातु से लट्लकार,'शतृ' प्रत्यय, स्त्रीत्व विवक्षा में 'ङीप्'।सुप्तिः = 'स्वप्' धातु से'क्तिन्' प्रत्यय।

कोश – अर्थम् = "अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु" इत्यमरः।

अलङ्कार – इस पद्य में पूर्वार्ध वाक्य विशेष है और उत्तरार्ध वाक्य सामान्य। विशेष का सामान्य से समर्थन कराये जाने के कारण यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है– सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते। यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा।।

साथ स्वपती एवम् अदृष्ट दोनों शब्द दो–दो बार आये हैं और दोनों सार्थक, किन्तु भिन्नार्थक हैं, अतः यमक अलङ्कार है।

विशेष – तीन प्रकार के दर्शन हुआ करते हैं– चित्रदर्शन, स्वप्नदर्शन एवं साक्षात्दर्शन।इसके पूर्व पद्य "प्रियं प्रियां च....." में चित्रदर्शन तथा इस पद्य में स्वप्नदर्शन का वर्णन किया गया है।स्वप्नावस्था में अदृष्ट के अनुरूप ही किसी व्यक्ति या वस्तु का दर्शन हुआ करता है। इससे दमयन्ती का नल के साथ दूसरे जन्म के सम्बन्धों की ओर सङ्केत होता है।

प्रसङ्ग – 'दमयन्ती सुप्तावस्था में नल का पुनः दर्शन करती है' यह भाव प्रकारान्तर से वर्णित किया गया है–

निमीलितादक्षियुगाच्चनिद्रया ह्रदोऽपि बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात् ।

अदर्शि संगोप्य कदाप्यवीक्षितो रहस्यमस्याः स महन्महीपतिः ।। 40 ।।

अन्वय – निद्रया निमीलिताद् अक्षियुगाद् बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात् ह्रदोऽपि च संगोप्य कदापि अवीक्षितः महद् रहस्यं स महीपतिः अस्याः अदर्शि ।

शब्दार्थ – निद्रया = निद्रा के द्वारा (पक्षान्तर में, अज्ञान के द्वारा)। निमीलिताद् = मूँदे हुए (पक्षान्तर में, आच्छादित)। अक्षियुगाद्= नेत्रद्वय से (पक्षान्तर में, कलियुग)। बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात् = बाह्येन्द्रिय अर्थात् नेत्रकर्णादि के विषय के ग्रहण न करने के कारण शून्य (पक्षान्तर में, वाणी के प्रयोग में असमर्थ)। हृदोऽपि = हृदय से भी (पक्षान्तर में, अज्ञानी)। संगोप्य = छिपाकर। कदापि = कभी भी। अवीक्षितः = न देखा गया। महद् = महान् । रहस्य = गोपनीय। स = वह। महीपतिः = राजा नल। अस्याः = इस दमयन्ती को । अदर्शि = दिखा दिया गया।

हिन्दी में अनुवाद – निद्रा नेमुँदी हुईआँखों से बाह्येन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ होने के कारण बन्द होने से हृदय से भी छिपाकर कभी न देखा हुआ महान् गोपनीय वह राजा नल इस दमयन्ती को दिखा दिया।

हिन्दीव्याख्या – तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार किसी अदृष्टचर अद्‌भुत रहस्य को कोई आप्तपुरुष दूसरों से छिपाकर किसी आप्ततम पुरुष को दिखाता है या कोई दूती; नायिका को छिपाकर उसके प्रियतम से मिला देती है, उसी प्रकार निद्रा ने कभी न देखे गये उस राजा नल को हृदय से भी छिपाकर दमयन्ती को दिखा दिया; अर्थात् सुप्तावस्था में नेत्र तथा हृदय के क्रिया शून्य होने से उन्हें भी निद्रा के इस व्यापार का पता नहीं चल सका।

संस्कृत–व्याख्या – पद्येऽस्मिन् स्वप्नावस्थायां दृष्टं नलं प्रति दमयन्ती स्वयमेव आह –निमीलितादिति। निद्रया = शयनेन, निमीलिताद् = व्यापाराभावाद्, अक्षियुगाद् = नेत्रयुगलाद्,बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात् = बहिरिन्द्रियव्यापारहीनाद्, हृदः अपि =चेतसःअपि संगोप्य = सम्यग्रूपेण गोपयित्वा, कदापि = कदाचिदपि, अवीक्षितः = न दृष्टः, महत् रहस्यं = अतिगोपनीयं, सः महीपतिः = पूर्वोक्तः राजा नल, अस्याः = दमयन्त्याः, अदर्शि दर्शितः।

समास – अक्षियुगाद् = अक्ष्णोः युगं, तस्मात् (षष्ठी तत्पुरुष)। बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात् = बाह्यानि च तानि इन्द्रियाणि (कर्मधारय), बाह्येन्द्रियाणां मौनम् (षष्ठी तत्पुरुष), तेन मुद्रितम्, तस्मात् (तृतीया तत्पुरुष)। महीपतिः = मह्याः पतिः(षष्ठी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – मौनम् = मुनेर्भावः मौनम्, 'मुनि' शब्द से "इगन्ताच्च लघुपूर्वात्" सूत्र से 'अण्' प्रत्यय। रहस्यम् = रहसि भवम्, 'रहस्' शब्द से "तत्र भवः" अर्थ में 'यत्' प्रत्यय।अदर्शि = दृश् धातु से णिच् कर्मणि लुङ्, प्र. पु. एकवचन। संगोप्य = सम् उपसर्गपूर्वक गुप् रक्षणे धातु से क्त्वा (ल्यप्)।

कोश– हृदः = "चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः" इत्यमरः।

अलङ्कार – इस पद्य में रूपक अलङ्कार है।

प्रसङ्ग – दमयन्ती की कामावस्था का वर्णन करते हुए कवि कहता है–

अहो अहोभिर्महिमा हिमागमेऽप्यतिप्रपेदे प्रति तां स्मरार्दिताम्।

तपर्तुपूर्तावपि मेदसां भरा विभावरीभिर्बिभराम्बभूविरे ।। 41।।

अन्वय – अहो स्मरार्दितां तां प्रति अहोभिः हिमागमेऽपि अतिमहिमा प्रपेदे । विभावरीभिः तपर्तुपूर्तावपि मेदसां भराः विभराम्बभूविरे।

शब्दार्थ – अहो = आश्चर्य है । स्मरार्दितां = कामपीड़ित । तांप्रति = उस दमयन्ती के प्रति। अहोभिः = दिन ने। हिमागमेऽपि = हेमन्त ऋतु में भी । अतिमहिमा =अतिदीर्घता। प्रपेदे = प्राप्तकिया। विभावरीभिः = रात्रियों ने। तपर्तुपूर्तावपि = ग्रीष्म ऋतु की पूर्णता होने पर भी। मेदसाम् = चर्बी की । भराः = राशियों को या दीर्घता को । विभराम्बभूविरे = धारण किया।

हिन्दी में अनुवाद – आश्चर्य है दिनों ने हेमन्त ऋतु में भी कामपीड़ित दमयन्ती के लिए दीर्घता प्रदर्शित की एवं रात्रियों ने ग्रीष्म ऋतु की पूर्णता होने पर भी चर्वी की राशियों को अर्थात् दीर्घता को धारण किया ।

हिन्दी–व्याख्या – भाव यह है कि हेमन्त में दिन छोटे होते हैं तथा ग्रीष्म में रातें छोटी होती हैं, लेकिन दमयन्ती को नल के विरह में वह दोनों ऋतुएँ विपरीत प्रतीत हुईं अर्थात् कामपीडिता दमयन्ती को हेमन्त ऋतु के छोटे दिन बड़े ग्रीष्म ऋतु की छोटी रातें भी बड़ी लगती थी।

संस्कृत–व्याख्या – पद्येऽस्मिन् दमयन्त्याः कामावस्थायाः चित्रणं कुर्वन् कविः कथयति –**अहो इति**।अहो = आश्चर्यम्,स्मरार्दितां = कामपीडितां, तां प्रति = दमयन्तीं प्रति,अहोभिः = दिवसैः, हिमागमेऽपि = हेमन्तागमनेऽपि, अतिमहिमा = अतिमहत्त्वम्अतिदीर्घतामिति भावः, प्रपेदे = प्राप्तः, विभावरीभिः = रात्रिभिः, तपर्तुपूर्तावपि = ग्रीष्मर्तुपूरणेऽपि, मेदसांभराः =वसाबाहुल्यं, दीर्घतेति भावः, विभराम्बभूविरे = धारिताः। तात्पर्योऽयमस्ति यत् हेमन्ते दिनानि ह्रस्वानि ग्रीष्मर्तौ च रात्रयः ह्रस्वाः भवन्ति, किं तु नलविरहपीडितायाः दमयन्त्याः कृते कामपीडितत्वात् हेमन्तर्तौ दिवसाः दीर्घाः, ग्रीष्मर्तौ रात्रयः दीर्घाः प्रतीयन्त इति भावः।

समास – स्मरार्दितां = स्मरेण आर्दिता, ताम् (तृतीया तत्पुरुष)।तपर्तुपूर्तौ = तपश्चासौ ऋतुः, तपर्तुः (कर्मधारय), तपर्तोः पूर्तिः, तस्याम्(षष्ठी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – अहो अहोभिः = "ओत्" सूत्र से 'अहो' पद की प्रगृह्य सञ्ज्ञा होने के कारण प्रकृतिभाव हुआ। प्रपेदे ='प्र' उपसर्गपूर्वक 'पद्' धातु से लिट्, प्र.पु. एकवचन।महिमा = 'महत्'से'इमनिच्' प्रत्यय। यह पुल्लिङ्ग शब्द है।

अलङ्कार – इस पद्य में हेमन्त एवं ग्रीष्म रूपी कारण के होने पर भी दिन तथा रात का छोटा होना रूप कार्य का कथन नहीं किया गया है, अतः विशेषोक्ति अलङ्कार है।

4.4 सारांश – इकाई का प्रारम्भ महाराज नल की दानवीरता से होता है, जिसमें उनके वदान्यत्व को कल्पवृक्ष से भी बढ़कर बताया गया और उनके द्वारा दरिद्र की दरिद्रता को दूर किये जाने का वर्णन किया गया। अनेक पद्यों में उनके सौन्दर्य के विषय में बताते हुए कहा गया है कि नल ने अपने सौन्दर्य से त्रैलोक्य की सुन्दरियों में

कामविभ्रम उत्पन्न किया। अन्य स्त्रियों को नल के अयोग्य बताकर दमयन्ती का नल के प्रति पूर्वरागोदय का विस्तार से वर्णन किया गया है।

4.5 बोध प्रश्न :

लघु उत्तरीय प्रश्न –

1. नल की दानवीरता पर प्रकाश डालिए।
2. नल के प्रति देवाङ्गनाओं, नागाङ्गनाओं एवं मर्त्याङ्गनाओं के भावों का वर्णन कीजिए।
3. नल के प्रति दमयन्ती के दर्शनानुराग का विवेचन कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न –

1. दमयन्ती का नल के प्रति श्रवणानुराग का वर्णन कीजिए।
2. दमयन्ती का नल के प्रति पूर्वराग पर प्रकाश डालिए।

4.6 कुछ उपयोगी पाठ्य–पुस्तकें –

1. नैषधीयचरितम् प्रथम सर्ग, व्याख्याकार शेषराज शर्मा रेग्मी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।
2. नैषधीयचरितम् प्रथम सर्ग, व्याख्याकार श्री बद्रीनाथ मालवीय, रामनारायण लाल विजय कुमार, इलाहाबाद।
3. नैषधीयचरितम् प्रथम सर्ग, व्याख्याकार शोभा भारद्वाज, युवराज पब्लिकेशन आगरा।

संस्कृत–पद्यकाव्य

खण्ड – 1 नैषधीयचरितम्, प्रथम सर्ग (पद्य 01 से 98 पद्यपर्यन्त)

इकाई –5 पद्यों का अनुवाद एवं संस्कृत–व्याख्या (पद्य संख्या 42–73 तक)

इकाई की रूपरेखा

5.0 प्रस्तावना

5.1 उद्देश्य

5.2 इकाई–परिचय

5.3 पद्यों की व्याख्या

- 5.3.1 पद्य संख्या 42–57 तक (नल का दमयन्ती के प्रति अनुरागोदय का वर्णन)
- 5.3.2 पद्य संख्या 58–64 तक (महाराज नल के अश्व का वर्णन)
- 5.3.3 पद्य संख्या 65–73 तक (निषधपति नल के अश्वसैनिकों का वर्णन)

5.4 सारांश

5.5 बोध प्रश्न

5.5 कुछ उपयोगीी पाठ्य–पुस्तकें

5.0 प्रस्तावना – इस महाकाव्य का फल है नल – दमयन्ती की प्रणयकथा की उनके विवाह के रूप में परिणति। अतः महाकवि श्रीहर्ष फलप्राप्ति हेतु क्रमशः पृष्ठभूमि तैयार करते हैं। इसी क्रम में नल–दमयन्ती दोनों के चित्त में धीरे–धीरे एक–दूसरे के प्रति कामभाव का उदय हो रहा है, शास्त्रीय नियमों के अनुरूप पहले दमयन्ती के मन में नल के प्रति पूर्वराग का वर्णन किया गया और अबपद्य 42 से लेकर 57 तक नल के चित्त में दमयन्ती के प्रति कामभाव का वर्णन किया गया। नल के मन में दमयन्ती के प्रति आसक्ति को और अधिक तीव्र करने के लिए नगरभ्रमण एवं विलासवन में जाने की योजना बनायी गयी, अतः जिस अश्व से नल को जाना है, उसका पद्य 58 से 64 तक किया गया।तत्पश्चात् पद्य 65 से 73 तक अश्व सैनिकों की चर्चा की गयी है। इस इकाई में उक्त विषयों से सम्बन्धित पद्यों की व्याख्या की जा रही है।

5.1 उद्देश्य– इस इकाई के अध्ययन से शिक्षार्थी :

(क) राजा नल के मन मेंदमयन्ती के विषय में उत्पन्न अनुराग के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

(ख) श्रीहर्ष की काव्यशैली से अवगत हो सकेंगे।

(ग) महाराज नल के अश्व की विशेषताओं से अवगत हो सकेंगे।

(घ) राजा नल के अश्वारोहियों के गुणों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

(ङ) श्रीहर्ष की विषयप्रतिपादन–शैली का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

4.2 इकाई–परिचय – परास्नातक संस्कृत (MAST) कार्यक्रम के अन्तर्गत 'संस्कृत–पद्यकाव्य' नामक प्रश्न पत्र तृतीय सेमेस्टर (MAST–112N) में निर्धारित किया गया है। इस प्रश्न पत्र में कुल तेरह इकाईयाँ हैं, जिसकी पञ्चम इकाई 'महाकवि श्रीहर्षकृत 'नैषधीयचरितम्' के प्रथम सर्ग के पद्य 42 से पद्य 73 तक अनुवाद एवं व्याख्या से सम्बन्धित है।

5.3 पद्यों की व्याख्या

5.3.1 पद्य संख्या 42–57 तक (नल का दमयन्ती के प्रति अनुरागोदय का वर्णन)

प्रसङ्ग–दमयन्तीविषयक नलानुराग का वर्णन करते हुए कवि कहता है–

स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः श्रयन्तमन्तर्घटनागुणश्रियम्।

कदाचिदस्या युवधैर्यलोपिनं नलोऽपि लोकादश्रृणोद् गुणोत्करम्।। 42।।

अन्वय – नलोऽपि कदाचित् लोकात् स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजःअन्तर्घटनागुणश्रियं श्रयन्तं युवधैर्यलोपिनम् अस्याः गुणोत्करम् अश्रृणोत् ।

शब्दार्थ – नलोऽपि = नल ने भी। कदाचित् = किसी समय । लोकात् = आगन्तुक लोगों से। स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः = अपने सौन्दर्य के कीर्ति समूह रूप मोतियों की माला को। अन्तर्घटनागुणश्रियम् = बीच में गूँथने वाले धागे की (गुणों की) शोभा को। श्रयन्तम् = धारण करते हुए। युवधैर्यलोपिनम् = युवकों के धैर्य को नष्ट करने वाले। अस्याः = इस दमयन्ती के। गुणोत्करम् = गुण समूह को। अश्रृणोत् = सुना।

हिन्दी में अनुवाद – नल ने भी किसी समय आगन्तुक लोगों से अपने सौन्दर्ययशःसमूह रूपी मोतियों की माला को गूँथने वाले धागे की शोभा को धारण करने वाले (एवं) युवकों के धैर्य को नष्ट करने वाले इस दमयन्ती के गुणसमूह को सुना ।

हिन्दी–व्याख्या – यहाँ कवि ने दमयन्ती के सौन्दर्यविषयक कीर्ति में मोतियों की कल्पना की है। कीर्ति के शुभ्र होने से उसे मोती की सञ्ज्ञा दी है तथा मोतियों की माला के गूँथने के लिए बीच के धागे के समान दमयन्ती के गुणसमूह थे। वे गुण राजा नल के चित्त में माला के समान गुम्फित हो गये ।

संस्कृत–व्याख्या – पद्येऽस्मिन् नलस्यापि दमयन्त्यामनुरागं सूचयन् कविः कथयति–**स्वकान्तीति**। नलोऽपि = निषधाधिप अपि, कदाचित् = कस्मिश्चिद्समये, लोकात् = आगन्तुकजनमुखात्, स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः = आात्मसौन्दर्ययशःसमूहमुक्ता–मालायाः, अन्तर्घटनागुणश्रियम् = अभ्यन्तरगुम्फनसूत्रशोभाम्, श्रयन्तम् = धारयन्तम्, युवधैर्यलोपिनम् = तरुणधीरत्वविनाशकम्, अस्याः = दमयन्त्याः, गुणोत्करम् = सौन्दर्यादि गुणसमूहम्, अश्रृणोत् = श्रुतवान्। गुणसमूहेन निषधपतिमनसि तस्याः दमयन्त्याः कान्तिककीर्तिगुम्फितेति भावः।

समास – स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः = स्वस्य कान्तिः (षष्ठी तत्पुरुष),मौक्तिकानां स्रक् (षष्ठी तत्पुरुष), स्वकान्तिकीर्तिव्रज एव मौक्तिकस्रक्, तस्याः (मध्यमपदलोपी तत्पुरुष)।अन्तर्घटनागुणश्रियम् = अन्तः घटना(सुप्सुपा),

अन्तर्घटनायाः गुणः (षष्ठी तत्पुरुष), तस्य श्रीः, तम्(षष्ठी तत्पुरुष)। युवधैर्यलोपिनम् = यूनां धैर्यम् (षष्ठी तत्पुरुष), युवधैर्यम्लुम्पतीतियुवधैर्यलोपी, तम्। गुणोत्करम् = गुणानाम् उत्करः, तम् (षष्ठी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – श्रयन्तम् = श्रयतीति श्रयन्, श्रि+लट्+शतृ, द्वितीया विभक्ति, एकवचन।अश्रृणोत् = श्रू श्रवणे धातु से लङ्लकार, प्र.पु. एकवचन।

कोश–लोकः = "लोकस्तु भुवने जने" इत्यमरः।

अलङ्कार – यहाँ 'कान्तिकीर्तिव्रज'पर 'मौक्तिकस्रक्' का और 'गुणोत्कर' पर 'सूत्र' का भेदरहित आरोप होने के कारण रूपक अलङ्कार है ।

प्रसङ्ग–

दमयन्ती के प्रति राजा नल के मन में रागोदय का वर्णन करते हुए कवि कहता है–

तमेव लब्ध्वाऽवसरं ततः स्मरः शरीरशोभाजयजातमत्सरः।

अमोघशक्त्या निजयेवमूर्तया तया विनिर्जेतुमियेष नैषधम्।। 43।।

अन्वय – ततः शरीरशोभाजयजायमत्मरः स्मरः तमेव अवसरं लब्ध्वा मूर्तया निजया अमोघशक्त्या इव तया नैषधं विनिर्जेतुमियेष ।

शब्दार्थ – ततः = तदनन्तर। शरीरशोभाजयजातमत्सरः = शरीरशोभा के जीते जाने से ईर्ष्यायुक्त। स्मरः = कामदेव ने। तमेव = उसी। अवसर = प्रसङ्ग या मौके को। लब्ध्वा = प्राप्त करके। मूर्तया = शरीरधारिणी। निजया = अपनी। अमोघशक्त्या = अमोघशक्तिके। इव = समान। तया = उस दमयन्ती के द्वारा। नैषधं = नल को। विनिर्जेतुमियेष = जीतना चाहा।

हिन्दी में अनुवाद – तदनन्तर शरीर शोभा के जीते जाने से ईर्ष्यामुक्त कामदेव ने उसी मौके को प्राप्त करके शरीरधारिणी अपनी अमोघशक्ति के समान उस दमयन्ती के द्वारा नल को जीतना चाहा।

हिन्दी–व्याख्या – भाव यह है कि नल की शरीरशोभा से परास्त होने के कारण कामदेव को उनसे ईर्ष्या हो गयी तब उसने अभिनव यौवनयुक्त एवं काम से युक्त उस दमयन्ती के रूप में अपनी अमोघशक्ति के द्वारा नल को जीतना चाहा।

संस्कृत–व्याख्या – पद्येऽस्मिन् कविः दमयन्त्यां नलस्य रागोदयं वर्णयति – तमेवेति। ततः =तदनन्तरम्, भैमीगुणश्रवणानन्तरमिति भावः, शरीरशोभाजयजातमत्सरः = देहलावण्यविजयोत्पन्नवैरः, स्मरः = कामदेवः, तमेव = भैमीगुणश्रवणात्मकमेव,अवसरम् = अवकाशं प्रसङ्गं वा, लब्ध्वा =प्राप्य, मूर्तया = शरीरधारिण्या, निजया = स्वीयया,

अमोघशक्त्या इव = सफलसामर्थ्येन इव, तया = दमयन्त्या, नैषधं = निषधाधिपं नलम्, विनिर्जेतुमियेष = पराभवितुमैच्छत्।

समास – शरीरशोभाजयजातमत्सरः = शरीरस्य शोभायाः जयेन जातः मत्सरः यस्य सः (बहुब्रीहिः)। अमोघशक्त्या= अमोघा चासौ शक्तिः (कर्मधारय)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – लब्ध्वा = 'लभ्'धातु से 'क्त्वा'प्रत्यय। विनिर्जेतुम् ='वि','निर्' उपसर्गपूर्वक 'जि' धातु से 'तुमुन्' प्रत्यय। इयेष = इषु इच्छायाम् धातु, लिट् लकार,प्रथम पुरुष, एकवचन।

कोश – मत्सरः = "मत्सरोऽन्यशुभद्वेषे" इत्यमरः।

अलङ्कार – इस पद्य मेंउत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

प्रसङ्ग –

दमयन्ती के प्रति राजा नल के श्रवणानुराग का वर्णन करते हुए कवि कहता है–

अकारि तेन श्रवणातिथिर्गुणः क्षमाभुजा भीमनृपात्मजाश्रयः ।

तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मशरासनाश्रयः ।। 44 ।।

अन्वय – तेन क्षमाभुजा भीमनृपात्मजाश्रयः गुणः श्रवणातिथिः अकारि । तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मशरासनाश्रयः (गुणः श्रवणातिथि अकारि)

शब्दार्थ – तेन =उन्होंने। क्षमाभुजा = पृथ्वीपालक राजा नल ने। भीमनृपात्मजाश्रयः = भीम राजा की पुत्री के आश्रित। गुणः = गुणों को। श्रवणातिथिः = कानों का अतिथि। अकारि = बनाया। तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा = उसके उच्च धैर्य को नष्ट करने के लिये चढ़ाये हुए बाणों वाले। स्मरेण = कामदेव ने। स्वात्मशरासनाश्रयः = प्रत्यञ्चा (धनुष की डोरी)को अपने धनुष पर (चढ़ाया)।

हिन्दी में अनुवाद – इस पृथ्वीपालक राजा नल ने भीम राजा की पुत्री के वर्तमान गुणों को कानों का अतिथि बनाया और उसके उच्च धैर्य को नष्ट करने के लिए चढ़ाये हुए बाणों वाले कामदेव ने प्रत्यञ्चा को अपने धनुष पर (चढ़ाया) या धनुष की डोरी को कान तक खींचा।

हिन्दी–व्याख्या – दमयन्ती के गुणों को सुनकर कामपीड़ित नल का धैर्य नष्ट हो गया। आशय यह है कि दमयन्ती के सौन्दर्य की चर्चा सुनते ही राजा नल उस पर आसक्त हो गये। इसी बात को कवि ने इस रूप में कहा कि महाराज नल ने दमयन्ती के सौन्दर्यगुणों को कान का अतिथि बनाया तथा कामदेव ने उन्हें धैर्य से डिगाने के लिये बाण चढ़ाकर धनुष की डोरी को कान तक खींचा अर्थात् राजा नल दमयन्तीविषयक बातों को बड़े ध्यान से सुनते थे।

संस्कृत–व्याख्या – पद्येऽस्मिन् दमयन्तीं प्रति राज्ञः नलस्य श्रवणानुरागं वर्णयन् कविः प्राह – अकारीति। तेन = पूर्वोक्तेन प्रसिद्धेन, क्षमाभुजा = भूपालकेन, भीमनृपात्मजाश्रयः = भीमभूपकन्यकानिष्ठः, गुणः = सौन्दर्यादिगुणः, श्रवणातिथिः = कर्णातिथिः श्रोत्रेन्द्रियविषय इति भावः, अकारि = कृतः, तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा = नलोन्नतधीरतानाशसज्जबाणेन, स्मरेण च = मन्दनेन च, स्वात्मशरासनाश्रयः = निजचापसंश्रयः, गुणः = प्रत्यञ्चां, निजकर्णातिथिः = आत्मकर्णविषयः, अकारि = कृतः। दमयन्तीगुणश्रवणात् नलचेतसि अत्यधिकः कामविकारोत्पन्न इत्यर्थः।

समास – भीमनृपात्मजाश्रयः = भीमश्चासौ नृपः (कर्मधारय), तस्यआत्मजा (षष्ठी तत्पुरुष), भीमनृपात्मजा आश्रयः यस्य सः (बहुव्रीहि)। श्रवणातिथिः = श्रवणयोः अतिथिः (षष्ठी तत्पुरुष)। तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा = नलस्य उच्चं यद्धैर्यं तस्य व्ययाय संहितः इषुः येन,तेन तदुच्चधैर्यनाशाय संहितेषुणा (बहुब्रीहि)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – क्षमां भुनक्ति इति क्षमाभुक्, क्षमा+भुज्+क्विप्। अकारि = 'कृ' धातु लृङ् लकार।

अलङ्कार – यहाँ श्लेष अलङ्कार है। 'गुण' शब्द के दो अर्थ हैं –सौन्दर्यादि गुण एवं धनुष की प्रत्यञ्चा। 'स्वात्मशरासन' में पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार है, क्योंकि 'स्व और 'आत्मन्' शब्द के प्रयोग से पहले पुनरुक्ति होती है, किन्तु बाद में 'सु' शोभन अर्थ के कारण पुनरुक्ति समाप्त हो जाती है।

प्रसङ्ग –

नल के धैर्यशालित्व का वर्णन करते हुए करते हुए कवि कहता है–

अमुष्य धीरस्य जयाय साहसी तदा खलु ज्यां विशिखैः सनाथयन्।

निमज्जयामास यशांसि संशये स्मरस्त्रिलोकीविजयार्जितान्यपि ।। 45 ।।

अन्वय–तदा अमुष्य धीरस्य जयाय ज्यां विशिखैः सनाथयन् साहसी स्मरः त्रिलोकी विजयार्जितानि यशांसि अपि संशये निमज्जयामास खलु।

शब्दार्थ–तदा = तब। अमुष्य = इस।धीरस्य = धैर्यशाली नल के । जयाय = जीतने के लिए। ज्याम् = प्रत्यञ्चा को। विशिखैः = बाणों से। सनाथयन् = संयुक्त करते हुए। साहसीस्मरः = साहसी कामदेव ने। त्रिलोकीविजयार्जितानि = तीनों लोकों को जीतने से प्राप्त हुए। यशांसि अपि = यश को भी। संशये = संशय में। निमज्जयामास = डाल दिया। खलु = निश्चय ही।

हिन्दी में अनुवाद – तब इस धैर्यशाली नल को जीतने के लिए प्रत्यञ्चा को बाणों से संयुक्त करते हुए साहसी कामदेव ने तीनों लोकों को जीतने से प्राप्त हुए यश को भी संदेह में निश्चय ही डाल दिया।

हिन्दी–व्याख्या – तात्पर्य यह है कि तीनों लोकों को जीतने के कारण कामदेव ने बहुत सा यश अर्जित कर लिया था,किन्तु विना अपनी शक्ति का अनुमान किये ही जब उसनेमहान् धैर्यशाली नल को जीतने के लिए प्रत्यञ्चा पर बाणों को चढ़ाया, तो कवि कल्पना करता है कि मानों कामदेव विवेकहीन हो गया था, क्योंकि नल से पराजित होने पर उसका पूर्वसंचित यश भी समाप्त हो जायेगा। यहाँ द्वारा कामदेव के साहस की प्रशंसा की गयी है। महान् धैर्यशाली पुरुष नल पर विजय पाना कामदेव के लिए दुष्कर कार्य था, फिर भी उसने अपने पूर्वार्जित यश की चिन्ता न करते हुए ऐसा करने का प्रयास किया। विना साहस के कोई भी बड़ा या दुष्कर कार्य नहीं कर सकता–"न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति।" इसलिए कवि स्मर के लिये साहसी विशेषण का प्रयोग किया है।

संस्कृत – व्याख्या – पद्येऽस्मिन् कविः नलस्य धैर्यशालित्ववर्णनं करोति– अमुष्येति। तदा = तस्मिन् काले, अमुष्य धीरस्य = धैर्यशालिनः अस्य नलस्य, जयाय = विजयाय, ज्याम् =मौर्वीं, विशिखैः = चापैः, सनाथयन्= संयुक्तां कुर्वन्, संयोजयन्नित्यर्थः, साहसी = बली, स्मरः = कामदेवः, त्रिलोकीविजयार्जितानि अपि = त्रिभुवनविजयसंचितानि अपि, यशांसि = कीर्तीः, संशये = संदेहे, निमज्जयामास = स्थापयामास। खलु = निश्चयेन।

समास – त्रिलोकीविजयार्जितानि = त्रयाणां लोकानां समाहारः, त्रिलोक्या विजयः (षष्ठी तत्पुरुष), तेन अर्जितानि, तेन (तृतीय तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – साहसी – साहसम् अस्यास्तीति, 'साहस' शब्द से "अत इनिठनौ" सूत्र से 'इनि' प्रत्यय। जयाय = जेतुमित्यर्थः, "तुमर्थाच्च भाववचनात्" सूत्र से चतुर्थी। निमज्जयामास = नि उपसर्गपूर्वक टुमस्जो शुद्धौ धातु से णिच् , लिट् लकार प्र.पु.एकवचन।

कोश – ज्या = "मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः"इत्यमरः।विशिख = "पृषत्कबाणविशिखा अजिह्मगखगाशुगाः" इत्यमरः।

अलङ्कार – इस पद्य में कामदेव के संशय का सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध का कथन किया गया है, अतः यहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार है।

प्रसङ्ग – दैवयोग से नल के गुणों कावैशिष्ट्य दिखाते हुए कवि कहता है–

अनेन भैमीं घटयिष्यतस्तथा विधेरवन्ध्येच्छतया व्यलासितत्।

अभेदि तत्तादृगनङ्गमार्गणैर्यदस्य पौष्पैरपि धैर्यकञ्चुकम्।। 46 ।।

अन्वय – अनेन भैमीं घटयिष्यतः विधेः अवन्ध्येच्छतया तथा व्यलासि यत् तादृग् अस्य तत्धैर्यकञ्चुकंपौष्पैरपि अनङ्गमार्गणैः अभेदि।

शब्दार्थ – अनेन = इन नल के । भैमीं = दमयन्ती को । घटयिष्यतः = मिलाने वाले । विधेः = ब्रह्मा के या भाग्य के । अवन्ध्येच्छतया = दृढ़ संकल्प द्वारा ही । तथा = उस प्रकार का । व्यलासि = विलास था।यत् =

जो। अस्य = इस नल का । तादृग् = वैसा (दुर्भेद्य)। धैर्यकञ्चुकम् = धैर्यरूपी कवच । पौष्पैरपि = पुष्पों से निर्मित भी । अनङ्गमार्गणैः = कामदेव के बाणों से।अभेदि = विदीर्ण हो गया।

हिन्दी में अनुवाद – इन नल के साथ भीमपुत्री दमयन्ती को मिलाने वाले ब्रह्मा के दृढ़ सङ्कल्प का ही वह विलास था, जो इनका अर्थात् नल का उस प्रकार का धैर्य रूपी कवच कामदेव के पुष्पनिर्मित बाणों से विदीर्ण कर दिया गया।

हिन्दी–व्याख्या – भाव यह है कि नल अत्यन्त धैर्यशाली था। लेकिन उसका धैर्य कामदेव के पुष्प निर्मित बाण से ही नष्ट हो गया । यहाँ कवि कल्पना करता है कि कामदेव वस्तुतः नल का धैर्य नष्ट करने में समर्थ न था। वह तो भाग्य या ब्रह्मा का ही नल को दमयन्ती से मिलाने की दृढ़ इच्छा थी, जिसके कारण काम ने दमयन्ती विषयक नल के धैर्यरूपी कवच को भेद दिया अर्थात् नल दमयन्ती से मिलने के लिये आतुर हो उठा। पुष्पबाण से नल का धैर्यकवच का विदीर्ण होना; यह ब्रह्मा का सफल अभिलाष था।

संस्कृत – व्याख्या – पद्येऽस्मिन् दैवसहायात् नलविजयोद्यमः सफल इति प्रतिपादयति –**अनेनेति।** अनेन = नलेन, भैमीं = भीमसुतां दमयन्तीं, घटयिष्यतः = योजयिष्यतः, विधेः = भाग्यस्य ब्रह्मणोवा, अबन्ध्येच्छतया = सफलेच्छया, तथा = तेनप्रकारेण, व्यलासि = विलसितम्। यत् = यतः,तादृग् = तथाविधम् अभेद्यम्, धैर्यकञ्चुकम् = धीरताकवचम्, पौष्पैरपि = पुष्पनिर्मितैरपि, न तु कठिनैरिति भावः, अनङ्गमार्गणैः = स्मरशरैः, अस्य= नलस्य, अभेदि = छिन्नं विदारितं वा।

समास – अबन्ध्येच्छतया = न बन्ध्या (नञ् तत्पुरुष), अबन्ध्या इच्छा यस्य सः (बहुव्रीहि), अबन्ध्येच्छस्य भावः अबन्ध्येच्छता,तया। अनङ्गमार्गणैः = अनङ्गस्य मार्गणाः, तैः (षष्ठी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–भैमीं = भीमस्य अपत्यं स्त्री भैमी, ताम्, भीम+अण्+ङीप्+अम्।घटयिष्यतः = घट+णिच्+लृट्+शतृ+ङस्। व्यलासि = वि+लस्+लुङ् भावे। पौष्पैः = पुष्प+अण्+भिस्।

कोश – अनङ्गः = "कन्दर्पो दर्पकोऽनङ्गः" इत्यमरः। कञ्चुकः = "कञ्चुको वारबाणोऽस्त्री" इत्यमरः।

अलङ्कार – इस पद्य में विरोधाभास अलङ्कार है, क्योंकि पुष्पबाण से कवच का विदीर्ण होना, इसमें विरोध प्रतीत होता है, किन्तु विधि की इच्छा के कारण विरोध का परिहार हो जाता है। 'धैर्यकञ्चुकम्' में रूपक अलङ्कार है।

विशेष – यहाँ पौराणिक आख्यान की ओर सङ्केत किया गया है। भगवान् शङ्कर ने कामदेव को भस्म कर दिया था। तब उसकी पत्नी रति ने भगवान् शङ्कर की तपस्या की। तपस्या से प्रसन्न होकर उन्होंने रति को वरदान दिया कि अब आपका पति अनङ्ग कहलायेगा और सभी लोगों में यह निवास करेगा।

प्रसङ्ग–

कवि कामदेव की तुलना में ब्रह्मा की भी शक्ति को तुच्छ बताते हुए कहता है–

किमन्यदद्यापि यदस्त्रतापितः पितामहो वारिजमाश्रयत्यहो । ।

स्मरं तनुच्छायतया तमात्मनः शशाक शङ्के स न लङ्घितुं नलः।। 47 ।।

अन्वय – किमन्यत् अहो यदस्त्रतापितः पितामहः अद्यापि वारिजमाश्रयति। तं स्मरं स नलः आत्मनः तनुच्छायतया लङ्घितुं न शशाक, (इति)शङ्के।

शब्दार्थ – किमन्यत् = अन्य क्या ?। अहो = आश्चर्य है। यत् = जिसके। अस्त्रातापितः अस्त्रों से संतप्त। पितामह ब्रह्मा। अद्यापि = आज भी। वारिजमाश्रयति = कमल का आश्रय लेते हैं। तं = उस। स्मरं = कामदेव को। स नलः = वह राजा नल। आत्मनः अपने। तनुच्छायतया = शरीर की छाया होने के कारण। लङ्घितु = लाँघने के लिये । न शशाक = समर्थ न हो सका। शङ्के = ऐसी शङ्का करता हूँ।

हिन्दी में अनुवाद – और क्या ? आश्चर्य है, जिस कामदेव के अस्त्रों से संतप्त होकर ब्रह्मा आज भी कमल का आश्रय लेते हैं । उस कामदेव को वह राजा नल अपने शरीर की छाया होने के कारण लाँघने के लिये समर्थ न हो सके, (ऐसी) शङ्का करता हूँ।

हिन्दी–व्याख्या – भाव यह है कि जिस कामदेव ने अपने अस्त्रों से ब्रह्मा को ऐसा वेधा कि वह आज भी सन्ताप निवारण के लिये कमल पर विराजित है तो कामदेव का ही कान्तिस्वरूप नल उसको लाँघने में कैसे समर्थ हो सकता है। जिस प्रकार मनुष्य अपनी परछायीं को लाँघ नहीं सकता, उसी प्रकार नल कामदेवरूपी अपनी परछायीं को लाँघने में समर्थ न हो सके अर्थात् काम सन्ताप से वे बच न सके।

संस्कृत – व्याख्या – पद्येऽस्मिन् कामदेवत्वेन धैर्यभङ्गमेव कविः कथयति –**किमन्यदिति**।किमन्यत् = अन्यत्किं उच्यते, अहो = आश्चर्यम्, यदस्त्रतापितः =यस्य कामदेवस्य आयुधपीडितः, पितामहः = ब्रह्मा, अद्यापि = अधुनाऽपि, वारिजम् = नीरजम्, आश्रयति = अवलम्बते, कामसन्तामदूरीकर्तुं जलजासनमधिवसतीति भावः, तं = स्मरं, तं = तं पूर्वोक्तं कामं, सः = पूर्वोक्तः नलः, आत्मनः = स्वस्य, तनुच्छायतया = देहस्यप्रतिबिम्बतया, लङ्घितुं = अतिक्रमितुम्, न शशाक = न अशकत्, इति शङ्के = शङ्कां करोमि।

समास – तनुच्छायतया = तनो इव छाया यस्य सः (बहुव्रीहि), तस्य भावः,तया।यदस्त्रतापितः = यस्य अस्त्राणि (षष्ठी तत्पुरुष), तैः तापितः (तृतीया तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – वारिजम् = वारिणि जातम्, तत्, वारि+जन्+ड+अम्।आश्रयति = 'आङ्' उपसर्गपूर्वक 'श्रिञ्'धातु लट्लकार, प्र.पु.एकवचन।लङ्घितुं = लङ्घि+तुमुन् प्रत्यय। शशाक = 'शक्' धातु लिट्लकार, प्र.पु. एकवचन।

कोश – छाया = "छाया त्वनातपे कान्तौ" इति वैजयन्ती।

अलङ्कार – इस पद्य में 'ब्रह्मा भी कामदेव का अतिक्रमण कर सकने में समर्थ नहीं है' का अर्थापत्ति से अर्थ निकलता है'तो नल की क्या सामर्थ्य।' अतः कैमुतिन्यायेन यहाँ अर्थापत्ति अलङ्कार है। 'तनुच्छाया' में उपमा अलङ्कार है। कामदेव की छाया और नल की छाया दोनों में अभेद सम्बन्ध होने के कारण अतिशयोक्ति अलङ्कार है।

विशेष – इस पद्य में पौराणिक आख्यान की ओर सङ्केत किया गया है। पौराणिक आख्यानों में ब्रह्मा को कमलासन कहा गया है। संतप्त व्यक्ति शीतल वस्तु का आश्रय ग्रहण करता है। कवि सम्भावना करता है कि कामपीडित ब्रह्मा ने भी शीतलता के लिये वारिज का आश्रय लिया।

प्रसङ्ग –

कवि नल के हृदय में दमयन्ती के प्रवेश का वर्णन करते हुए कहता है –

उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भितं नवोपहारेण वयस्कृतेन किम्।।

त्रपासरिद्दुर्गमपि प्रतीर्यसा नलस्य तन्वी हृदयं विवेश यत्।। 48।।

अन्वय – यत् तन्वी सा त्रपासरिद्दुर्गमपि प्रतीर्य नलस्य हृदयं विवेश तत् वयस्कृतेन नवोपहारेण उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भितम् किम् ।

शब्दार्थ – यत् = जो। तन्वी = कृशाङ्गी। सा = उस दमयन्ती ने। त्रपासरिद्दुर्गमपि = लज्जारूपी नदी किले को भी। प्रतीर्य = पार करके। नलस्य = नल के। हृदयम् = हृदय में। विवेश = प्रविष्ट हो गयी। वयस्कृतेन = युवावस्था से किये गये। नवोपहारेण = नये उपहार से युक्त। उरोभुवा = वक्षस्थल पर उत्पन्न। कुम्भयुगेन = स्तनरूप दो कलशों से। जृम्भितम् किम्= किया था क्या।

हिन्दी में अनुवाद – जो कृशाङ्गी उस दमयन्ती ने लज्जारूपी नदीके किले को भी पार करके नल के हृदय में प्रवेश कर लिया, वह युवावस्था में किये गये नये उपहार से युक्त छाती पर उत्पन्न (स्तनरूप) दो कलशों का विलास था क्या।

हिन्दी–व्याख्या – भाव यह है कि जिस प्रकार लोक में कोई कृशकाय व्यक्ति छाती पर सटे हुए दो कलशों को रखकर उसकी सहायता से नदी को पार कर अभीष्ट तक पहुँच जाता है, उसी प्रकार दमयन्ती भी यौवन से प्राप्त हुए कलशाकार विशाल स्तनों के सहारे लज्जारूपिणी नदी के किले को पार करके नल के हृदय में प्रविष्ट हो गयी।

संस्कृत–व्याख्या – पद्येऽस्मिन् कविः नलस्य चित्ते दमयन्त्याः प्रवेशवर्णनं कुर्वन्नाह–**उरोभुवेति**। यत् = यतः, तन्वी = कृशाङ्गी, सा = दमयन्ती, त्रपासरिद्दुर्गमपि = ब्रीडानदीप्राकारमपि, प्रतीर्य = तीर्त्वा, नलस्य = निषधाधिपस्य नलस्य, हृदयम् = चित्तं, विवेश = प्रविष्टवती;प्रविष्टेत्यर्थः, तत्=इदम्; नलहृदयप्रवेशयन्नित्यर्थः, वयस्कृतेन =

यौवनविहितेन, नवोपहारेण = नूतनोपायनेन, उरोभुवा =वक्षस्थलोत्पन्नेन, कुम्भयुगेन = कलशयुगलेन; कुचद्वयेन इति शेषः, जृम्भितंकिम् =निष्पादितम् विलसितम् वा किमु।

समास – नवोपहारेण = नवश्चासौ उपहारः, तेन (कर्मधारय)। कुम्भयुगेन = कुम्भयोः युगम्, तेन (षष्ठी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – प्रतीर्य = 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'तृ' धातु से 'क्त्वा' (ल्यप्) प्रत्यय। विवेश 'विश् प्रवेशने' धातु 'लिट्' लकार प्र.पु. एकवचन। जृम्भितम् = 'जृभि गात्रविनामे' धातु से 'क्त' प्रत्यय।

कोश–त्रपा = "मन्दाक्षं ह्रीस्त्रपा व्रीडा लज्जा" इत्यमरः। उपहार = "उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा" इत्यमरः।

अलङ्कार – इस पद्य में रूपक, उत्प्रेक्षा एवम् अतिशयोक्ति अलङ्कार है।

प्रसङ्ग–

कवि कामपीडित नल की जागरावस्था कावर्णन करते हैं –

अपह्नुवानस्य जनाय यन्निजामधीरतामस्य कृतं मनोभुवा।

अबोधि तज्जागरदुःखसाक्षिणी निशा च शय्या च शशाङ्ककोमला।। 49।।

अन्वय – निजामधीरतां जनाय अपह्नुवानस्य अस्य मनोभुवा यत् कृतम्, तत्जागरदुःखसाक्षिणी शशाङ्ककोमला निशा शय्या च अबोधि ।

शब्दार्थ – निजामधीरताम् = अपनी आधीरता अथवा चंचलता को । जनाय = लोगों से। अपह्नुवानस्य = छिपाते हुए। अस्य = इन नल की । मनोभुवा = कामदेव ने। यत् = जो जागर, प्रलापादि अवस्था। कृतम् = किया। तत् = उसे। जागरदुःखसाक्षिणी = जागरण के कष्ट को प्रत्यक्ष करने वाली। शशाङ्ककोमला = मृगविशेष के गोद के समान कोमल अथवा चन्द्रमा के समान सुन्दर। निशा = रात्रि। शय्या च = और शय्या । अबोधि = जानती थी।

हिन्दी में अनुवाद – लोगों से अपनी अधीरता अथवा चंचलता को छिपाने वाले राजा नल की जो अवस्था थी, उसेजागरण, प्रलाप आदि के दुःखों को प्रत्यक्ष देखने के कारण चन्द्रमा से रमणीय रात्रि एवं मृगविशेष के गोद के समान कोमल शैया जानती थी।

हिन्दी–व्याख्या – भाव यह है कि नल की दमयन्ती के विरह से उत्पन्न अधीरता को कोई भी नहीं जानता था केवल शैया या रात्रि ही जानती थी, क्योंकि वह रात भर जागते ही व्यतीत करते थे अर्थात्दमयन्ती के विरह के कारण उन्हें रात में नींद नहीं आती थी।

संस्कृत – व्याख्या – पद्येऽस्मिन् कविः दमयन्त्याः विरहातुरस्य नलस्य जागरावस्थां प्रतिपादयति –**अपह्नुवानस्येति।** निजामधीरताम् = स्वीयाम् अधैर्यम्, चांचल्यमिति भावः, जनाय = लोकाय, अपह्नुवानस्य = गोपायतः, अस्य =

नलस्य, मनोभुवा = मनसिजेन, यत् = जागरप्रलापादिकं,कृतम् = विहितम् तत्, जागरदुःखसाक्षिणी = जागरणक्लेशसाक्षीभूता, शशाङ्ककोमला = चन्द्रवत् कोमलारमणीया वा अथवा मृगविशेषस्य क्रोडवत् मृद्वी निशा = यामिनी, शय्या च = आस्तरणञ्च, अबोधि = ज्ञातवती।

समास – अधीरताम् = न धीरता, ताम् (नञ् तत्पुरुष)। शशाङ्ककोमला = शशः अङ्कः यस्य सः (बहुव्रीहि, यह विग्रह शय्या का विशेषण है), शशाङ्केन कोमला (तृतीया तत्पुरुष, यह विग्रह रात्रि का विशेषण है)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – अपह्नुवानस्य = 'अप्' उपसर्गपूर्वक 'हनुङ् अपनयने'धातु,लट्लकार, शानच् आदेश, षष्ठी एकवचन। मनोभुवा = मनसि भवतीति मनोभूः, तेन, मनसि+भू+क्विप्+टा। शय्या = शेते अस्यामिति, 'शीङ् स्वप्ने' धातु से 'क्यप्' प्रत्यय एवं "अयङ् यि क्ङिति"सूत्र से 'अयङ्' आदेश। अबोधि =बुध् लुङ् लकार, प्र. पु. एकवचन। निशा = नितरां श्यति तनूकरोति व्यापारान् इति निशा।

अलङ्कार – इस पद्य में तुल्ययोगिता एवं उपमा अलङ्कार हैं।

प्रसङ्ग–

कवि कामपीडित नल की मनस्विता का वर्णन करते हुए कहता है–

स्मरोपतप्तोऽपि भृशं न स प्रभुर्विदर्भराजं तनयामयाचत।

त्यजन्त्यसूञ्शर्म च मानिनो वरं त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम्।। 50 ।।

अन्वय – भृशं स्मरोतप्तोऽप प्रभुः विदर्भराजं तनयां न अयाचत। मानिनः असून् शर्म च त्यजन्ति (इति) वरं तु एकम् अयाचितव्रतम् न त्यजन्ति ।

शब्दार्थ – भृशं = अतिशय स्मरोपतप्तोऽपि = काम से पीड़ित होने पर भी। सः प्रभुः = उन राजा नल ने। विदर्भराजम् = विदर्भ के राजा भीम से। तनया = पुत्री दमयन्ती को। न अयाचत = नहीं माँगा । मानिनः = कीर्ति युक्त या स्वाभिमानी पुरुष । असून् प्राण । शर्म च और सुख । त्यजन्ति = त्याग देते हैं। वरं = यह श्रेष्ठ है। तु = किन्तु एकम् अयाचितव्रतम् = एक अयाचना के व्रत को। न = नहीं। त्यजन्ति = त्यागते हैं।

हिन्दी में अनुवाद – अतिशय कामपीडित होने पर भी उन राजा नल ने विदर्भ के राजा से उनकी पुत्री दमयन्ती को नहीं माँगा। मनस्वी या स्वाभिमानी पुरुष प्राण और सुख त्याग देना श्रेष्ठ मानते हैं, लेकिन अयाचना के व्रत को नहीं छोड़ते ।

हिन्दी–व्याख्या – भाव यह है कि स्वाभिमानी लोगों का यह स्वभाव है कि वे सभी सुख का त्याग कर सकते हैं, यहाँ तक कि प्राणों को भी त्याग देते हैं, किन्तु अयाचना के व्रत को कभी भी नहीं छोड़ते। महात्मा तुलसीदास ने भी कुछ ऐसी ही बातें कही हैं –

तुलसी कर पर कर करी, कर तर कर न करी।

जा दिन कर तर कर करी, ता दिन मरन भली।।

संस्कृत – व्याख्या – पद्येऽस्मिन् कविः नलस्य मनस्वितां वर्णयन्नाह –**स्मरेति**। भृशं = अतिशयम्, स्मरोतप्तोऽपि = कन्दर्पसंतापपीडितोऽपि, सः प्रभुः = सः भूपतिः नलः, विदर्भराजं = विदर्भदेशस्यनृपतितनयाम् = पुत्रीं दमयन्तीं, न अयाचत = न अयाचितवान् । (यतोहि) मानिनः = स्वात्माभिमानशालिनः जनाः, असून् = प्राणान्, शर्म च = सुखञ्च (इति) वरं = श्रेष्ठम्, त्यजन्ति = उत्सृजन्ति, किन्तु एकम् = अद्वितीयम्, अयाचितव्रतम् = अयाचनानियमं, न त्यजन्ति = न जहति। मनस्विनां प्राणादित्यागकष्टादपि याचनाकष्टं सुदुःसहं भवतीति भावः।

समास – स्मरोपतप्तः = स्मरेण उपतप्तः (तृतीया तत्पुरुष)। विदर्भराजम् = विदर्भाणां राजा, तम् (षष्ठी तत्पुरुष)। अयाचितव्रतम् = न याचितम् (नञ्), अयाचितं च तद् व्रतम् (कर्मधारय)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – अयाचत = याचृ याच्ञायाम् धातु, लङ्लकार, प्र.पु. एकवचन।त्यजन्ति = त्यज् धातु, लट्लकार, प्र.पु. बहुवचन।

कोश–वरः = "देवाद् वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबे मनाक् प्रिये" इत्यमरः।

अलङ्कार – इस पद्य में पूर्वार्ध वाक्य विशेष वाक्य है और उत्तरार्ध वाक्य सामान्यतथाविशेष का सामान्य से समर्थन कराया गया है, अतः अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

प्रसङ्ग–

नल की दमयन्तीजन्य विरह–व्यथा को सूचित करते हुए कवि कहता है–

मृषाविषादाभिनयादयं क्वचिज्जुगोप निःश्वाससततिं वियोगजाम्।

विलेपनस्याधिकचन्द्रभागताविभावनाच्चापललाप पाण्डुताम्।। 51।।

अन्वय–अयं वियोगजां निःश्वाससततिं क्वचित् मृषा विषादाभिनयाद् जुगोप, पाण्डुतां च विलेपनस्याधिकचन्द्रभागताविभावनात् अपललाप।

शब्दार्थ – अयं = नल ने । वियोगजां = वियोगजन्य। निःश्वाससततिं = निश्वास पङ्क्ति को। क्वचित् = किसी के प्रति । मृषा = झूठे । विषाद = दुःख के । अभिनयाद् बहाने से। जुगोप = छिपाया । विलेपनस्याधिक = लेप के अधिक। चन्द्रभागताविभावनात् = कर्पूर मिश्रित होने के बहाने से । पाण्डुताम् = पीलेपन को । अपललाप = छिपाया ।

हिन्दी में अनुवाद – नल ने वियोगजन्य निःश्वास पंक्ति को किसी के प्रति झूठे दुःख के बहाने से छिपाया। लेप के अधिक कर्पूर मिश्रित होने के बहाने से (शारीरिक) पीलेपन को छिपाया।

हिन्दी–व्याख्या – भाव यह है कि नल का शरीर दमयन्ती के विरह से पीला पड़ गया है। इस पीलेपन को चन्दनादि के लेप में कर्पूर अधिक हो गया है, ऐसा कहकर छिपाते थे।

संस्कृत–व्याख्या – पद्येऽस्मिन् नलस्य दमयन्तीजन्यां विरहव्यथां सूचयन् कविः आह –**मृषेति।** अयम् = पुरो वर्तमानः नलः, वियोगजाम् = दमयन्तीविरहोत्पन्नम्, निःश्वासततिम्= निःश्वासावलिम्, क्वचित् = कस्मिंश्चिद्स्थाने, मृषाविषादाभिनयाद् = मिथ्याकष्टप्रकाशनात्, जुगोप = गोपितवान्। विलेपनस्य = चन्दनादिलेपनद्रव्यस्य, अधिकचन्द्रभागताविभावनात् = अधिककर्पूरांशताप्रकाशनात्, पाण्डुतां च = विरहजन्यपीतवर्णतां च, अपललाप=निह्नुतेस्म।

समास – मृषाविषादाभिनयाद् = मृषा चासौ विषादः (कर्मधारय), मृषाविषादस्य अभिनयः, तस्मात् (षष्ठी तत्पुरुष)। निःश्वासततिम् = निःश्वासानां ततिः, ताम् (षष्ठी तत्पुरुष)।अधिकचन्द्रभागताविभावनात् = चन्द्रस्य भागः(षष्ठी तत्पुरुष), तस्य भावः चन्द्रभागता, अधिकचन्द्रभागतायाः विभावनम्, तस्मात्(षष्ठी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – वियोगजाम् = वियोगात् जाता, ताम्, 'वियोग' उपपदपूर्वक 'जन्' धातु से 'ड' प्रत्यय, स्त्रीत्वविवक्षा में 'टाप्' प्रत्यय।जुगोप = 'गुपूरक्षणे' धातु, लिट्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। पाण्डुताम् = पाण्डोर्भावः, ताम्,पाण्डु+तल्+टाप्+अम्। अपललाप ='अप्' उपसर्गपूर्वक 'लप् व्यक्तायां वाचि' धातु लिट्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। अभिनय = 'अभि' उपसर्गपूर्वक 'नि' धातु से 'अच्' प्रत्यय।

कोश–चन्द्रः = "घनसारश्चन्द्रसञ्ज्ञः सिताभ्रो हिमवालुका" इत्यमरः। पाण्डु = "हरिणा पाण्डुरः पाण्डुः" इत्यमरः। अपलापः = "अपलापस्तु निह्नवः" इत्यमरः।

अलङ्कार – इस पद्य में व्याजोक्ति अलङ्कार है, क्योंकि विरहजन्यपीतता को भिन्न वस्तु से छिपाने का कथन किया गया है। व्याजोक्ति अलङ्कार का लक्षण है–"व्याजोक्तिर्गोपनं व्याजादुद्भिन्नस्यापि वस्तुनः" (साहित्यदर्पण, 10/120)। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ मीलन अलङ्कार भी है –"मीलनं वस्तुना यत्र वस्त्वन्तरनिगूहनम्।"

प्रसङ्ग–

नल की कामावस्था का ही चित्रण करते हुए कवि पुनः कहता है–

शशाक निह्नोतुमयेन तत्प्रियामयं बभाषे यदलीकवीक्षिताम् ।

समाज एवाऽऽलपितासु वैणिकैर्मुमूर्च्छ यत्पञ्चममूर्च्छनासु च ।। 52।।

अन्वय–अयं यत् अलीकवीक्षितां प्रियां वभाषे यत् वैणिकैः पञ्चममूर्च्छनासु आलपितासु समाज एव मुमूर्च्छ, अयं तत् निह्नोतु न शशाक।

शब्दार्थ – अयम् = यह(नल)। यत् = जो। अलीकवीक्षितां = मिथ्या देखी गयी। प्रियां = प्रिया दमयन्ती को। बभाषे = कहा। यत् = जो। वैणिकैः = वीणा वादकों द्वारा । पञ्चममूर्च्छनासु = पञ्चम राग की मूर्च्छनाओं के। आलपितासु = आलापने पर। समाज एव = समाज में ही । मुमूर्च्छ = मूर्च्छित हो गया। अयेन = दैववश। निह्नोतुं = छिपाने में। शशाक = समर्थ हो सका।

हिन्दी में अनुवाद – यह नल जो मिथ्या देखी गयीप्रिया दमयन्ती से कहा और जो वीणावादकों द्वारा पञ्चम राग की मूर्च्छनाओं के आलापने पर समाज में ही मूर्च्छित हो गया, दैववश उसे छिपाने में नल समर्थ हो सका।

हिन्दी–व्याख्या – भाव यह है कि दमयन्ती के सामने न होने पर भी नल ने उससे जो कुछ कहा वह उनकी कल्पना तक ही सीमित रहा तथा वीणावादकों द्वारा पञ्चम राग के आलापने पर जो उनमें आनन्दातिशय हुआ, उसके कारण ही मूर्च्छा उत्पन्न हुई है ऐसा सभासदों ने समझा, लेकिन नल अपनी इस व्यथा को कामदेव से न छिपा सके ।

संस्कृत–व्याख्या – अत्र कविः नलस्य प्रलापाभिधानां कामावस्थां प्रतिपादयति – शशाकेति। अयम् = नलः, यत् = यत्किञ्चिदपि, अलीकवीक्षितां = मिथ्याद्रष्टां, प्रियां = दमयन्तीं, वभाषे =अवोचत्, यत् = यतः, वैणिकैः = वीणावादन निपुणैः, पञ्चममूर्च्छनासु = पञ्चमरागारोहावरोहकालेषु, आलपितासु = सूच्चरितासु, समाज एव च = सभायां जनसमूह एवच, मुमूर्च्छ = मूर्च्छां प्राप्तवान्, स्फुटतां न प्रापेति भावः,अयेन = दैववशेन, तत् = सर्वं भाषितं, निह्नोतुं = आच्छादयितुं, शशाक = अशक्नोत्।

समास =अलीकवीक्षितां = अलीकं यथा स्यात्तथा वीक्षिता, ताम् (सुप्सुपा)।पञ्चममूर्च्छनासु = पञ्चमस्य मूर्च्छनाः, तासु (षष्ठी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – आलपितासु ='आङ्' उपसर्गपूर्वक 'लप्' धातु 'क्त' प्रत्यय, स्त्रीत्वविवक्षा में टाप्, सप्तमी विभक्ति, बहुवचन। मुमूर्च्छ = 'मूर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोः' धातु लिट्लकार प्र. पु. एकवचन। निह्नोतुं = 'नि' उपसर्गपूर्वक 'हनुङ् अपनयने' धातु से तुमुन् प्रत्यय। शशाक = 'शक्लृ मर्षणे' धातु लिट्लकार प्र. पु. एकवचन।

अलङ्कार – इस पद्य में मूर्च्छ मूर्च्छ इस प्रकार व्यञ्जन समूह का एक बार अनेक प्रकार से कथन होने के कारण छेकानुप्रास अलङ्कार है। छेकानुप्रास का लक्षण है –"छेको व्यञ्जनसंघस्य सकृत्साम्यमनेकधा" – साहित्यदर्पण।

विशेष – यहाँ पर कवि ने अपने सङ्गीतशास्त्र के ज्ञान का परिचय दिया है। सङ्गीत के सभी सप्तस्वरों के आरोह अवरोह को मूर्च्छना कहा जाता है। राग निकालने को अलाप कहा जाता है। पञ्चम स्वर को कोकिला कहते हैं। यह बहुत ही कोमल और उद्दीपक हुआ करता है। उद्दीपक गुण के कारण ही कवि ने यहाँ प्रयोग किया है।

प्रसङ्ग–

विरहजन्यव्यथा को न छिपा सकने के कारण कामविजयी नल की स्थिति का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि–

अवाप सापत्रपतां स भूपतिर्जितेन्द्रियाणां धुरि कीर्तितस्थितिः ।

असंवरे शम्बरवैरिविक्रमे क्रमेणतत्र स्फुटतामुपेयुषि ।। 53 ।।

अन्वय – जितेन्द्रियाणां धुरि कीर्तितस्थितिः स भूपतिः असंवरे शम्बरवैरिविक्रमे क्रमेण तत्र स्फुटतामुपेयुषि सापत्रपतां अवाप।

शब्दार्थ – जितेन्द्रियाणां धुरि = इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाले अग्रगामियों में या श्रेष्ठों में। कीर्तितस्थितिः = गायी गयी है कीर्ति जिसकी, कीर्तिमान् स्थापित करने वाला । सभूपतिः = वह राजा नल। असंवरे = न छिपने योग्य । शम्बरवैरिविक्रमे = कामदेव के पराक्रम के होनेपर । क्रमेण = शनैः शनैः । स्फुटतां = प्रकाशरूपता को । उपेयुषि = प्राप्त होने पर । सापत्रपतां = लज्जा युक्तता को । अवाप = प्राप्त हो गया।

हिन्दी में अनुवाद – जितेन्द्रियों में कीर्तिमान् स्थापित करने वाला वह राजा नल न छिपने योग्य कामदेव के पराक्रम के धीरे–धीरे प्रकाशरूपता को प्राप्त होने पर लज्जित हो गये।

हिन्दी – व्याख्या – भाव यह है कि राजा नल गोपनीय कामजन्य पाण्डुता आदि विकारों के सभा में प्रकट हो जाने से अन्य लोगों के समक्ष लज्जित हो गये। यहाँ कवि ने एक पौराणिक कथा की ओर सङ्केत किया है। कथा प्रसिद्ध है कि एक बार भगवान् शङ्कर ने अपने तृतीय नेत्र से कामदेव को भस्म कर दिया था। भस्म हो जाने पर उसने कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न के रूप में अवतार लिया और शम्बरासुर का वध किया तथा रति से विवाह किया।

संस्कृत–व्याख्या – पद्येऽस्मिन् विरहव्यथां निरोद्धुम् अशक्यस्य इन्द्रियविजयिनलस्य दशां वर्णयन् कविः कथयति **–अवापेति**। जितेन्द्रियाणां = हृषीकाणाम् इन्द्रियविजयिनां वा अग्रणीः, कीर्तितस्थितिः = स्तुतमर्यादः, सः =प्रसिद्धः, भूपतिः = महीपतिः नलः, असंवरे =निरोद्धुम् अशक्ये, शम्बरवैरिविक्रमे = मन्मथप्रभावेसति, क्रमेण = शनैः शनैः, स्फुटतां = प्रकटितां, उपेयुषि = प्राप्तवति सति, सापत्रपतां = सलज्जतां, अवाप= प्राप्नोत् ।सभामध्ये कामविकारे प्रकटिते सति नलः लज्जितो बभूवेति भावः।

समास – जितेन्द्रियाणां = जितानि इन्द्रियाणां यैः ते, तेषाम् (बहुव्रीहि)। कीर्तितस्थितिः = कीर्तिता स्थितिः येषां ते (बहुव्रीहि) ।असंवरे = अविद्यमानो संवरः यस्य सः, तस्मिन् (नञ् बहुव्रीहि) ।शम्बरवैरिविक्रमे = शम्बरस्य वैरी (षष्ठी तत्पुरुष), शम्बरवैरिणःविक्रमः, तस्मिन् (षष्ठी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – तत्र = तद्+त्रल्। असंवरः = 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'वृञ् वरणे' धातु "ग्रहवृहनिश्चिगमश्च"सूत्र से 'अप्' प्रत्यय। उपेयुषि = 'उप्' उपसर्गपूर्वक 'इण् गतौ' धातु "उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च" सूत्र से 'क्वसु' प्रत्यय, सप्तमी एकवचन। अवाप ='अव्' उपसर्गपूर्वक 'अप्लृ व्याप्तौ' धातु लिट्लकार, प्रथम पुरुष एकवचन।

अलङ्कार – यहाँ 'विक्रमे क्रमेण' में यमक अलङ्कार है, क्योंकि दोनों पद निरर्थक हैं।

प्रसङ्ग–

विवेकादि गुण भी नल के चापल्य को रोकने में समर्थ नहीं हुए, इसके कारण के विषय में कवि कहता है कि –

अलं नलं रोद्धुममी किलाऽभवन् गुणा विवेकप्रभवा न चापलम्।

स्मरः स रत्यामनिरुद्धमेव यत् सृजत्ययं सर्गनिसर्ग ईदृशः।। 54।।

अन्वय – अमी विवेकप्रभवा गुणा नलं चापलं रोद्धुम् अलं न अभवन् किल । अयम् ईदृशः सर्गनिसर्ग यत् सः स्मरः रत्पाम् अनिरुद्धम् सृजति एव।

शब्दार्थ – अमी = ये । विवेकप्रभवा = विवेक से उत्पन्न । गुणा = गुण समूह द्य नलं = नल के । चापलं = चापल्य को । रोद्धुम् = रोकने के लिए। अलं = समर्थ । न नहीं। अभवम् = हुए। अयम् = यह । ईदृशः = इस प्रकार का । सर्गनिसर्ग = सृष्टि का नियम है। यत् = कि । सः स्मरः = वह कामदेव। रत्याम् = रतिकाल में या कामदेव की पत्नी रति में । अनिरुद्धं = चञ्चल या अनिरुद्ध नामक पुत्र को । सृजति एव = बनाता है या सृष्टि करता है।

हिन्दी में अनुवाद – ये विवेकादि गुणसमूह नल के चापल्य को रोकने में समर्थ नहीं हो सके, (क्योंकि) यह इस प्रकार का सृष्टि का स्वभाव है कि वह कामदेव रति अर्थात् प्रेम में (व्यक्ति को) अनिरुद्ध अर्थात्चञ्चल बनाता या है या रति अर्थात्कामदेव की पत्नी रति के होने पर अनिरुद्ध अर्थात् प्रद्युम्नपुत्र को उत्पन्न करता है।

हिन्दी–व्याख्या – भाव यह है कि यौवनावस्था के प्रभाव से विवेकयुक्त होने पर भी जितेन्द्रिय नल चंचलता का शिकार हो गये, लेकिन क्यों ऐसा हुआ ? इसका उत्तर देते हुए कवि कहता है कि यह तो सृष्टि का नियम है कि रति या अनुराग उत्पन्न होने पर प्राणी विवेकहीन होने के कारण उसका जितेन्द्रियत्व नष्ट हो जाता है।

संस्कृत–व्याख्या – विवेकादयः गुणाः जितेन्द्रियस्य नलस्यचाञ्चल्यं निवारयितुं न समर्था, एतत्कारणविषये कविः कथयति – **अलमिति**। अमी विवेकप्रभवाः = इमे युक्तायुक्तविचारप्रमुखाः, गुणाः = निरभिमानत्व – निर्मत्सरत्व–धैर्यत्वप्रभृतयः गुणाः, नलम् = नैषधम्, चापलम् = चाञ्चल्यम्, रोद्धुम् = निवारयितुम्, अलम् = समर्थाः, न अभवन् = न बभूव, किल = निश्चयेन। अयम् = एषः, ईदृशः = एतादृशः, सर्गनिसर्गः = सृष्टिस्वभावः यत् = यस्मात् कारणात्, सः स्मरः =सः मनसिजः, रत्याम् = अनुरागे सति अनिरुद्धं = चपलमेव करोतीति, अथवा रत्याम् =रतीत्यभिधानायां पत्न्याम्, अनिरुद्धम् = अनिरुद्धाभिधानं पुत्रम्, सृजत्येव = उत्पादयत्येव ।

समास – विवेकप्रभवाः = विवेकः प्रभवः येषांते (बहुव्रीहि), अनिरुद्धम्=न निरुद्धम्, तत् (नञ् तत्पुरुष)। सर्गनिसर्गः = सर्गस्य निसर्गः (षष्ठी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – रोद्धुम् ='रुध्' धातु से'अलम्' पद के योग से "पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थेषु" सूत्र से 'तुमुन्' प्रत्यय। अभवन् = 'भू' धातु लङ्लकार, प्रथम पुरुष बहुवचन। रत्याम् = 'रम्' धातु 'क्तिन्' प्रत्यय तथा सप्तमी एकवचन। सृजति = 'सृज्' धातु लट्लकार प्रथम पुरुष एकवचन।

कोश – विवेकः = "विवेकः पृथगात्मता" इत्यमरः। अलम् ="अलं भूषणपर्याप्तिशक्ति– वारणवाचकम्" इत्यमरः।सर्गः ="सर्गः स्वभावनिर्मोक्षो निश्चयाध्यायसृष्टिषु" इत्यमरः। निसर्गः = "स्वरूपं च स्वभावश्च निसर्गश्च" इत्यमरः।रतिः = "रतिः स्मरप्रियायां च रागेऽपि सुरतेऽपि च" इति विश्वः।

अलङ्कार–इस पद्य में पूर्वार्ध वाक्य विशेष है और उत्तरार्ध वाक्य सामान्य। विशेष का समर्थन सामान्य कराये जाने के कारण यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

प्रसङ्ग –

अब कवि दमयन्तीप्राप्ति में सहायक हंसमिलन के कारणभूत उपवनविहार का वर्णन करते हुए कहता है –

अनङ्गचिह्नं स विना शशाक नो यदासितुं संसदि यत्नवानपि ।।

क्षणं तदाऽरामविहारकैतवान्निषेवितुं देशमियेष निर्जनम् ।। 55।।

अन्वय – स यत्नवानपियदा अनङ्गचिह्नं विना क्षणं संसदि आसितुं न शशाक, तदा आरामविहार कैतवात् निर्जनं देशं निषेवितुं इयेष । क्षण भर भी ।

शब्दार्थ – स = वह राजा नल। यत्नवानपि = यत्न करने पर भी। यदा = जब। अनङ्गचिह्नम् = काम से उत्पन्न चिन्हों के। विना = रहित। क्षणं संसदि = सभा में। आसितुम् = बैठने में। न शशाक = समर्थ न हो सके। तदा = तब। आरामविहारकैतवात् = उपवनविहार के बहाने से। निर्जनम् = जनरहित । देशम् = स्थान का । निषेवितुम् = सेवन करने की । इयेष = इच्छा की।

अनुवाद – वह राजा नल यत्न करने पर भी काम–चिह्नों से रहित क्षणभर सभा में बैठने में समर्थ न हो सके, तब उन्होंने उपवनविहार के बहाने से जनरहित देश स्थान का सेवन करने की इच्छा की।

हिन्दी–व्याख्या – भाव यह है कि अत्यधिक काम के द्वारा सताये जाने पर जब नल दमयन्तीविरहजन्यपाण्डुता, कृशता, प्रलाप, निःश्वास, मूर्च्छा आदि कामचिह्नों के विना नहीं रह सके, तो उन्होंने स्वयं को छिपाने के लिए एकान्त का सेवन करने की इच्छा संसद् में प्रकट की।

संस्कृत–व्याख्या–पद्येऽस्मिन् कविःनलस्य अभीष्टसिद्धिसहासयकदिव्यहंससमागम–हेतुकोपवनविहारं प्रस्तौति – **अनङ्गचिह्नेति** । सः = निषधाधिपः नलः, यत्नवानपि प्रयत्नकरणेऽपि,यदा = यस्मिन् काले,अनङ्गचिह्नम्विना = मूर्च्छादिकामप्रभावोत्पन्नविकारं विना, क्षणम्= कञ्चित्कालं यावत्, संसदि = समाजे, आसितुम् = स्थातुम्, न

शशाक = समर्थः न बभूव, तदा = तस्मिन् काले, आरामविहारकैतवात् = उद्यानविहारव्याजात्, निर्जनम्= जनरहितम्, देशम्= स्थानम्, निषेवितुम् = सेवितुम्, इयेष = ऐच्छत्, व्रीडापरिहारार्थमिति शेषः।

समास – अनङ्गचिह्नम् = अविद्यमानानि अङ्गानि यस्य सः अनङ्गः (नञ् बहुव्रीहि), अनङ्गस्य चिह्नं, तत् (षष्ठी तत्पुरुष)।आरामविहारकैतवात् = आरामस्य विहारः (षष्ठी तत्पुरुष), आरामविहारस्य कैतवं, तस्मात्(षष्ठी तत्पुरुष)।निर्गतम् निर्गताः जनाः यस्मात्, तम् (बहुव्रीहि)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – आसितुम् = 'आस्' धातु'तुमुन्' प्रत्यय।निषेवितुम् ='नि' उपसर्गपूर्वक'सेव्' धातु,'तुमुन्' प्रत्यय। इयेष = 'इषु इच्छायाम्'धातु लिट् लकार प्र. पु. ए. व.।

कोश–संसद् = "समज्या परिषद्गोष्ठी सभासमितिसंसदः" इत्यमरः। क्षणः = "निर्व्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः" इत्यमरः। कैतवम् = "कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे" इत्यमरः। आरामः = "आरामः स्यादुपवनम्" इत्यमरः।

अलङ्कार–यहाँ वाचक शब्द कैतव का प्रयोग हुआ है, अतः अपह्नुति अलङ्कार है ।

प्रसङ्ग–

मित्रों के साथ नगर के पास में स्थित उपवन में विहार करने के लिये नल ने आदेश दिया–

अथ श्रिया भर्त्सितमत्स्यकेतनः समं वयस्यैः स्वरहस्यवेदिभिः ।

पुरोपकण्ठोपवनं किलेक्षिताऽऽदिदेश यानाय निदेशकारिणः।। 56।।

अन्वय – अथ श्रिया भर्त्सितमत्स्यकेतनः स्वरहस्यवेदिभिः वयस्यैः समं पुरोपकण्ठोपनम् ईक्षिता निदेशकारिणः यानाय दिदेश किल।

शब्दार्थ – अथ = इसके पश्चात् । श्रिया = शारीरिकशोभासे । भर्त्सितमत्स्यकेतनः = कामदेव को भर्त्सित करने वाले। स्वरहस्यवेदिभिः = अपने रहस्य को जानने वाले । वयस्यैःसमम् = मित्रों के साथ। पुरोपकण्ठोपवनम् = नगर के समीपवर्ती उद्यान को। ईक्षिता = देखने के इच्छुक । निदेशकारिणः = आज्ञापालक भृत्यों को। यानाय = वाहन लाने के लिए। दिदेश = आदेश दिया। किल = निश्चय ही।

हिन्दी में अनुवाद – इसके पश्चात् शरीर की शोभा से कामदेव को तिरस्कृत करने वाले (नल) ने अपने रहस्य को जानने वाले मित्रों के साथ नगर के समीपवर्ती उद्यान कोदेखने के लियेआज्ञापालक सेवकों को निश्चित रूप से वाहन लाने का आदेश दिया।

हिन्दी–व्याख्या – भाव यह है कि जब नल अपने कामचिह्नों को छिपाने में असमर्थ रहे और उनके मित्रों ने यह जान लिया कि यह वस्तुतः उपवनविहार के बहानेदमयन्ती के विरह से उत्पन्नपाण्डुता, कृशता, प्रलाप, मूर्च्छा आदि

कामचिह्नों को छिपाने जा रहे हैं, तो ऐसे गुप्त विषय को जानने वाले मित्रों के साथ ही नल ने समीप में स्थित उद्यान में भ्रमण की इच्छा प्रगट की। जैसे कोई व्यक्ति अपने शत्रुओं से पीछा छुड़ाने के लिए कोई उपाय सोचता है, वैसे ही; नल ने अपने कामविकारों को छिपाने के लिए वहाँ से चले जाना ही उचित समझा।

संस्कृत–व्याख्या – अथ = तदनन्तरं, जनशून्यस्थानसेवनेच्छानन्तरमिति भावः, श्रिया = शरीरसौन्दर्येण, भर्त्सितमत्स्यकेतनः = तिरस्कृतस्मरः, स्वरहस्यवेदिभिः = निजगोप्यविषयमर्मज्ञैः, वयस्यैः = मित्रैः, समं = सह, पुरोपकण्ठोपवनम् =नगरसमीपवर्ति उपवनम्, ईक्षिता = द्रष्टुम् अभिलाषि, नलः किल =निश्चयेन, निदेशकारिणः =आज्ञापालकान् भृत्यान्, यानाय =वाहनमानेतुम्, दिदेश = आज्ञापयामास।

समास – भर्त्सितमत्स्यकेतनः = भर्त्सितों मत्स्यकेतनः येन सः (बहुव्रीहि)। कहीं 'भर्त्सितमत्स्यलाञ्छनः' पाठान्तर भी मिलता है, किन्तु अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। पुरोपकण्ठोपवनम् = पुरस्य उपकण्ठः (षष्ठी तत्पुरुष), पुरोपकण्ठे उपवनम्, तत् (सप्तमी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – ईक्षिता = ईक्षत इति, ईक्ष +तृन्।आदिदेश = आङ् उपसर्गपूर्वक दिश धातु लिट्लकार, प्र. पु. एकवचन।

कोश – मीनकेतनः = "मदनो मन्मथो मारः प्रद्युम्नो मीनकेतनः" इत्यमरः।उपकण्ठः ="उपकण्ठाऽन्तिकाऽभ्यर्णाभ्यग्रा अप्यभितोव्ययम्" इत्यमरः।

अलङ्कार – यहाँ उपमा एवं सहोक्ति अलङ्कार है।

प्रसङ्ग –

अब कवि यहाँ 64वें पद्य तक नल के विहारार्थ लाये गये अश्व का वर्णन करते हैं–

अमीततस्तस्य विभूषितं सितं जवेऽपि मानेऽपि च पौरुषाधिकम् ।

उपहारन्नश्वमजस्रचञ्चलैः खुराञ्चलैः क्षोदितमन्दुरोदरम्।। 57।।

अन्वय – ततः अमी तस्य विभूषित सितं जवेऽपि मानेऽपि च पौरुषाधिकम् अजस्रचञ्चलैः खुराञ्चलैः क्षोदितमन्दुरोदरम् अश्वं उपाहरन् ।

शब्दार्थ – ततः = उसके बाद । अमी =ये सेवक। तस्य = उस नल के । विभूषितम् = आभूषणों से सुसज्जित। सितम् = श्वेतवर्ण । जवेऽपि मानेऽपि = गति और ऊँचाई में भी। पौरुषाधिकम् = पुरुषों से अधिक । अजस्रचञ्चलैः = निरन्तर चञ्चल। खुराञ्चलैः = खुराग्र भागों से । क्षोदितमन्दुरोदरम् = अश्वशाला के मध्य भाग को चूर्णित करने वाले । अश्व = घोड़े को । उपाहरन् = लाये ।

हिन्दी में अनुवाद – तदनन्तर येआज्ञापालक सेवक उस नल के लिए आभूषणों से सुसज्जित, श्वेतवर्ण, गति और ऊँचाई में भी पुरुषों से अधिक, निरन्तर चञ्चल खुराग्रभागों से अश्वशाला के मध्यभाग को चूर्णित करने वाले घोड़े को लाये ।

हिन्दी–व्याख्या – ऊपर को उठाये हुए हाथ और भुजासहित एक पुरुष की नाप को पौरुष कहते हैं। भाव यह है कि दोनों हाथ ऊँचे करने पर पुरुष की जो लम्बाई होगी उसके बराबर ऊँचाई वाला वह घोड़ा था तथा अपनी तीव्रता के कारण निरन्तर भूमि को अपने खुरों से खोद रहा था। पृथ्वी को अपनी खुरों से खोदने वाला घोड़ा अच्छा माना जाता है–"यथा शालिहोत्रे –खुरैः खनन्यो पृथ्वीमश्वो लोकोत्तरः स्मृतः।"

संस्कृत – व्याख्या – पद्येऽस्मिन् नलस्य विहारार्थम् आनीतानश्वान् वर्णयन् कविः कथयति –**अमीति**। ततः = नलस्य आज्ञानन्तरम्, अमी = निदेशकारिणः, तस्य = नलस्य, विभूषितम्=आभूषणै अलङ्कृतम्, सितम् = श्वेतवर्णम्, जवेऽपि = तीव्रवेगेऽपि,मानेऽपि =परिमाणेऽपि च, पौरुषाधिकम् =पुरुषप्रमाणात् उच्चतायाञ्च अधिकम्, अजस्रचञ्चलैः = निरन्तरं चपलैः, खुराञ्चलैः = शफाग्रभागैः, क्षोदितमन्दुरोदरम् = विदारितमश्वशाला– मध्यभागम्, अश्वम् = हयम्, उपाहरन् उपानीतवन्तः।

समास – पौरुषाधिकम् = पौरुषात् अधिकः, तम् (पञ्चमी तत्पुरुष)। अजस्रचञ्चलैः = अजस्रं यथा स्यात्तथा चञ्चलाः, तैः (सुप्सुपा)। खुराञ्चलैः = खुराणाम् अञ्चलाः, तैः(षष्ठी तत्पुरुष)। क्षोदितमन्दुरोदरम् = मन्दुराया उदरम् (षष्ठी तत्पुरुष), क्षोदितं मन्दुरोदरं येन, तम् (बहुव्रीहि)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – विभूषितम् = 'वि' उपसर्गपूर्वक 'भूष्' धातु, कर्मणि 'क्त' प्रत्यय। पौरुषम् = पुरुषस्य भावः पौरुषम्, पुरुष + अण् प्रत्यय(जव के पक्ष में) तथा पुरुषः प्रमाणम् अस्य पौरुषम्, "पुरुषहस्तिभ्यामण्" से 'अण्' प्रत्यय (मान के पक्ष में)। उपाहरन् = 'उप' उपसर्गपूर्वक 'हृञ् हरणे' धातु, लङ्लकार प्र.पु. बहुवचन।

कोश – जवः = "रंहस्तरसी तु रयः स्मयः जवः" इत्यमरः। मन्दुरा = "वाजिशाला तु मन्दुरा" इत्यमरः।अजस्रम् = "नित्यानवरताजस्रम्" इत्यमरः। पौरुषम् = "ऊर्ध्वविस्तृतदोःपाणिनृमाने पौरुषं त्रिषु" इत्यमरः।

अलङ्कार – इस पद्य में वृत्त्यनुप्रास एवं छेकानुप्रास अलङ्कार है। यहाँ घोड़े के स्वाभाविक गुण का कथन किया गया है, अतः स्वभावोक्ति अलङ्कार भी है।

प्रसङ्ग –

अश्ववर्णन के अवसर पर अग्रिम सात पद्यों में कुलक का वर्णन प्रारम्भ करते हैं –

अथान्तरेणावटुगामिनाध्वना निशीथिनीनाथमहस्सहोदरैः।

निगालगाद्देवमणेरिवोत्थितैर्विराजितं केसरकेशरश्मिभिः ।। 58।।

अन्वय – अथ निगालगाद् देवमणेः आन्तरेण अवटुगामिना अध्वना उत्थितैः इव निशीथिनीनाथमहस्सहोदरैः केसरकेशरश्मिभिः विराजितम् (तं हयं क्षितिपाकशासनः स आरुरोह)।

शब्दार्थ – अथ = इसके बाद। निगालगाद् = गल प्रदेश से। देवमणेः = देवमणि स्थान से अर्थात् भौरी से। आन्तरेण =मध्य भाग से। अवटुगामिना = कृकाटिका से जाने वाले। अध्वना = मार्ग से। उत्थितैः = उठे हुए। इव = समान। निशीथिनीनाथमहस्सहोदरैः = चन्द्रमा की ज्योत्सना के समान। केसरकेशरश्मिभिः =गर्दन के बालों की किरणों से। विराजितम् = शोभित।

हिन्दी में अनुवाद – इसके बाद गलप्रदेशस्थ देवमणि से कण्ठ के बीच में स्थित गर्दन के ऊपरी प्रदेश की ओर जाते हुए मार्ग से उठे हुए के समान चन्द्रमा की किरणों के समान गर्दन के बालों की किरणों से शोभित (उस घोड़े पर राजा नल चढ़े)।

हिन्दी–व्याख्या – अश्व के गले पर होने वाली दक्षिणावर्त बालों की भौंरी को देवमणि कहा जाता है। यह देवमणि; अश्व के शुभ लक्षण का सूचक होती है। कौस्तुभमणि एवं चन्द्रमा को भी देवमणि कहते हैं। वे दोनों ही समुद्र से उत्पन्न हैं, अतएव अत एव उन्हें सहोदर कहना असङ्त नहीं है। यहाँ लक्षणावृत्तिसे 'सहोदर' का अर्थ 'समान' लिया गया है।

संस्कृत–व्याख्या – अधुना चतुःषष्टितमपद्यैः सप्तभिः पद्यैः कविः कुलकं वर्णयति –**अथेति**।अथ = अश्वानयनान्तरं, निगालगात् = गलप्रदेशेस्थितात्, देवमणेः = देवमणीत्याख्यदक्षिणावर्तात्, आन्तरेण = कण्ठमध्यभागेन, अवटुगामिना = कृकाटिकातः प्रवर्तिना, अध्वना = मार्गेण, उत्थितैः इव=उद्गतैः इव, निशीथिनीनाथमहस्सहोदरैः = चन्द्ररश्मिसदृशैः, केसरकेशरश्मिभिः = स्कन्धकेशकिरणैः, विराजितम्= शोभमानम् (तं हयं क्षितिपाकशासनः सः भूपतिः नलः आरुरोह आरूढवानिति)।

समास – निशीथिनीनाथमहस्सहोदरैः = निशीथिन्या नाथः (षष्ठी तत्पुरुष), तस्य महांसि (षष्ठी तत्पुरुष), समानं उदरं येषां ते सहोदराः (बहुव्रीहि), निशीथिनीनाथमहसां सहोदरः, तैः (षष्ठी तत्पुरुष)।केसरकेशरश्मिभिः = केसरा एव केशाः (रूपक), त एव रश्मयः (रूपक)।

कोश – निशीथ = "निशा निशीथिनी रात्रिस्त्रियामा क्षणदा क्षपा", "अर्धरात्रनिशीथौ द्वौ" इत्यमरः। महस् = "महश्चोत्सवतेजसोः"इत्यमरः। अवटु ="अवटुर्घाटा कृकाटिका" इत्यमरः। निगालः = "निगालस्तु गलोद्देशः" इत्यमरः। देवमणिः = "देवमणिः शिवेश्वस्य कण्ठावर्ते च कौस्तुभे" इति विश्वः।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – अवटुगामिन् = अवटुं गच्छतीति, तच्छीलः, तेन, अवटु+गम्+ णिनि+टा, तृतीया एकवचन। उत्थितैः =उद्+स्था+क्त+भिस् तृतीया एकवचन। विराजितम् = वि+राज्+क्त।

अलङ्कार – इस पद्य के द्वितीय चरण में उपमा अलङ्कार है, क्योंकि देवमणि से उठे हुए केशों को चन्द्रसहोदर बतलाया गया है। यहाँ सहोदर का अर्थ सदृश है। द्वितीय चरण में इव उत्प्रेक्षावाचक है, अतः उत्प्रेक्षा अलङ्कार

है। चतुर्थ चरण में केशर पर केश का आरोप होने के कारण रूपक अलङ्कार है। इन तीनों की निरपेक्षतया स्थिति से संसृष्टि अलङ्कार है।

विशेष – इस पद्य से लेकर ६४वें पद्य "स सिन्धुजं शीतमहःसहोदरं ......"तक सभी द्वितीयान्त पद "तं हयं क्षितिपाकशासनः आरुरोह" इस वाक्य से अन्वित होने के कारण इसे 'कुलक' कहा गया है–

"द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तं त्रिभिः श्लोकैः विशेषकम्।

कलापकं चतुर्भिः स्यात् तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम्।।"

प्रसङ्ग–

कवि अश्व की तीव्रगामिता का वर्णन करते हुए लिखता है–

अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतैरुपास्यमानं चरणेषु रेणुभिः।

रयप्रकर्षाध्ययनार्थमागतैर्जनस्य चेतोभिरिवाणिमाङ्कितैः।। 59।।

अन्वय – अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतैः रेणुभिः रयप्रकर्षाध्ययनार्थमागतैः अणिमाङ्कितैः जनस्य चेतोभिः इव चरणेषु उपास्यमानं (तं हयं क्षितिपाकशासनः स आरुरोह)।

शब्दार्थ–अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतैः = निरन्तर पृथ्वीतल को चूर्णित करने से उत्पन्न हुई। रेणुभिः = धूलियों के द्वारा। रयप्रकर्षाध्ययनार्थम् = तीव्र वेग के अध्ययन के लिये। आगतैः = आए हुये। आणिमाङ्कितैः = अणुपरमाणुयुक्त। जनस्य = मनुष्यों के । चेतोभिः इव = अन्तःकरण के समान । चरणेषु = चरणों में । उपास्यमानं = सेवा किये जाते हुए ।

हिन्दी में अनुवाद – निरन्तर पृथ्वीतल को चूर्णित करने से उत्पन्न हुई धूलियों के द्वारा तीव्र वेग के अध्ययन के लिये आये हुए अणुपरमाणुयुक्त मनुष्यों के अन्तःकरण के समान चरणों में सेवा किये जाते हुए (उस घोड़े पर राजा नल चढ़े)।

हिन्दी–व्याख्या – जिस प्रकार अध्ययन के लिये आये हुए शिष्य गुरुचरणों में उपासना करते हैं, उसी प्रकार अतिशय वेग से अध्ययन के विना आये हुए अणुपरिमाण मन के समान धूलियों से चरणों की उपासना किये गये घोड़े पर नल आरूढ हुए। यहाँ घोड़े भूतल पर अपने पैर पटक रहे थे, फलतः धूलि उड़कर उनके पैरों से लिपट रही थी । कवि कल्पना करता है कि वह धूलि नहीं, मानो लोगों के चित्त ही अणु परमाणु रूप में है, जो घोड़े से वेगातिशय सीखने के लिये उसके चरणों की सेवा कर रहे हैं। नल का घोड़ा मन के समान वेग वाला है, यह अर्थ व्यङ्ग्य है।

संस्कृत – व्याख्या – अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतैः = निरन्तरधरातलचूर्णोत्थितैः, रेणुभिः = धूलिभिः, रयप्रकर्षाध्ययनार्थम् = वेगातिशयपठनार्थम्, आगतैः =आयातैः, अणिमाङ्कितैः अणिमारूपेणचिह्नितैः, जनस्य = लोकस्य, चेतोभिः इव = अन्तकरणैः इव, चरणेषु = पादेषु, उपास्यमानम्=सेव्यमानम् (तं हयं = तम् अश्वं, क्षितिपाकशासनः स = राजा नलः, आरुरोह = आरूढवान्)। यथा शिष्यः गुरुपूज्ययोरुपास्ते तथैव अणुपरिमाणैर्मानवमनोभिश्चरणेषूपास्यमानमिव तं हयं राजा नल आरूढवानिति भावः।

समास – रयप्रकर्षाध्ययनार्थम् = रयस्य प्रकर्षः (षष्ठी तत्पुरुष),रयप्रकर्षस्य अध्ययनम् (षष्ठी तत्पुरुष), रयप्रकर्षाध्ययनाय इदं रयप्रकर्षाध्ययनार्थम्।अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतैः = भूम्याः तटम् (षष्ठी तत्पुरुष), भूमितटस्य कुट्टनम्(षष्ठी तत्पुरुष), अजस्रं यथा स्यात्तथा, भूमीतटकुट्टनम् (सुप्सुपा), अजस्रभूमीतटकुट्टनेन उत्थिताः, तैः (तृतीया तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – भूमी = भूमि+ङीष्। आगतैः = आङ् उपसर्गपूर्वक गम् धातु से क्त प्रत्यय, तृतीया विभक्ति बहुवचन। उपास्यमानम् = उपास्यत इति, 'उप्' उपसर्गपूर्वक'आस्' धातु लट्लकार, यक्+शानच्+अम्।अणिमाङ्कितैः = अणोर्भावः अणिमा, अणु शब्द से "पृथ्वादिभ्य इमनिज् वा" सूत्र से इमनिच्।

कोश–रयः = "रंहस्तरसी तु रयः स्मयः जवः" इत्यमरः। अणुपरिमाणम् = "अणुपरिमाणं मनः" इति तार्किकाः।

अलङ्कार – यहाँ वाचक शब्द 'इव' के प्रयोग से उत्प्रेक्षामूलक उपमा है। जिस प्रकार विनीत शिष्य गुरु के चरणस्पर्श करता है, वैसे ही चित्त ने वेगविद्याध्ययन के लिये वायु से भी शीघ्रगामी उस अश्व के चरणस्पर्श किये।अतः चित्त में शिष्य–व्यवहार का समारोप होने के कारण इस पद्य में समासोक्ति अलङ्कार भी है। समासोक्ति का लक्षण है–

"समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः।

व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः" (साहित्यदर्पण – 10/74)

चलाचलप्रोथतया महीभृते स्ववेगदर्पानिव वक्तुमुत्सुकम्।

अलं गिरावेद किलाऽयमाशयं स्वयं हयस्येति च मौनमास्थितम्।। 60।।

अन्वय – चलाचलप्रोथतया महीभृते स्ववेगदर्पान् वक्तुम् उत्सुकमिव शगिरा अलम् अयं स्वयं हयस्य आशयं वेद किलश इति च मौनम् आस्थितम (तं हयं क्षितिपाकशासनः सः आरुरोह)।

शब्दार्थ – चलाचलप्रोथतया = नासापुटों या नथुनों की अत्यन्त चञ्चलता से । महीभृते = राजा नल से। स्ववेगदर्पान् = अपने वेग के दर्प को । वक्तुम् = कहने की इच्छा से । उत्सुकमिव = उत्सुक के समान। गिरा = वाणी । अलं व्यर्थ है। अयं = यह। स्वय अपने आप। हयस्य = घोड़े का । आशयं = भाव। वेद = जानता है । इति = इस प्रकार। मौनम् = मौन। आस्थितम् = धारण किये हुए।

हिन्दी में अनुवाद – नासापुटों या नथुनों की अत्यन्त चञ्चलता से राजा नल से अपने वेग के दर्प को मानो कहने की इच्छा को उत्सुक, लेकिन 'कहना व्यर्थ है, यह स्वयं ही घोड़े का भाव जानते हैं।' इस प्रकार मौन धारण किये हुए (उस घोड़े पर वह राजा नल आरूढ हुए)।

हिन्दी–व्याख्या – अश्व के नासापुट या नथुने बड़े होते हैं, जिस कारण वे निरन्तर फड़कते रहते हैं। यहाँ पर कवि उत्प्रेक्षा कर रहा अश्व को अपनी तीव्रगामिता पर दर्प है, जिसे वह राजा नल से बताने के लिये उत्सुक हो रहा है, किन्तु यह सोचकर कि महाराज नल स्वयं अश्वहृदयवेदी हैं, वह चुप रहता है क्योंकि यदि सामने वाला आपके विषय में आपकी अपेक्षा से अधिक जानता है, तो अपने विषय में उससे कुछ कहना ठीक नहीं होता या अनुचित है।अन्य शब्दों में,लोक में ऐसा देखा जाता है कि जहाँ बोध्य बुद्धिमान हो और वक्ता के भाव को स्वयं समझने की शक्ति रखता हो, तो वक्ता मौन हो जाता है क्योंकि बोध्य या श्रोता उस भाव को स्वयं ही जानता है। अतः समझदार को समझाने के लिए कुछ भी कहना व्यर्थ है। यहाँ भी नल का अश्व समझदार था। उसने नल जैसे विद्वान् राजा को अपना भाव अपने मुख से कहना द्विरुक्ति ही समझा।

संस्कृत – व्याख्या – चलाचलप्रोथतया = अतिचञ्चलनासापुटत्वेन, महीभृते = नृपाय, नलाय इत्यर्थः, स्ववेगदर्पान् = निजवेगाभिमानान्, वक्तुम् = कथयितुम्, उत्सुकमिव = उत्कण्ठितमिव, तर्हि किं कारणं यत् स्वकीयवेगाभिमानः न प्रतिपादित इत्याशङ्क्याह– अलमिति। गिरा = 'वाचा अलम् (यतः) अयं = नलः, स्वयम् = आत्मनैव, हयस्य = अश्वस्य, आशयं = जानाति इति' अनेन हेतुना मौनम् = तूष्णीम्, आस्थितम् =आसितम् (तं हयं क्षितिपाकशासनः सः नलः आरुरोह)।

समास – चलाचलप्रोथतया = चलाचलः प्रोथः यस्य, तस्य भावस्तत्ता, तया (बहुव्रीहि)। स्ववेगदर्पान् = स्वस्य वेगः (षष्ठी तत्पुरुष), तस्य दर्पाः, तान् (षष्ठी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – चलाचलप्रोथतया = चलाचलप्रोथ+तल्+टाप्+टा।महीभृते =महीं बिभर्तीति महीभृत्, तस्मै,मही+भृ+क्विप्, तुगागम, "क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम्" सूत्र से सम्प्रदान सञ्ज्ञक चतुर्थी। वक्तुम् = वच् धातु से तुमुन् प्रत्यय। आस्थितम् = आङ्+स्था+क्त+अम्।

कोश – चलाचलम् = "चलनं कम्पनं कम्प्रं चलं लोलं चलाचलम्" इत्यमरः। प्रोथम् = "घोणा तु प्रोथमस्त्रियाम्" इत्यमरः। आशयम् = "अभिप्रायश्छन्दः आशयः" इत्यमरः।

अलङ्कार – यहाँ अश्व के स्वाभाविक वर्णन होने से स्वाभाविक अलङ्कार है। इस पद्य केपूर्वार्ध में वाच्या उत्प्रेक्षा तथा उत्तरार्ध में प्रतीयमान उत्प्रेक्षा है। दो उत्प्रेक्षा की निरपेक्ष स्थिति होने से संसृष्टि अलङ्कार है।

महारथस्याध्वनि चक्रवर्तिनः परानपेक्षोद्वहनाद्यशःसितम्।

रदावदातांशुमिषादनीदृशां हसन्तमन्तर्बलमर्वतां रवेः।। 61 ।।

अन्वय–महारथस्य चक्रवर्तिनः अध्वनि परानपेक्षोद्वहनाद् यशःसितं रदावदातांशुमिषाद् रवेः अर्वतां अनीदृशाम् बलम् अन्तः हसन्तम् (तं हयं क्षितिपाकशासनः स आरुरोह)।

शब्दार्थ – महारथस्य = महारथी। चक्रवर्ती = सम्राट राजा नल के। अध्वनि =पथ में या मार्ग में। परानपेक्षोद्वहनाद् = दूसरे की सहायता के बिना रथ को ले जाने से। यशःसितं = श्वेतवर्ण। रदावदातांशुमिषाद् = दाँतों की श्वेत किरणों के बहाने से। रवेः अर्वतां = सूर्य के घोड़ों के। अनीदृशाम् = जो ऐसे नहीं थे। बलम् = बल को। अन्तः = अन्तःकरण से। हसन्तम् = उपहास करते हुए।

हिन्दी में अनुवाद – महारथी सम्राट् नल के पथ या मार्ग में दूसरे की सहायता के विना रथ को ले जाने से श्वेतवर्ण, दाँतों की श्वेत किरणों के बहाने से (वह अश्व) सूर्य के घोड़े, जो ऐसे नहीं थे, के बल का हृदय से उपहास करने वाले (उस घोड़े पर राजा नल आरूढ हुए)।

हिन्दी – व्याख्या –तात्पर्य यह है कि सूर्य के रथ में सात घोड़े हैं, जो परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा करते हुए रथ को खींचते हैं, जिस कारण वे कान्तिहीन हो गये हैं और यही कारण है कि उनका रंग हरा है, किन्तु सम्राट् नल के मार्ग में वह घोड़ा विना किसी की सहायता से रथ ले जाता था, अतएव इस यश के कारण वह मानों श्वेत वर्ण का था। इसी कारण वह सूर्य के उन घोड़ों का अपनी श्वेत दन्तावलि के बहाने से उपहास कर रहा था।

संस्कृत – व्याख्या– महारथस्य = बृहद्रथस्य अयुतयोधिनः वा, चक्रवर्तिनः = सार्वभौमस्य सम्राजः नलस्य,अध्वनि = पथि मार्गे वा, परानपेक्षोद्वहनाद् = अन्याश्वयोगेऽपिवहनाद्, यशस्सितं = कीर्तिवत् शुभ्रम्, रदाऽवदातांशुमिषाद् = दन्तश्वेतांशुच्छलात्, रवेः= सूर्यस्य, अनीदृशाम् =अनेतादृशाम्, अर्वताम्= अश्वानाम्, बलम्=शक्तीः, अन्तः = चेतसि, हसन्तम् =उपहासं कुर्वन्तं (तं हयं = तमश्वं, क्षितिपाकशासनः =राजा नलः, आरुरोह = आरूढवान्)।

समास – महारथस्य = महान् रथः यस्य सः, तस्य (बहुव्रीहि)। परानपेक्षोद्वहनाद् = न अपेक्षा अनपेक्षा (नञ् समास), परेषाम् अनपेक्षा (षष्ठी तत्पुरुष), परानपेक्षया उद्वहनम्, तस्मात् (तृतीया तत्पुरुष)। यशःसितम् = यशसा सितं, तम् (तृतीया तत्पुरुष)। रदाऽवदातांशुमिषाद् = अवदाताश्च ते अशवः (कर्मधारय), रदानामवदानामशवः (षष्ठी तत्पुरुष),रदाऽवदातांशूनां मिषं, तस्मात् (षष्ठी तत्पुरुष)। अनीदृशाम् = न ईदृशः, तेषाम् (नञ् तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी –चक्रवर्तिन् = चक्र+वृत्+णिनि+ङस्, षष्ठी विभक्ति एकवचन।हसन्तम् = हस्+लट्+शतृ, द्वितीया विभक्ति एकवचन।

कोश – चक्रवर्तिन् = "चक्रवर्ती सार्वभौमः"इत्यमरः। अवदातः ="अवदातः सितो गौरोऽवलक्षो धवलोऽर्जुनः" इत्यमरः। अर्व = "वाजिवाहार्वगन्धर्वहयसैन्धवसप्तयः" इत्यमरः।

अलङ्कार – यहाँ 'मिषात्' शब्द के द्वारा किरणों का अपह्नव कर हास्य का आरोप करने के कारण अपह्नुति अलङ्कार है। साथ ही हसन्तम् पद मे इव के प्रतीयमान होने के कारण प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अलङ्कार एवं उपमान सूर्य के घोड़े से उपमेय नल के घोड़े को उत्कृष्ट बताया गया है, अतः व्यतिरेक अलङ्कार भी है।

विशेष – महारथ शब्द का लक्षण करते हुए कहा गया है कि जो एक साथ दश हजार योद्धाओं (धनुर्धारियों) से युद्ध कर सकता है, शस्त्र एवं शास्त्र दोनों में दक्ष हो, उसे महारथ कहते हैं–

"एको दशसहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम्।

शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च विज्ञेयः स महारथः।।"

अथवा जो योद्धा अपनी, अपने सारथी एवं अश्व की रक्षा करते हुए युद्ध करता है, वह महारथ कहा जाता है –

"आत्मानं सारथिं चाश्वं रक्षन् युध्येत यो नरः।

स महारथ सञ्ज्ञः स्यादित्याहुर्नीतिकोविदाः।।"

प्राचीन उपाख्यानों में छः चक्रवर्ती राजाओं की चर्चा प्राप्त होती है–

"हरिश्चन्द्रो नलो राजा पुरुः कुत्सः पुरूरवः।

सगरःकार्तवीर्यश्च षडेते चक्रवर्तिनः।।"

प्रसङ्ग –

घोड़े के अश्वराजत्व को प्रकट करते हुए कवि कहता है–

सितत्विषश्चञ्चलतामुपेयुषो मिषेण पुच्छस्य च केसरस्य च।

स्फुटां चलच्चामरयुग्मचिह्नकैरनिह्नुवानं निजवाजिराजताम्।। 62।।

अन्वय – सितत्विषः चञ्चलतामुपेयुषः पुच्छस्य च केसरस्य च मिषेण चलच्चामरयुग्मचिह्नकैः स्फुटां निजवाजिराजताम् अनिह्नुवानम् (तं हयं क्षितिपाकशासनः स आरुरोह) ।

शब्दार्थ – सितत्विष = शुभ्र कान्ति वाले। चञ्चलतामुपेयुषः = चञ्चलता को प्राप्त हुए। पुच्छस्य = पूंछ के। केसरस्य = गर्दन के बालों के। मिषेण = बहाने से। चलच्चामरयुग्मचिह्नकैः = डुलते हुए दो चामरों के चिह्नों द्वारा। स्फुटां = प्रगट हुए । निजवाजिराजताम् = अपने को घोड़ों का राजा । अनिह्नुवानम् = प्रकाशित करते हुए ।

हिन्दी में अनुवाद – शुभ्र कान्ति वाले चञ्चलता को प्राप्त हुए पूंछ और गर्दन के बालों के बहाने से डुलते हुए दो चामरों के चिह्नों द्वारा प्रगट हुए अपने को अश्वराज प्रकाशित करने वाले (उस घोड़े पर वह राजा नल आरूढ हुए)।

हिन्दी – व्याख्या – भाव यह है कि जिस प्रकार राजा के दोनों ओर सफेद रंग के चामर डुलाये जाते हैं, उसी प्रकार मानो घोड़ों की पूंछ और गर्दन के सफेद रंग वाले हिलते हुए बाल उसके चंवर बन गये थे, जिससे उसके घोड़ों का राजा होना स्पष्ट हो रहा था।

संस्कृत – व्याख्या–सितत्विषः = शुभ्रकान्तियुक्तस्य चञ्चलतामुपेयुषः= चापल्यप्राप्तवतः, पुच्छस्यच= लाङ्गूलस्य च, केसरस्य च=ग्रीवास्थकेशस्य च, मिषेण = व्याजेन, चलच्चामरयुग्मचिह्नकैः = स्फुरच्चामरयुग्मलक्षणैः, स्फुटां = प्रकटां, निजवाजिराजताम् निजाश्वराजत्वम्, अनिह्नुवानम् = अनिषधन्तम्, व्यक्तीकृतवन्तमिति भावः (तं हयम् = तमश्वं क्षितिपाकशासनः = राजा, सः = नलः,आरुरोह = आरूढवान्)।

समास – सितत्विषः = सिता त्विट् यस्य, तस्य (बहुव्रीहि)। चलच्चामरयुग्मचिह्नकैः = चलच्चामरयोर्युग्मम्, (षष्ठी तत्पुरुष), चिह्नानि एव चिह्नकानि, चलच्चामरयुग्मयोः चिह्नानि, तैः (षष्ठी तत्पुरुष)। निजवाजिराजताम् = वाजिनां राजा, वाजिराजः (षष्ठी तत्पुरुष), वाजिराजस्य भावो वाजिराजता, निजा चासौ वाजिराजता, ताम् (कर्मधारय)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – चञ्चलताम् = चञ्चल+तल्+टाप्+अम्। उपेयुषः = 'उप्' उपसर्गपूर्वक 'इण्' धातु 'क्वसु' प्रत्यय, षष्ठी विभक्ति एकवचन।

कोश – चामर ="चामरं तु प्रकीर्णकम्"इत्यमरः।

अलङ्कार – वाचक शब्द 'मिषेण' के प्रयोग के कारण इस पद्य में भी अपह्नुति अलङ्कार है। राजत्व प्रकाशन के चिह्नों में 'छत्र'तथा'चामर' दो माने गये हैं। राजा नल के अश्व की पूंछ तथा गर्दन के बाल चामर की तरह सफेदएवं हिल रहे थे, अतःऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो कोई राजा पर चँवरडुला रहा हो। अतः यहाँ गर्दन, केश और पूछ का अपह्नव कर उनमें चामर की स्थापना किये जाने से अपह्नुति अलङ्कार है।

प्रसङ्ग–

नल के घोड़े की समानतापक्षिराज गरुड से करते हुए कवि कहता है–

अपिद्विजिह्वाभ्यवहारपौरुषे मुखानुषक्तायतवल्गुवल्गया।

उपेयिवांसं प्रतिमल्लतां रयस्मये जितस्य प्रसभं गरुत्मतः।। 63।।

अन्वय – रयस्मये प्रसभं जितस्य गरुत्मतः मुखानुष्क्तायतवल्गुवल्गया द्विजिह्वाभ्यवहार पौरुषेऽपि प्रतिमल्लतां उपेयिवांसम् (तं हयं क्षितिपाकशासनः स आरुरोह)।

शब्दार्थ – रयस्मये = तीव्रगामिता के दर्प में। प्रसभं जितस्य = बलात् जीते गये। गरुत्मतः = गरुड की। मुखानुषक्तायतवल्गुवल्गया = मुख में पड़ी हुई लम्बी और सुन्दर लगाम से। द्विजिह्वाभ्यवहारपौरुषेऽपि = सर्पों केभक्षणरूप पुरुषार्थ में भी। प्रतिमल्लताम् = प्रतिद्वन्द्विता को । उपेयिवांसम् = प्राप्त हुए।

हिन्दी में अनुवाद – तीव्रगामिता के दर्प में बलात् जीते गये गरुड के मुख में लगी हुई लम्बी और सुन्दर बागडोर या लगाम से सर्पों के भक्षणरूप पुरुषार्थ में भी प्रतिद्वन्द्विता को प्राप्त (उस घोड़े पर राजा नल आरूढ हुए)।

हिन्दी–व्याख्या – आशय यह है कि इस घोड़े ने तीव्र वेग में पहले ही गरुड को हठात् हरा दिया था, किन्तु गरुड की दूसरी शक्ति सर्पों के भक्षण में भी थी, अतः उस शक्ति को भी इस घोड़े ने पराजित कर दिया।मुख में पड़ी हुई बागडोर से ऐसा प्रतीत होता था, मानो वह साँपों के भक्षण में भी गरुड से प्रतियोगिता कर रहा हो, अर्थात् घोड़े के मुख में पड़ी हुई लगाम की रस्सी दो साँपों के सदृश प्रतीत हो रही थी।

संस्कृत – व्याख्या – रयस्मये = तीव्रगामिताहङ्कारे, प्रसभम् = बलात्कारेण प्रसह्य वा, जितस्य = पराभूतस्य, गरुत्मतः = पक्षिराजस्य गरुडस्य, मुखानुषक्तायतवल्गुवल्गया =आननलग्नदीर्घरम्यप्रग्रहेण, द्विजिह्वाभ्यवहारपौरुषे अपि =सर्पभक्षणशक्तावपि, प्रतिमल्लतां = प्रतिद्वन्द्विताम्, उपेयिवांसं =प्राप्तवन्तम् (तं हयम् = तमश्वं क्षितिपाकशासनः = राजा, सः = नलः, आरुरोह = आरूढवान्)।वेगाभिमानविषये पूर्वमेव जितः, अधुना सर्पभक्षणशक्तावपि पराजितेत्यर्थः।

समास – द्विजिह्वाभ्यवहारपौरुषे = द्वे जिह्वे येषां ते द्विजिह्वाः (बहुव्रीहि), द्विजिह्वानाम् अभ्यवहारः (षष्ठी तत्पुरुष), स एव पौरुषम्, तस्मिन् (रूपक)। मुखानुषक्तायतवल्गुवल्गया =मुखे अनुषक्ता (सप्तमी तत्पुरुष)आयता चासौ वल्गुः (कर्मधारय), आयतवल्गुश्चासौ वल्गा (कर्मधारय), मुखानुषक्ता चासौ आयतवल्गुवल्गा, तया (कर्मधारय)। प्रतिमल्लताम् = प्रतिकूलो मल्लःप्रतिमल्लः, "कुगतिप्रादयः" सूत्र से समास।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–अभ्यवहारः = 'अभि','अव' उपसर्गपूर्वक 'हृ' धातु,'घञ्' प्रत्यय।

कोश – स्मयः = "दर्पोऽवलेपोऽवष्टम्भश्चित्तोद्रेको स्मयः मदः" इत्यमरः। गरुत्मान् = "गरुत्मान्गरुडस्ताक्ष्र्यो वैनतेयः खगेश्वरः" इत्यमरः। द्विजिह्वा = "द्विजिह्वो सर्पसूचकौ" इत्यमरः।

अलङ्कार – यहाँ ग:रुड के जय का सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध का कथन किया गया है, अतः इस पद्य में अतिशयोक्ति अलङ्कार है।

स सिन्धुजं शीतमहस्सहोदरं हरन्तमुच्चैःश्रवसः श्रियं हयम्।

जिताखिलक्ष्माभूदनल्पलोचनस्तमारुरोह क्षितिपाकशासनः।। 64।।

अन्वय – जिताखिलक्ष्माभृद् अनल्पलोचनः क्षितिपाकशासनः स सिन्धुजं शीतमहस्सहोदरम् उच्चैःश्रवसः श्रियं हरन्तं तं हयम् आरुरोह।

शब्दार्थ – जिताखिलक्ष्माभृद् = समस्त राजाओं के विजेता। अनल्पलोचनः =विशाल नेत्र वाले। क्षितिपाकशासनः = पृथ्वी के इन्द्र। स = वह राजा नल । सिन्धुजम् = सिन्धु देश में उत्पन्न। शीतमहस्सहोदरम् = चन्द्रमा के समान। उच्चैःश्रवसः = उच्चैःश्रवा की। श्रियम् = शोभा को । हरन्तम् = हरण करने वाले। तम् = उस। हयम् =घोड़े पर। आरुरोह = आरूढ हुए।

हिन्दी में अनुवाद – समस्त राजाओं के विजेता, विशाल नेत्र वाले, पृथ्वी के राजा नल; सिन्धु देश में उत्पन्न चन्द्रमा के समान (धवल) उच्चैःश्रवा की शोभा का हरण करने वाले उस घोड़े पर आरूढ हुए।

हिन्दी – व्याख्या – यहाँ राजा नल और इन्द्र का अभेद वर्णन किया गया है। तदनुसार उसका विशेषण 'अनल्पलोचन' जहाँ नल पक्ष में 'विशाल नेत्रों वाला' अर्थ व्यक्त करता है, वहीं इन्द्र के पक्ष में 'सहस्र नेत्रों वाला' यह अर्थ है। इसी प्रकार घोड़े के लिए 'सिन्धु' शब्द के दो अर्थ –सिन्धु देश एवं समुद्र हैं, अतः इन्द्र पक्ष में 'शीतमहस्सहोदरम्' का अर्थ 'चन्द्रमा का भाई', उच्चैःश्रवा, इस प्रकार करना पड़ेगा। अतः पद्य का भावार्थ होगा–जिस प्रकार 'सहस्रलोचन' इन्द्र;समुद्र से उत्पन्न चन्द्रभ्राता उच्चैःश्रवा नामक अश्व पर आरूढ होता है, उसी प्रकार पृथ्वीतल का इन्द्र नल उस अश्व पर आरूढ हुआ, जो सिन्धु देश में उत्पन्न हुआ है तथा अपनी शोभा से चन्द्रमा के समान शुभ्र है और उच्चैःश्रवा की शोभा को तिरस्कृत करने वाला है। यहाँ एक पौराणिक कथा की ओर सङ्केत किया गया है। देवता और दैत्यों ने मिलकर एक साथ समुद्र–मन्थन किया था, जिसमें से चौदह रत्न निकले थे। इन्हीं रत्नों में चन्द्रमा और उच्चैःश्रवा भी थे। इसीलिए उच्चैःश्रवा को चन्द्रमा का भाई कहा जाता है।

संस्कृत–व्याख्या – जिताखिलक्ष्माभृद् = विजितसमस्तभूपालाः, अनल्पलोचनः= विशालनेत्रः सहस्राक्षश्च, क्षितिपाकशासनः = पृथ्वीन्द्रः स नलः, सिन्धुजम्= सिन्धुदेशसमुदभवम्, शीतमहस्सहोदरम् =चन्द्रसदृशम्, उच्चैःश्रवसः =उच्चैःश्रवस इत्याख्य इन्द्राश्वस्य, श्रियम् = शोभाम्, हरन्तम्= तिरस्कुर्वन्तम्, तं हयम् आरुरोह = तं पूर्वोक्तं वाजिनं आरूढवान्।

समास – जिताखिलक्ष्माभृद् = जिताः अखिलक्ष्माभृतो येन सः (बहुव्रीहि)। अनल्पलोचनः = न अल्पे अनल्पे (नञ् तत्पुरुष), अनल्पे लोचने यस्य सः (बहुव्रीहि)। शीतमहस्सहोदरम् = शीतं महः (कान्तिः) यस्य सः शीतमहाः (बहुव्रीहि), शीतमहसः सहोदरः, तम् (षष्ठी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – शासनः = शास्तीति शासनः, 'शासु अनुशिष्टौ' धातु से "कृत्यल्युटो बहुलम्" सूत्र से कर्तरि 'ल्युट्' प्रत्यय। सिन्धुजम् = सिन्धौ देशे जायते इति सिन्धुजः, तम्, सिन्धु से "सप्तम्यां जनेर्डः" सूत्र से 'ड' प्रत्यय।

कोश– सिन्धु = "देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियाम्" इत्यमरः। पाकशासनः = "इन्द्रो मरुत्वान्मघवा विडौजाः पाकशासनः" इत्यमरः।

अलङ्कार – इस पद्य में इन्द्र उपमान है और नल उपमेय।दोनों में श्लिष्ट विशेषणों से सादृश्य कथन किया गया है, अतः उपमा अलङ्कार है। श्लेष अलङ्कार भी है, क्योंकि अनल्पलोचनः एवं सिन्धु शब्द के दो–दो अर्थ हैं।

विशेष – 58वें पद्य से लेकर इस पद्य तक कुल सात पद्यों में एक ही क्रिया आरुरोह है, जिसका अन्वय उक्त सभी सात पद्यों के द्वितीयान्त पद के साथ होता है, अतः काव्यशास्त्रीय आचार्य इसे कुलक की सञ्ज्ञा से अभिहित करते हैं। काव्यशास्त्रीय आचार्य विश्वनाथ का कथन है कि छन्दोबद्ध पदों को पद्य कहते हैं। दूसरे पद्य से असम्बद्ध एक पद्य को 'मुक्तक', दो पद्यों में सम्बन्ध होने पर'युग्मक', तीन पद्यों में सम्बन्ध होने पर 'सन्दानितक', चार पद्यों में सम्बन्ध होने पर 'कलापक' तथा पाँच या इससे अधिक पद्यों के साथ सम्बन्ध होने पर 'कुलक' कहा जाता है –

छन्दोबद्धपदं पद्यं, तेनैकेन च मुक्तकम्।

द्वाभ्यां तु युग्मकं, सन्दानितकं त्रिभिरिष्यते।।

कलापकं चतुर्भिश्च, पञ्चभिः कुलकं मतम्।।

आचार्य विश्वनाथकृत साहित्यदर्पण, 6/302

प्रसङ्ग – कवि राजा के घुड़ सवारों को सूर्य की किरण के सदृश बताते हुए कहते हैं–

निजा मयूखा इवतीक्ष्णदीधितिं स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजम्।

तमश्ववारा जवनाश्वयायिनं प्रकाशरूपा मनुजेशमन्वयुः।। 65।।

अन्वय – स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजंजवनाश्वयायिनं तं मनुजेशं तीक्ष्णदीधितिं मयूखाः इव निजा प्रकाशरूपाः अश्ववाराः अन्वयुः ।

शब्दार्थ – स्फुटारविन्दांकितपाणिपंकजं = खिले हुए कमल से चिह्नित हस्तकमल वाले। जवनाश्वयायिनम् = तीव्र घोड़े से चलने वाले। तं = उस । मनुजेशम्= मनुजेश्वर नल के पीछे। तीक्ष्णदीधितिम्= सूर्य की। मयूखाः इव = किरणों केसमान। निजा = अपने। प्रकाशरूपाः =उज्ज्वल आकार वाले। अश्ववाराः = घुड़सवार। अन्वयुः = पीछे–पीछे चले।

हिन्दी में अनुवाद – खिले हुए रक्तकमल से चिह्नित, तीव्रगामी घोड़ों से गमन करने वालेसूर्य के पीछे–पीछे चलने वाली प्रकाशस्वरूप किरणों के समान खिले हुए कमल से चिह्नित हस्तकमलवाले (एवं) तीव्रगामी घोड़े से चलने वाले उस मनुजेश्वर नल के पीछे–पीछे अत्यन्त तेजस्वी घुड़सवार चले।

हिन्दी व्याख्या – भाव यह है कि जिस प्रकार सूर्य के पीछे प्रकाशरूप उसकी किरणें चलती हैं उसी प्रकार नल के पीछे उसके घुड़सवार चले।

संस्कृत – व्याख्या – पद्येऽस्मिन् अश्ववारैः सह नलस्य पुनः नगराद् बहिर्गमनं वर्णयन् कविः कथयति –**निजेति**।स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजम् = विकसितरक्तकमलचिह्नितहस्तपद्मम्, जवनाश्वयायिनम् = शीघ्रगतिहयगामिनम्, तम्= प्रसिद्धम्, मनुजेशम्= नलाधिपम्,तीक्ष्णदीधितिम् = उष्णरश्मिम्, मयूखाः इव = किरणाः

इव, निजाः = स्वीयाः, प्रकाशरूपाः = प्रकाशितस्वरूपाः, अश्ववाराः = अश्वारोहिणः, अन्वयुः = अनुगतवन्तः। आशयोऽयमस्ति यत् यथा किरणाः सदा सूर्यसहचारिणः तथैव अश्वरोहा अपि नलसहचारिणः भवन्ति।

समास – स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजम् = स्फुटे च ते अरविन्दे(कर्मधारय), ताभ्याम् अङ्कितम् (तृतीया तत्पुरुष),पाणिः पङ्कजम् इव, "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे" सूत्र से समास, स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजं यस्य, तम् (बहुव्रीहि)। जवनाश्वयायिनम् = जवनाश्च ते अश्वाः (कर्मधारय), तैः यातीति, तच्छीलः, तम्।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – अश्ववाराः = अश्वान् वृण्वते इति अश्ववाराः, अश्व उपपदपूर्वक 'वृञ् वरणे' धातु से "कर्मण्यण्" सूत्र से 'अण्' प्रत्यय। मयूखाः = 'मीनाति हिनास्ते तमः इति मयूखः', मी+ऊख, "मीनाते रूखः"सूत्र से 'ऊख' लगकर ये प्रयोग बनता है। अन्वयुः = 'अनु' उपसर्गपूर्वक 'या प्रापणे' धातु लङ्लकार के 'झि' को "लङः शाकटायनस्यैव" सूत्र से विकल्प से 'जुस्' आदेश।

कोश – प्रकाशः = "प्रकाशो द्योत आतपः" इत्यमरः, "प्रकाशोऽतिप्रसिद्धे स्यात्प्रकाशातपयोः स्फुटे" इति विश्वः। जवनः = "जवनस्तु जवाऽधिकः" इत्यमरः। दीधितिः = "भानुः करो मरीचिः स्त्रीपुंसयोर्दीधितिः स्त्रियाम्" इत्यमरः।

अलङ्कार – इस पद्य मेंश्लिष्ट विशेषणों से युक्त उपमा अलङ्कार है, क्योंकि उपमान और उपमेय दोनों के लिये समान विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। उपमान'मयूख', उपमेय 'अश्ववार', साधारण धर्म 'प्रकाशस्वरूप' तथा वाचक शब्द 'इव' विद्यमान हैं, अतः यहाँ पूर्णोपमा है।

चलन्नलङ्कृत्य महारयं हयं स वाहवाहोचितवेषपेशलः।।

प्रमोदनिष्पन्दतराक्षिपक्ष्मभिर्व्यलोकि लोकैः नगरालयैर्नलः।। 66।।

अन्वय – महारयं हयं अलङ्कृत्य चलन् वाहवाहोचितवेषपेशलः स नलः प्रमोदनिष्पन्दतराक्षिपक्ष्मभिः नगरालयैः लोकैः व्यलोकि ।

शब्दार्थ – महारयम् = तीव्रगामी। हयम् = घोड़े को । अलङ्कृत्य = सुसज्जित कर। चलन् = चलते हुए। वाहवाहोचितवेषपेशलः = घुड़सवारी के उचित वेष से सुन्दर । स नलः = उस नल को । प्रमोदनिष्पन्दतराक्षिपक्ष्मभिः = हर्ष के कारण निमेषरहित आँखों की पलकों वाले। नगरालयैः लोकैः = नगरवासियों ने। व्यलोकि = देखा।

हिन्दी में अनुवाद – तीव्रगामी घोड़े को सुसज्जित कर चलने वाले घुड़सवार के उचित वेष से सुन्दर उस नल को हर्ष के कारण निमेषरहित आँखों की पलकों वालेनगरवासियों ने देखा ।

संस्कृत – व्याख्या – पद्येऽस्मिन् नले दृष्टे नगरवासिनां भावं वर्णयन् कविः प्राह –**चलन्निति।** महारयम् = तीव्रगामिनम्, हयम् = वाजिनम्, अलङ्कृत्य = भूषयित्वा, चलन् = गच्छन्, वाहवाहोचितवेषपेशलः = अश्वारोहणयोग्यवेषसुन्दरः, स नलः = पूर्वोक्तः प्रसिद्धः नल इत्याख्य राजा, प्रमोदनिष्पन्दतराक्षिपक्ष्मभिः =

हर्षनिर्निमेषतरनयनलोमभिः, नगरालयैः =नगरवासिभिः, लोकैः = मानवैः, व्यलोकि = विलोकितः। नगरवासिनस्तं नलं विस्मयहर्षाभ्यां दृष्टवन्तः इति स्पष्टार्थः।

समास – वाहवाहोचितवेषपेशलः = वाहस्यवाहः वाहवाहः, तस्य उचितः यः वेषः, तेन पेशलः यः, सः (तत्पुरुष)। महारयम् = महान् रयो यस्य सः, महारयः, तम् (बहुव्रीहि)। प्रमोदनिष्पन्दतराक्षिपक्ष्मभिः =निर्गतः स्पन्दो येभ्यः, तानि निष्पन्दानि (बहुव्रीहि), अक्ष्णोः पक्ष्माणि (षष्ठी तत्पुरुष), निष्पन्दतराणि अक्षिपक्ष्माणि येषां ते निष्पन्दतराक्षिपक्ष्मणः (बहुव्रीहि), प्रमोदेन निष्पन्दतराक्षिपक्ष्मणः, तैः (तृतीया तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – वाहः =उह्यते अनेनेति वाहः 'वह् प्रापणे' धातु "हलश्च" सूत्र से करण अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय। व्यलोकि = 'वि' उपसर्गपूर्वक 'लोकृ दर्शने' धातु से लुङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

कोश – पेशलः = "चारौ दक्षे च पेशल" इत्यमरः, "पेशलः सुन्दरो दक्ष" इति विश्वः।

अलङ्कार – इस पद्य में वृत्त्यनुप्रास एवं छेकानुप्रास है।

क्षणादथैष क्षणदापतिप्रभः प्रभञ्जनाध्येयजवेन वाजिना ।

सहैव ताभिर्जनदृष्टिवृष्टिभिर्बहिः पुरोऽभूत् पुरुहूतपौरुषः ।। 67 ।।

अन्वय – अथ क्षणदापतिप्रभः पुरुहूतपौरुषः एव प्रभञ्जनाध्येयजवेन वाजिना क्षणात् ताभिः जनदृष्टिवृष्टिभिः सह एव पुरः बहिः अभूत्।

शब्दार्थ – अथ = इसके पश्चात्। क्षणदापतिप्रभः = चन्द्रमा के समान कान्तिवाले। पुरुहूतपौरुषः = इन्द्र के समान सामर्थ्य वाले। एष = यह राजा नल। प्रभञ्जनाध्येयजवेन वायु द्वारा सीखने योग्य वेग वाले। वाजिना – अश्व द्वारा। क्षणात् क्षण भर में । ताभिःजनदृष्टिवृष्टिभिः सहएव = उन नागरिकों की दृष्टियों की वृष्टि के साथ ही। पुरः = नगर से। बहिः = बाहर। अभूत् = हो गये।

हिन्दी में अनुवाद–इसके पश्चात् चन्द्रमा के समान कान्ति वाले (एवम्) इन्द्र के समान सामर्थ्य वाले यह राजा नल वायु द्वारा सीखने योग्य वेग वाले अश्व द्वारा क्षण भर में उन नागरिकों की दृष्टियों की वृष्टि के साथ ही नगर से बाहर हो गये।

संस्कृत–व्याख्या – अर्थ = तदनन्तरम्, क्षणदापतिप्रभः = चन्द्रकान्तिः;शशितुल्यसुन्दर इत्यर्थः, पुरुहूतपौरुषः = इन्द्रसदृशपराक्रमयुक्तः, एषः = अयं राजा नलः, प्रभञ्जनाध्येयजवेन = पवनशिक्षणीयवेगेन, वाजिना = अश्वेन, क्षणात् =क्षणमात्रेण, ताभिः =पूर्वोक्ताभिः, जनदृष्टिवृष्टिभिः सह एव = जनदृष्टिनिपातैः सार्द्धमेव, पुरः = नगरात्,बहिः अभूत् =बहिरभवत्। आशयोऽयमस्ति यत् जनैः दृश्यमान एव निमेषमात्रेण स नलः नगरात् निर्गत इति भावः।

समास – क्षणदापतिप्रभः = क्षणदायाः पतिः(षष्ठी तत्पुरुष), क्षणदापतेरिव प्रभा यस्य सः (व्यधिकरण बहुव्रीहि)। पुरुहूतपौरुषः = पुरुभिः हूतः, इति पुरुहूतः (तृतीया तत्पुरुष),पुरुहूतपौरुषमिवपौरुषं यस्य सः (बहुव्रीहि)। = प्रभञ्जनाध्येयजवेन = अध्येयः जवः यस्य सः।

व्याकरणात्मक टिप्पणी– क्षणदा = 'क्षण' उपपदपूर्वक 'डुदाञ् दाने' धातु से "आतोऽनुपसर्गे कः" सूत्र से 'क' प्रत्यय तथा स्त्रीत्व विवक्षा में 'टाप्' प्रत्यय। अभूत् = भू धातु लिङ्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। अध्येय = 'अधि' उपसर्गपूर्वक 'इङ्' धातु 'यत्' प्रत्यय।

कोश– पुरुहूतः = "पुरुहूतः पुरन्दरः" इत्यमरः।

अलङ्कार – इस पद्य में 'क्षणदापतिप्रभः'एवं 'पुरुहूतपौरुषः' इन दो में उपमा अलङ्कार है। प्रभञ्जन से अध्येयजव का सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध का कथन किया गया है, अतः अतिशयोक्ति अलङ्कार है।

प्रसङ्ग –

नल की सेनाओं के बीच परस्पर युद्धाभ्यास का वर्णन करते हुए कवि कहता है–

ततः प्रतीच्छ प्रहरेति भाषिणी परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे।

मृषामृधं सादिबले कुतूहलान्नलस्य नासीरगते वितेनतुः।। 68।।

अन्वय–ततः प्रतीच्छ, प्रहर इति भाषिणी परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे नासीरगते नलस्य सादिबले कुतूहलात् मृषामृधं वितेनतुः।

शब्दार्थ – ततः = इसके बाद। प्रतीच्छ = सम्हालो। प्रहर = मारो। इति = इस प्रकार। भाषिणी = कहने वाली। परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे = आपस में उठा लिये हैं तोमर (भाले) जिन्होंने, ऐसे । नासीरगते = सेना के अग्रभाग में स्थित अर्थात् सेनाओं में सबसे आगे। नलस्य = नल की। सादिबले = अश्वारोही सेना ने। कुतूहलात् = कौतूहलवश । मृषामृधं = मिथ्या युद्ध। वितेनतुः = किया।

हिन्दी में अनुवाद – इसके बाद अर्थात् राजा के नगर से बाहर होने पर 'सम्हालो, मारो', इस प्रकार कहने वाली परस्पर तोमरादिशस्त्रों को उठाये हुएसेनाओं के अग्रभाग में स्थित नल की सेना की दो टुकड़ियों ने कौतूहलवश मिथ्यायुद्धकिया ।

हिन्दी – व्याख्या – भाव यह है कि विहारार्थ गये हुए राजा नल के नगर की सीमा से बाहर हो जाने पर अग्रस्थ अश्वारोहियों ने सेना में परस्पर मिथ्यायुद्ध किया। यह युद्धाभ्यास आज भी समय–समय पर किया जाता है।

संस्कृत – व्याख्या – ततः = पत्तनाद् बहिर्गमनानन्तरं, प्रतीच्छ =गृहाण, प्रहर = प्रहारं कुरु, इति = एवं, भाषिणी = वदती, परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे = अन्योन्यप्रसारिततोमराग्रे,नलस्य = निषधाधिपस्य, नासीरगते = सेनामुखं प्राप्ते, सादिबले = अश्वारोही सैन्ये, कुतूहलात् =कौतुकात्, मृषामृधं = मिथ्यायुद्धं युद्धनाटकं वा, वितेनतुः = चक्रतुः।

समास – परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे = परस्परम् उल्लासितानि (सुप्सुपा),शल्यानि पल्लवानि इव (उपमित), परस्परोल्लासितानि शल्यपल्लवानि याभ्यां ते (बहुव्रीहि)। नासीरगते = नासीरं गते (द्वितीया तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – भाषिणी = भाष् धातु से णिनि प्रत्यय, प्रथमा विभक्ति द्विवचन। वितेनतुः = 'वि' उपसर्गपूर्वक 'तनु विस्तारे' धातु लिट्लकार, प्रथम पुरुष द्विवचन।प्रतीच्छ = 'प्रति' उपसर्गपूर्वक 'इष्' धातु, लोट्लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन। प्रहर = 'प्र'उपसर्गपूर्वक 'हृ' धातु, लोट्लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन।

कोश – शल्य = "शल्यं तोमरम्" इत्यमरः। नासीरम् = "सेनामुखं तु नासीरम्" इत्यमरः। सादिन् = "अश्वारोहास्तु सादिनः" इत्यमरः। मृषमृधम् = "मृधमास्कन्दनं संख्यम्"इत्यमरः।

अलङ्कार – इस पद्य में वृत्त्यनुप्रासएवं रूपक अलङ्कार है।

प्रसङ्ग–

घोड़ों से उत्थापित धूलि का वर्णन किया गया है–

प्रयातुमस्माकमियं कियत्पदं धरा तदम्भोधिरपि स्थलायताम्।

इतीव वाहैर्निजवेगदर्पितैः पयोधिरोधक्षममुत्थितं रजः।। 69।।

अन्वय – इयं धरा अस्माकं प्रयातुं कियद् पदं तद् अम्भोधिः अपि स्थलायताम् इतीव निजवेगदर्पितैः वाहैः पयोधिरोधक्षमं रजः उत्थितम्।

शब्दार्थ – इयम् = यह। धरा = पृथ्वी। अस्माकम् = हमारे। प्रयातुम् = प्रस्थान के लिए। कियत् = कितने। पदम् = कदम (ही) हैं। तद् = अतः। अम्भोधिः = समुद्र। अपि = भी। स्थलायताम् = स्थल बन जाये। इतीव = ऐसा सोचकर । निजवेगदर्पितैः =अपने वेग का घमण्ड करने वाले। वाहैः = घोड़ों ने। पयोधिरोधक्षमम् = समुद्र को पूर्णतः आच्छादित करने के लिए पर्याप्त। रजः = धूलि । उत्थितम् = उड़ायी ।

हिन्दी में अनुवाद – यह पृथ्वी हमारे चलने के लिए कितने कदम (ही) हैं, अतः समुद्र भी स्थल बन जाये, ऐसा सोचकर अपने वेग के दर्प से घोड़ों ने समुद्र को पूरा आच्छादित करने के लिए पर्याप्त धूलि उड़ायी।

हिन्दी – व्याख्या – आशय यह है कि घोड़े अपने अहङ्कार को प्रदर्शित करने के लिए पैरों से पृथ्वी पर प्रहार करने लगे,जिस कारण अत्यधिक धूलि उड़ी, तो कवि उत्प्रेक्षा करता है कि मानों घोड़े कह रहे हैं कि हमारे चलने

के लिए पृथ्वी तो कुछ कदम ही है अर्थात् बहुत छोटी है। यदि समुद्र भी पृथ्वी बन जाये, तो हमें चलने के लिए स्थान मिल सकेगा। यही सोचकर वे धूलि उड़ा रहे हैं।

संस्कृत – व्याख्या – इयम् = एषा, धरा = वसुन्धरा, अस्माकम् = अश्वाणाम्, प्रयातुम् = पारं गन्तुम्, कियत्पदम् = किं परिमाणं स्थानम्; न किञ्चित्पर्याप्तमित्यर्थः, तद् = तस्मात्कारणात्, अम्भोधिः अपि =जलधिः अपि, स्थलायताम् = स्थलरूपतां प्राप्नोतु, इतीव = इति मत्वा, निजवेगदर्पितैः = स्वजवगर्वितैः, वाहैः = वाजिभिः, पयोधिरोधक्षमम् =जलधिपूरणसमर्थम्, रजः = धूलिः, उत्थितम् = उत्थापितम्। अत्र उद्धतम् इति पाठान्तरस्यापि अयमेवार्थः।अश्ववेगोत्थापितेन धूलिना कविरुत्प्रेक्षते यत्तुरङ्गैर्पृथ्वीमपर्याप्तां मन्यमानैः समुद्रं स्थलं कर्तुं जलधिपूरणसमर्थं रज उत्थापितमिति भावः।

समास – कियत्पदम् = कियन्ति पदानि यस्मिन् तत् यथा स्यात्तथा (बहुव्रीहि)। निजवेगदर्पितैः = दर्पः संजातो येषां ते दर्पिताः (बहुव्रीहि), निजश्चासौ वेगः (कर्मधारय), तेन दर्पिताः, तैः (तृतीया तत्पुरुष)।पयोधिरोधक्षमम् = पयांसि धीयन्तेऽस्मिन्निति पयोधिः, तस्य रोधः (बहुव्रीहि), तस्मिन् क्षमः (सुप्सुपा), तम्।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – प्रयातुम् = प्र उपसर्गपूर्वक या धातु, तुमुन्प्रत्यय। दर्पितः ='दर्प'शब्द से "तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्"सूत्र से'इतच्'प्रत्यय।उत्थितम् = 'उत्'उपसर्गपूर्वक 'स्था' धातु से 'क्त' प्रत्यय।धरा = धरति जीवनसंधानमिति धरा, 'धृ' धातु से 'अच्' प्रत्यय, स्त्रीत्वविवक्षा में 'टाप्' प्रत्यय।

कोश – रजः = "पांशुर्ना द्वयोः रजः" इत्यमरः।

अलङ्कार – इस पद्य में उत्प्रेक्षमूलक अतिशयोक्ति अलङ्कार है।

प्रसङ्ग –

गति के कारणनल के घोड़ों की लज्जा का वर्णन करते हुए कवि कहता है –

हरेर्यदक्रामि पदैककेन खं पदैश्चतुर्भिः क्रमणेऽपि तस्य नः।

त्रपा हरीणामिति नम्रिताननैर्यवर्ति तैरर्धनभः कृतक्रमैः।। 70।।

अन्वय – 'यत् खं हरेः एककेन पदा अक्रामि, तस्य चतुर्भिः पदैःक्रमणेऽपि नः हरीणां त्रपा' इति नम्रिताऽननैः अर्धनभः कृतक्रमैः तैः न्यवर्ति ।

शब्दार्थ – यत् = जिस। रव = आकाश को। हरेः = विष्णु के। एककेन = एक ही। पदा = पैर ने। अक्रामि = लांघलिया। तस्य = उस आकाश का। चतुर्भिः = चारों। पदैः = पैरों के द्वारा। क्रमणेऽपि = लांघनेपर। नः = हमारे। हरीणां = घोड़ों की । त्रपा = लज्जा की बात है। इति = इस प्रकार । नम्रिताऽननैः = मुख झुकाये हुए। अर्धनभः कृतक्रमैः = आधा आकाश लाँघ लेने वाले। तैः = वे घोड़े। न्यवर्ति = लौट पड़े।

हिन्दी में अनुवाद – 'जिस आकाश को विष्णु के एक ही पैर ने लाँघ लिया था, उस आकाश का चारों पैरों द्वारा अतिक्रमण करने पर हम घोड़ों के लिए लज्जा की बात है' इस प्रकार मुख झुकाये हुए (केवल) आधे आकाश को लाँघ लेने वाले वे घोड़े लौट पड़े।

हिन्दी – व्याख्या – भाव यह है कि वामनावतार में भगवान् विष्णु ने आकाश का एक पैर से या अकेले ही अतिक्रमण कर लिया था, लेकिन अपनी गति पर अभिमान करने वाले राजा नल के घोड़े चार या उससे भी अधिक पैरों से उसका अतिक्रमण नही ंकर सके हैं। अतः कवि उत्प्रेक्षा करता है कि मानो घोड़े यह सोचकर लज्जित हुए कि एक हरि अर्थात् विष्णु ने एक ही पैर से आकाश को नाप लिया था, किन्तु हम अनेक होकर भी नहीं लाँघ सके।

संस्कृत – व्याख्या – पद्येस्मिन् अश्वलज्जां वर्णयन् कविः कथयति –**हरेरिति।** यत् खं = यत् प्रसिद्धम् आकाशतत्त्वं, हरेः =विष्णोः, एककेन =एकाकिना, पदा =चरणेन, अक्रामि = अलङ्घि, तस्य = तन्नभसः, चतुर्भिः = चतुःसंख्यकैः, पदैः = पादैः, क्रमणेऽपि = अतिक्रमणेऽपि, नः = अस्माकं, हरीणां हरि इति सञ्ज्ञकानमश्वानां विष्णूनां वा, त्रपा = व्रीडा; एकस्य हरेः एकाकिना पदेन यत् आकाशं लङ्घितम्, तस्य बहूनां तुरङ्गानां चतुर्भिः पदैरपि लङ्घने लज्जेति भावः; इति = अस्मात् कारणत्, नम्रिताऽननैः= अवनतमुखैः, अर्धनभःकृतक्रमैः = समुल्लङ्घितार्धाकाशैः, तैः हरिभिः; अश्वैरित्यर्थः, न्यवर्ति = निवृत्तम्।

समास – नम्रिताऽननैः = नम्रितम् आननैः यैः, तैः (बहुव्रीहि)। अर्धनभःकृतक्रमैः = अर्धं नभसः, अर्धनभः "अर्धं नपुंसकम्" सूत्र से समास, कृतः क्रमःयैः, ते कृतक्रमाः (बहुव्रीहि), अर्धं नभसि कृतक्रमाः तैः (सप्तमी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी– अक्रामि = क्रमधातु, लुङ्लकार, प्र.पु. एकवचन। क्रमणे = क्रम+ल्युट+ङि, सप्तमी एकवचन। न्यवर्ति = नि उपसर्गपूर्वक वृतु वर्तने धातु लुङ्लकार, प्र.पु. एकवचन।

कोश – खम् = "नभोऽन्तरिक्षं गगनमनन्तं सुखवर्त्म खम्" इत्यमरः।

अलङ्कार – 'हरि' शब्द के दो अर्थ–'विष्णु' तथा 'अश्व'– होने के कारण यहाँ श्लेष अलङ्कार है।इस पद्य में इति के आगे इव पद का प्रयोग न होने के कारण प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अलङ्कार भी है।

प्रसङ्ग –

घुड़सवारों के अश्वसञ्चालन में निपुणत्व का वर्णन करते हुए कवि कहता है –

चमूचरास्तस्य नृपस्य सादिनो जिनोक्तिषु श्राद्धतयेव सैन्धवाः।

विहारदेशं तमवाप्य मण्डलीमकारयन् भूरितुरङ्गमानपि ।। 71।।

अन्वय – जिनोक्तिषु भूरि श्राद्धतया सैन्धवा इव तस्य नृपस्य चमूचराः सादिनः तं विहारदेशम् अवाप्य तुरङ्गमानपि मण्डलीम् अकारयन् ।

शब्दार्थ – जिनोक्तिषु = जैनाचार्यों के कथनों में। श्राद्धतया = श्रद्धा होने के कारण। सैन्धवा इव = सिन्धु देशोत्पन्न जैनियों की तरह। तस्य = उस। नृपस्य = नल की । चमूचराः = सेना में रहने वाले । सादिनः = घुड़सवारों ने। तम् = उस। विहारदेशम् = जिनालय या उद्यान में । अवाप्य = पहुँच कर । भूरि = अत्यधिक या अनेक। तुरङ्गमानपि = घोड़ों को भी। मण्डलीम् = मण्डलाकर अथवा वृत्ताकार। अकारयन् = करायी।

हिन्दी में अनुवाद – जैन कथनों में सिन्धु देशोत्पन्न जैनियों केसमानउस राजा नल की सेना में रहने वाले घुड़सवारों ने श्रद्धा होने के कारण उस विहारस्थली (जिनालय) में पहुँच कर अपने अनेक घोड़ों को भी मण्डलाकार भ्रमण कराया या खड़ा किया।

हिन्दी – व्याख्या – विहार शब्द जैनियों के मठ और भ्रमण स्थल (उद्यान) दोनों का वाची है। अतः कवि कल्पना करता है कि जिस प्रकार जिन वाणी में श्रद्धा से जैन लोग मण्डलाकार बैठते हैं, उसी प्रकार जैनमत में श्रद्धा होने के कारण मानो नल के घुड़सवार सैनिकों नेअपने घोड़ों को भी मण्डलाकार या वृत्ताकार खड़ा किया।

संस्कृत – व्याख्या–पद्येस्मिन् सादिनाम् अश्वसञ्चालननैपुण्यं प्रतिपादयन् कविः प्राह –**चमूचरा इति।** तस्य = पूर्वोक्तस्य, नृपस्य = नलइत्याख्याधिपस्य, चमूचराः = सेनाचराः, सादिनः =अश्वारोहिणः, जिनोक्तिषु =जैनधर्मप्रवर्तकस्य वचनेषु, सैन्धवाः =सिन्धुदेशोद्भवाः जिनानुयायिनः, इव = तथेव, श्राद्धतया = जैनवचनेष्वास्तिकतया, तं = प्रसिद्धं, विहारदेशं = जैनविहारभूमिम् अश्वानां नलस्य च विहरणस्थानं, अवाप्य = प्राप्य भूरि = अत्यधिकं,तुरङ्गमानपि = अश्वानपि, मण्डलीम् = मण्डलाकारं भ्रमणम्, अकारयन् =कारितवन्तः ।जिना अपि स्वकर्मानुष्ठाने प्रायेण मण्डलानि कुर्वन्तीति प्रसिद्धिः। अतः जैनमते दीक्षिताःसैन्धवा इव सादिभिः अश्वाः विहिताः इति भावः।

समास – जिनोक्तिषु = जिनस्य उक्तयः, तासु (षष्ठी तत्पुरुष)। विहारदेशम् = विहारश्चासौ देशः, तम् (कर्मधारय)।

व्याकरणारणात्मक टिप्पणी – चमूचराः = चम्वां चरन्तीति, 'चमू' उपपदपूर्वक 'चर्' धातु से "चरेष्टः" सूत्र से 'ट' प्रत्यय, प्रथमा विभक्ति, बहुवचन।श्राद्धतया = श्रद्धा अस्ति येषां ते श्रद्धाः, 'श्रद्धा' शब्द से "प्रज्ञाश्रद्धाऽर्चाभ्योणः" सूत्र से तद्धित 'अण्' प्रत्यय, श्रद्धानां भावः श्राद्धता, तया, श्राद्ध+तल्+टाप्+टा।अवाप्य = अव+आप्+क्त्वा(ल्यप्)। मण्डलीम् = 'मण्डल' शब्द से "षिद्गौरादिभ्यश्च" सूत्र से ङीष् प्रत्यय।

कोश – सिन्धु = "देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियाम्" इत्यमरः।जिनः = "समन्तभद्रो भगवान् मारजिल्लोकजिज्जिनः" इत्यमरः। विहारः = "विहारो भ्रमणे स्कन्धे लीलायां सुगतालये" इति विश्वः।

अलङ्कार – इस पद्य में विहार शब्द के दो अर्थ हैं– जैनमठ एवं उद्यान। अतः यहाँ श्लेष अलङ्कार है। सिन्धुदेशोत्पन्न जैनियों से घुड़सवारों की तुलना की गयी है, अतःइव वाचक शब्द के प्रयोग के कारण उपमा

अलङ्कार भी प्रतीत होता है, किन्तु प्रसिद्धि है कि जैनधर्म के अनुयायी मठों में जाकर मण्डल (गोलाकार) बनाकर बैठते हैं, अतः कवि इसी के कारण उत्प्रेक्षा करता है कि जैन धर्म में आस्था होने के कारण मानो उन घुड़सवारों ने विहार प्रदेश में पहुँचकर मण्डलाकार स्थिति में खड़ा कराया। अत एव उपमा न होकर उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

द्विषद्भिरेवास्य विलङ्घिता दिशो यशोभिरेवाब्धिरकारि गोष्पदम्।

इतीव धारामवधीर्य मण्डलीक्रियाश्रियामण्डि तुरङ्गमैः स्थली ।। 72।।

अन्वय – दिशः अस्य द्विषद्भिरेव विलङ्घिता अब्धिः यशोभिः एव गोष्पदम् अकारि, इतीव तुरङ्गमैः धारामवधीर्य मण्डलीक्रियाश्रिया स्थली अमण्डि ।

शब्दार्थ – दिशः = दिशायें। अस्य = इस राजा नल के। द्विषद्भिः = शत्रुओं द्वारा। एव = ही। विलङ्घिता = लाँघ दी गयी है। अब्धिः = समुद्र को। यशोभिः =कीर्ति द्वारा। एव = ही। गोष्पदम् = गोपद अर्थात् गौ के खुर के समान छोटा । अकारि = बना दिया हो। इतीव = ऐसा सोचकर। तुरङ्गमैः = घोड़ों ने। धारामवधीर्य = धारागति अथवा सरपट चाल कात्यागकर। मण्डलीक्रियाश्रिया = मण्डलाकार घूमने की शोभा से । स्थली = विहारभूमि को। अमण्डि = सुशोभित किया।

हिन्दी में अनुवाद – दिशायें इस राजा नल के शत्रुओं द्वारा ही लाँघ दी गयी हैं, समुद्र को इसने कीर्ति द्वारा ही गोपद अर्थात् गाय के खुर के समान छोटा बना दिया है, ऐसा सोचकर घोड़ों ने धारागति अर्थात् सरपट गति का त्यागकर मण्डलीकरण की शोभा से विहारभूमि को सुशोभित किया।

हिन्दी–व्याख्या – भाव यह है कि नल के शत्रु प्राणरक्षार्थ युद्धभूमि से भागकर दिशाओं के अन्त में पहुँच गये थे तथा नल के यशःसमूह ने समुद्र को पहले ही लाँघ दिया है, अतः कहीं स्थान न मिलने से घोड़ों ने सरपट न दौड़कर मण्डलीकरण से ही पृथ्वी को सुशोभित किया।

संस्कृत – व्याख्या – दिशः= ककुभः, अस्य = नलस्य द्विषद्भिःएव = शत्रुभिः एव, विलङ्घिता =आक्रान्ता, अस्य यशोभिः = कीर्तिभिः,अब्धिः = अर्णवः,गोष्पदम् = गोशेफप्रमाणम्, अकारि = कृतः, इतीव = एतत् विचिन्त्य, तुरङ्गमैः = हयैः, धाराम् =आस्कन्दितादिगतिम्, अवधीर्य =विहाय, मण्डलीक्रियाश्रिया = मण्डलीकरणशोभया,मण्डलगत्येति भावः, स्थली = विहारभूमिः, अमण्डि = भूषिता। आशयोऽयमस्ति यत् अत्र पराजितानां नलशत्रूणां पलायनं सूच्यते आसमुद्रकीर्तिश्चासीत्।

समास – मण्डलीक्रियाश्रिया = मण्डल्याः क्रिया(षष्ठी तत्पुरुष) तस्याः श्रीः, तया(षष्ठी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – द्विषद्भिः = द्विषन्तीति द्विषन्तः, तैः, 'द्विष् अप्रीतौ' धातु, लट् के स्थान पर'शतृ'आदेश, तृतीया विभक्ति बहुवचन।अब्धिः = आपः धीयन्ते अत्र,अप्+ धा+कि। अकारि = 'कृ' धातु, लुङ् लकार, प्रथम पुरुष एकवचन।अमण्डि = 'मडि भूषायाम्' धातु से 'णिच्' होकर लुङ्लकार प्रथम पुरुष एकवचन। स्थली = 'स्थल' से

"जानपदकुण्डगोणस्थलः" सूत्र से 'ङीप्' प्रत्यय। अवधीर्य = 'अव्''अधि' उपसर्गपूर्वक 'ईर् प्रेरणे' धातु से क्त्वा (ल्यप्)।

कोश – द्विषत् = "रिपुवैरिसपत्नाऽरिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः" इत्यमरः। अब्धिः = "समुद्रोऽब्धिरकूपारः" इत्यमरः।

अलङ्कार – इस पद्य में अतिशयोक्ति तथा उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

विशेष – इस पद्य में कवि ने अश्वों की गतिविशेषों का वर्णन किया है, जिनमें धारा और मण्डली गति का यहाँ उल्लेख किया है। अमरकोश में पाँच प्रकार की गतियों का उल्लेख किया गया है – "आस्कन्दितं धौरितकं रेचितं वल्गितं प्लुतम्। गतयोऽमूः पञ्च धाराः"

प्रसङ्ग–

नलसेना के अश्वों की मण्डलगति का भिन्न रूप में वर्णन करते हुए कवि कहता है–

अचीकरच्चारु हयेन या भ्रमीर्निजातपत्रस्य तलस्थले नलः।

मरुत् किमद्यापि न तासु शिक्षते वितत्य वात्यामयचक्रचङ्क्रमान्।। 73।।

अन्वय – नलः निजातपत्रस्य तलस्थले या भ्रमीःचारु अचीकरत्, तासु मरुत् वात्यामयचक्रचङ्क्रमान् वितत्य अद्यापि न शिक्षते किम् ?

शब्दार्थ – नलः = राजा नल ने। निजातपत्रस्य = अपने छत्र के नीचे। या = जो। भ्रमीः = मण्डली। चारु = सुन्दरता से। अचीकरत् = करायी। तासु = उस मण्डली के विषय में। मरुत = वायु । वात्यामयचक्रचङ्क्रमान् = बवण्डर के रूप में गोलाकार भ्रमणों को। वितत्य = विस्तार अर्थात् बार–बार करके। अद्यापि = अभी भी । न = नहीं। शिक्षते = सीख रहा है । किम् = क्या ?

हिन्दी में अनुवाद – राजा नल ने अपने छत्र के नीचे जो सुन्दर मण्डली करायी। इन मण्डलियों के विषय में वायु ववण्डर के रूप में गोलाकार भ्रमणों को बार–बार करके अभी भी नहीं सीख रहा है क्या ? अर्थात् सीख ही रहा है।

हिन्दी – व्याख्या – भाव यह है कि वायु ववण्डर के रूप में आज भी अश्व उन मण्डलियों को सीखने का अभ्यास कर ही रहा है तो भी उसे नहीं सीख पा रहा है।

संस्कृत – व्याख्या – नलः = राजा नलः, निजातपत्रस्य = स्वीयछत्रस्य, तलस्थले = अधस्तात् भूमौ, या = यत्प्रसिद्धाः, भ्रमीः = भ्रमणानि, चारु = सुन्दरतया, अचीकरत् = कारयामास, तासु = तत्भ्रमीषु, मरुत् = वातः, वात्यामयचक्रचङ्क्रमान् = वर्तुलाकारवातचक्रभ्रमणानि, वितत्य = विस्तीर्य पुनः–पुनः कृत्वा वा, अद्यापि = साम्प्रतमपि, किं न शिक्षते = शिक्षां न गृह्णाति किम् ? अपितु गृहणात्येव।

समास – निजातपत्रस्य = निजं च तत् आतपत्रं च (कर्मधारय)। तलस्थले = तलञ्च तत् स्थलम् (कर्मधारय)। वात्यामयचक्रचङ्क्रमान् = चक्रस्य चङ्क्रमाः (षष्ठी तत्पुरुष), वात्यामयाश्च ते चङ्क्रमाः, तान् (कर्मधारय)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – भ्रमीः = 'भ्रमु अनवस्थाने' धातु से "इक् कृष्यादिभ्यः" सूत्र से इक्। अचीकरत् = णिजन्त 'कृ'धातु से लुङ् लकार, प्रथम पुरुष एकवचन। वितत्य ='वि'उपसर्गपूर्वक 'तनु विस्तारे' धातु सेक्त्वा (ल्यप्)। शिक्षते = 'शक्' धातु से "धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा" सूत्र से 'सन्' प्रत्यय तथा "शिक्षेर्जिज्ञासायाम्" सूत्र से आत्मनेपद लट्लकार प्रथम पुरुष, एकवचन।

अलङ्कार – प्रसिद्ध हवा के गोलाकार बवण्डर, जिनमें कभी–कभी बारीक कंकड़ भी मिले होते हैं और वे आकाश की ऊपर तक उठ जाते हैं। यहाँ कवि उत्प्रेक्षा करता है किउनके उठने के ढंग तथा गोलाकार भ्रमण को वायु ने नल के घोड़ों की 'भ्रमी' से मानो सीखा है। अतः यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

5.4 सारांश – दमयन्ती के लोकोत्तर सौन्दर्य को सुनकर नल के हृदय में भी उसके प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ। दमयन्ती के गुणों को सुनते ही वे उस पर आसक्त हो गये। फलस्वरूप धैर्यशाली नल का धैर्यत्व च्युत हो गया। उपवनगमनार्थ घोड़े का वर्णन सात पद्यों में विस्तार से किया गया ।तत्पश्चात् अश्वारोहियों के कौशल का वर्णन किया गया है।

5.5 बोध प्रश्न :

लघु उत्तरीय प्रश्न –

1. धैर्यशाली नल के धैर्यभङ्ग का वर्णन कीजिए।
2. अश्वारोहियों के गुणों पर प्रकाश डालिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न –

1. महाराज नल का दमयन्ती के प्रति रागोदय का वर्णन कीजिए।
2. निषधपति नल के तीव्रगामी अश्वों पर प्रकाश डालिए।

5.6 उपयोगी पाठ्य–पुस्तकें –

1. नैषधीयचरितम् प्रथम सर्ग, व्याख्याकार शेषराज शर्मा रेग्मी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।
2. नैषधीयचरितम् प्रथम सर्ग, व्याख्याकार श्री बद्रीनाथ मालवीय, रामनारायण लाल विजय कुमार, इलाहाबाद।
3. नैषधीयचरितम् प्रथम सर्ग, व्याख्याकार शोभा भारद्वाज, युवराज पब्लिकेशन आगरा।

संस्कृत–पद्यकाव्य

खण्ड – 1 नैषधीयचरितम्, प्रथम सर्ग (पद्य 01 से 98 पद्यपर्यन्त)

इकाई –6 पद्यों का अनुवाद एवं संस्कृत–व्याख्या (पद्य संख्या 74–98 तक)

इकाई की रूपरेखा

6.0 प्रस्तावना

6.1 उद्देश्य

6.2 इकाई–परिचय

6.3 पद्यों की व्याख्या

6.3.1 पद्य संख्या 74–78 तक (महाराज नल का क्रीडावन में प्रवेश एवम् उनके स्वागत का वर्णन)

6.3.2 पद्य संख्या 79–81 तक (महाराज नल के द्वारा प्रकारान्तर से केतकीपुष्पकी निन्दा)

6.3.3 पद्य संख्या 82–98 तक (कामसंतप्त नल के द्वारा उपवन की प्रत्येक वस्तुओं को देखना)

6.4 सारांश

6.5 बोध प्रश्न

6.6 कुछ उपयोगी पाठ्य–पुस्तकें

6.0 प्रस्तावना – इस महाकाव्य का फल है नल–दमयन्ती की प्रणयकथा की उनके विवाह के रूप में परिणति। अतः महाकवि श्रीहर्ष फलप्राप्ति हेतु क्रमशः पृष्ठभूमि तैयार करते हैं। इसी क्रम में नल–दमयन्ती दोनों को एक–दूसरे के प्रति कामभाव पीडित कर रहा है। नल के मन में दमयन्ती के प्रति आसक्ति को और अधिक तीव्र करने के लिए नगरभ्रमण एवं विलासवन में जाने की योजना बनायी गयीऔर नल नगरभ्रमण कर क्रीडावन में प्रवेश करते हैं। प्रवेश करते ही नल का कामपीडित चित्त चेतन और अचेतन में अन्तर करना भूल जाता है। वहाँ पर नल ने केतकीपुष्प को सम्बोधित कर उसकी निन्दा की और लताओं को दमयन्ती के रूप में देखा। महाकवि कालिदास की उक्ति यहाँ पर चरितार्थ होती है –"**प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु।**"इस इकाई में उक्त विषयों से सम्बन्धित पद्यों की व्याख्या की जा रही है।

6.1 उद्देश्य – इस इकाई के अध्ययन से शिक्षार्थी :

(क) श्रीहर्ष की काव्यशैली से अवगत हो सकेंगे।

(ख) श्रीहर्ष की विषयप्रतिपादन–शैली का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

(ग) कामोद्दीपक केतकीपुष्प की विशेषताओं से अवगत हो सकेंगे।

(घ) उपवन में जाने पर राजा नल की दशा के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

(ङ) राजा नल द्वारा देखी गयी उद्यान की वस्तुओं से अवगत हो सकेंगे।

6.2 इकाई–परिचय – परास्नातक संस्कृत (MAST) कार्यक्रम के अन्तर्गत 'संस्कृत–पद्यकाव्य' नामक प्रश्न पत्र तृतीय सेमेस्टर (MAST–112N) में निर्धारित किया गया है। इस प्रश्न पत्र में कुल तेरह इकाईयाँ हैं, जिसकी षष्ठ इकाई 'महाकवि श्रीहर्षकृत 'नैषधीयचरितम्' के प्रथम सर्ग के पद्य 74 से पद्य 98 तक अनुवाद एवं व्याख्या से सम्बन्धित है।

6.3 पद्यों की व्याख्या –

6.3.1 पद्य संख्या 74–78 तक (महाराज नल का क्रीडावन में प्रवेश एवम् उनके स्वागत का वर्णन)

प्रसङ्ग –

महाराज नल केक्रीडावन में प्रवेश का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि –

विवेशगत्वा स विलासकाननं ततः क्षणात्क्षोणिपतिर्धृतीच्छया।

प्रवालरागच्छुरितं सुषुप्सया हरिर्घनच्छायमिवाम्भसां निधिम्।। 74।।

अन्वय – ततः क्षणात् गत्वा धृतीच्छया प्रवालरागच्छुरितं घनच्छायं विलासकाननं अम्भसां निधिं सुषुप्सया हरिःइव स क्षोणिपतिः विवेश।

शब्दार्थ – ततः = उसके बाद। स क्षोणिपतिः =उस राजा ने। क्षणात् = क्षणभर में। गत्वा = जाकर। धृतीच्छया = धैर्य की इच्छा से। प्रवालरागच्छुरितम्= नवपल्लवों की लालिमा से युक्त । घनच्छायम् = घनी छाया वाले । विलासकाननम्= क्रीडावन में। अम्भसांनिधिम् = क्षीर समुद्र में। सुषुप्सया = शयन करने की इच्छा से। हरिः = विष्णु के। इव = समान। विवेश = प्रवेश किया।

हिन्दी में अनुवाद – उसके बाद उस राजा (नल) ने क्षण भर में जाकर धैर्य की इच्छा से नवपल्लवों की लालिमा से युक्त, घनी छाया वाले क्रीडावन में उसी प्रकार प्रवेश किया,जिस प्रकारभगवान् विष्णु;शयन करने की इच्छा से सर्पों के स्थानभूत, मूँगों के रङ्ग से रञ्जित, मेघ के समान कान्ति से युक्तक्षीरसागरमें प्रवेश करते हैं।

संस्कृत–व्याख्या – पद्येऽस्मिन् कविः नलस्य विलासवने प्रवेशवर्णनं करोति –**विवेशेति।** ततः = तदनन्तरं, स क्षोणिपतिः = पूर्वोक्तःभूपतिः नलः, क्षणात् = अल्पकालात्, गत्वा =गमनंकृत्वा, धृतीच्छया = धैर्यकामनया, प्रवालरागच्छुरितम् = किसलयरागयुक्तम्, घनच्छायं= सघनच्छायं, मेघवणं विलासकाननं = क्रीडोपवनं, इव = तथैव, विवेश = प्रविष्टः, यथैव हरिः = विष्णुः,सुषुप्सया = स्वप्तुमिच्छया विलासकाननं = सर्पप्राणनं, प्रवालरागच्छुरितम् = विद्रुमारुण्यरुषितं, घनच्छायं = मेघकान्तिं, अम्भसां निधिं = क्षीरसागरं, विवेश =प्राविशत्।

समास – घनच्छायं = घनस्य इव छाया यस्य, तम्(व्यधिकरण बहुव्रीहि), घना छाया यस्य तत् (बहुव्रीहि)।विलासकाननम् = विलासस्य काननं, तत्(षष्ठी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – सुषुप्सया = स्वप्तुम् इच्छा इति सुषुप्सा; तया, 'ञिष्वप् शये' धातु, 'सन्' प्रत्यय, द्वित्व एवं "अ प्रत्ययात्" सूत्र से 'अ' एवं 'टाप्' प्रत्यय, तृतीया एकवचन। विलासकाननम् = यहाँ बवयोरभेदः से दो अर्थ

निकलता है–बिले आसते इति बिलासकाः (सर्पाः), बिल उपपदपूर्वक आस् धातु से "ण्वुल्तृचौ" सूत्र से 'ण्वुल्' एवं "युवयोरनाकौ" से 'अक्' आदेश।विवेश =विश् प्रवेशने धातु, लिट्लकार, प्रथम पुरुष एकवचन।

कोश–प्रवालः = "प्रवालो वल्लकीदण्डे विद्रुमे नवपल्लवे" इत्यमरः। छाया = "छाया त्वनातपे कान्तौ" इति विश्वः।

अलङ्कार – यहाँश्लेष एवं पूर्णोपमा अलङ्कार है।

विशेष – 'प्रवालरागच्छुरितम्' एवं 'घनच्छायम्' ये दोनों विशेषण उपमेय 'विलासकाननम्' तथा उपमान 'अम्भसां निधि' दोनों में लगेंगे।

वनान्तपर्यन्तमुपेत्य सस्पृहं क्रमेण तस्मिन्नवतीर्णदृक्पथे।

न्यवर्ति दृष्टिप्रकरैः पुरौकसामनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः।। 75।।

अन्वय – अनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः पूरौकसां दृष्टिप्रकरैः वनान्तपर्यन्तं सस्पृहम् उपेत्यक्रमेण तस्मिन् अवतीर्णदृक्पथे (सति) न्यवर्ति।

शब्दार्थ – अनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः = पीछे जाते हुए बन्धु समूह के समान । पुरौकसां = नगरवासियों के। दृष्टिप्रकरैः = दृष्टिसमूह। वनान्तपर्यन्तम् = वन की सीमा तक। सस्पृहम् = अभिलाषापूर्वक। उपेत्य = जाकर। क्रमेण = क्रम से। तस्मिन् = उस नल के। अवतीर्णदृक्पथे = दृष्टि से ओझल हो जाने पर। न्यवर्ति = लौट आये।

हिन्दी में अनुवाद–पीछे जाते हुए बन्धुसमूह के समान नगरवासियों के दृष्टिसमूह वन की सीमा तक अभिलाषापूर्वक जाकर क्रम से उस नल के दृष्टि से ओझल हो जाने पर लौट आये।

हिन्दी – व्याख्या – आशय यह है कि जिस प्रकार किसी का आत्मीय बान्धव कहीं जाता है, तो "उदकान्तं प्रियं पान्थमनुव्रजेत्" के अनुसार उसके बन्धुगण कुछ दूर तालाब तक पहुँचाने के लिए उसके साथ जाते हैं और उनके ओझल हो जाने पर वे लौट आते हैं,उसी प्रकार नगरनिवासियों ने भी नल का दृष्टिपथ से ओझल हो जाने तक अनुसरण किया।

संस्कृत – व्याख्या – अनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः = अनुगच्छत्बान्धवसमूहसदृशैः, पुरौकसां = पुरनिवासिनां, दृष्टिप्रकरैः= नेत्रासमूहैः वनान्तपर्यन्तं = काननसीमापर्यन्तं, सस्पृहं = सानुरागं, उपेत्य = गत्वा, क्रमेण = क्रमशः, तस्मिन् = नले, अवतीर्णदृक्पथे = नेत्रमार्गात् दूरीभूते सति, न्यवर्ति = निवृत्तम्। आशयोऽयमस्ति यत् यथा जनाः विदेशगमनोन्मुखं जनं तडागं यावदनुगम्य "उदकान्तं प्रियं पान्थमनुव्रजेत्" इत्यनुसारेण निवर्तन्ते तथैव बन्धुसदृशानि नागरिकाणां नेत्राण्यपि गच्छन्तं निषधाधिपं नलं वनोपान्तसीमां यावद् गत्वा, तस्मिन्नतिक्रान्तदृष्टिमार्गे सति न्यवर्तन्त।

समास – अनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः =बन्धूनां समाजाः(षष्ठी तत्पुरुष),अनुव्रजन्तश्च ते बन्धुसमाजाः (कर्मधारय), अनुव्रजद्बन्धुसमाजानां बन्धवः, तैः(षष्ठी तत्पुरुष)।पुरौकसाम् = पुरम् ओकः येषां ते पुरौकसः, तेषाम् (बहुव्रीहि)। दृ

ष्टिप्रकरैः =दृष्टीनां प्रकराः, तैः(षष्ठी तत्पुरुष)। वनान्तपर्यन्तम् = वनस्य अन्तः (षष्ठी तत्पुरुष), वनान्तस्य पर्यन्तम् (षष्ठी तत्पुरुष)। अवतीर्णदृक्पथे = दृशोः पन्था दृक्पथः (षष्ठी तत्पुरुष),अवतीर्णः दृक्पथः येन तस्मिन् (बहुव्रीहि)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – अनुव्रजन्तः = 'अनु' उपसर्गपूर्वक 'व्रज' धातु लट्लकार 'शतृ' प्रत्यय, प्रथमा विभक्ति बहुवचन। उपेत्य ='उप' उपसर्गपूर्वक 'इण् गतौ' धातु,'क्त्वा' (ल्यप्)प्रत्यय। न्यवर्ति = 'नि' उपसर्गपूर्वक'वृत् वर्तने' धातु, लुङ्लकार, प्रथम पुरुष एकवचन।

अलङ्कार – इस पद्य के चतुर्थ चरण में उपमा अलङ्कार है, क्योंकि'बन्धुभिः'पद'सदृशैः' अर्थ का वाचक है । चतुर्थ चरण में ही बन्धु पद दो बार आया हुआ है, अतः यमक अलङ्कार भी है।

ततः प्रसूने च फले च मञ्जुले स सम्मुखस्थाऽङ्गुलिना जनाधिपः।

निवेद्यमानं वनपालपाणिना व्यलोकयत्काननरामणीयकम्।। 76।।

अन्वय – ततः स जनाधिपः मञ्जुले प्रसूने च फले च सम्मुखस्थाङगुलिना वनपालपाणिना निवेद्यमानं काननरामणीयकं व्यलोकयत्।

शब्दार्थ – ततः = तदनन्तर । सः = उस। जनाधिपः = राजा नल ने। मञ्जुले = मनोहर । प्रसूने = फूल। च = और। फले च = फल पर। सम्मुखस्थाऽङ्गुलिना = सामने अङ्गुलि के सङ्केत से। वनपालपाणिना = वनपाल के हाथ से। निवेद्यमानम् = दिखाये जाते हुए। काननरामणीयकम् = वन के सौन्दर्य को । व्यलोकयत् = देखा ।

हिन्दी मेंअनुवाद–तदनन्तर उस राजा ने मनोहर फूल और फल पर सामने अङ्गुलि के सङ्केत से वनपाल द्वारा दिखाये जाते हुए वन के सौन्दर्य को देखा।

संस्कृत – व्याख्या – तत इति। ततः = तदनन्तरं, सः= पूर्वोक्तः, जनाधिपः = लोकाधिपः, मञ्जुले = मनोहरे, प्रसूने च = पुष्पे च, फलेच= विपाके च, सम्मुखस्थाङगुलिना =पुर अवस्थितकरशाखेन, वनपालपाणिना =वनरक्षकहस्तेन, निवेद्यमानं = निर्दिश्यमानं, प्रदर्श्यमानमिति भावः, काननरामणीयकं = अरण्यसौन्दर्यं, व्यलोकयत् = अपश्यत्।

समास – सम्मुखस्थाङगुलिना = सम्मुखस्था अङ्गुलयः यस्य सः, तेन (बहुव्रीहि)। वनपालपाणिना = वनपालस्य पाणिः, तेन (षष्ठी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–निवेद्यमानम् = नि+विद्+णिच्+लट्+यक्+शानच्+अम्। व्यलोकयत् = वि+लुक् +णिच्+ लङ्लकार, प्रथम पुरुष,एकवचन।

कोश – अङ्गुलिः = "अङ्गुल्यः करशाखा स्युः" इत्यमरः।

अलङ्कार – इस पद्य में 'मञ्जुलत्व'नामक एक धर्म के साथ 'प्रसून' एवं 'फल' इन दो पदार्थों का अभिसम्बन्ध होने के कारण तुल्ययोगिता अलङ्कार है।

फलानि पुष्पाणि च पल्लवे करे वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते।

स्थितैः समाधाय महर्षिवार्धकाद्वने तदातिथ्यमशिक्षि शाखिभिः।। 77।।

अन्वय – वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते पल्लवे करे फलानि पुष्पाणि च समाधाय स्थितैः शाखिभिः वने महर्षिवार्धकात् तदातिथ्यम् अशिक्षि।

शब्दार्थ – वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते = पक्षियों के अत्यन्त उड़ने के कारण वायु से कम्पित या अधिक अवस्था के कारण उत्पन्न वातदोष से कम्पित । पल्लवेकरे =पल्लव रूपी या पल्लव के समान हाथ में। फलानि = फलों को । पुष्पाणि च = औरपुष्पों को। समाधाय = लेकर। स्थितैः = खड़े हुए। शाखिभिः = वृक्षों ने। वने = वन में। महर्षिवार्धकात् = वृद्ध महर्षियों के समूह से। तदातिथ्यम् = उस (नल के) आतिथ्य को । आशिक्षि = सीखा।

हिन्दी में अनुवाद–पक्षियों के अत्यन्त उड़ने के कारण उत्पन्न वायु से कम्पित (हिलने वाले) पल्लव रूपी हाथों में फलों एवं पुष्पों को लेकर खड़े हुए वन के वृक्षों ने अधिक अवस्था (वृद्धावस्था) के कारण वायुरोग से कंपते हुए पल्लव के समान हाथों में फल फूल लेकर खड़े हुए वृद्ध महर्षियों से राजा नल का अतिथि सत्कार सीखा।

हिन्दी – व्याख्या – तात्पर्य यह है कि अवस्थाधिक्य के कारण उत्पन्न वातदोष से हिलते हुए हाथ पर फल फूल लेकर नल का आतिथ्य करने वाले वनवासी वृद्ध महर्षिसमूह से मानो वन के वृक्षों ने भी पक्षियों के अधिक उड़ने से उत्पन्न हवा से कम्पित पल्लव रूपी हाथ में फल–फूलों को लेकर नल का आतिथ्य करना सीखा है।

संस्कृत–व्याख्या – फलानि इति। वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते = पक्षिपातोत्पन्नवायुकम्पिते; यद्वा अवस्थाऽपगमसम्भूतवातदोषप्रकम्पिते, पल्लवे करे = किसलय एव हस्ते, फलानि =विपाकान्, पुष्पाणिच = कुसुमानि च, समाधाय = निधाय, स्थितैः = तिष्ठद्भिः, शाखिभिः = वृक्षैः;वेदशाखाध्यायिभिः, वने = कान्तारे, महर्षिवार्धकात् = महामुनिवृद्धसमूहात्, तदातिथ्यम् = नलातिथ्यम्, आशिक्षि = शिक्षितम्।

समास – वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते = वयसः अतिपातः (षष्ठी तत्पुरुष), वयोऽतिपातेन उद्गतः, स चाऽसौ वातः (कर्मधारय), तेन वेपितः, तस्मिन् (तृतीया तत्पुरुष)। महर्षिवार्धकात् = महान्तश्च ते ऋषयः महर्षयः(कर्मधारय), महर्षीणां वार्धकं, तस्मात् (षष्ठी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–समाधाय ='सम्','आङ्' उपसर्गपूर्वक 'धा' धातु से 'क्त्वा' (ल्यप्)। वार्धकम् = "तस्य समूहः" अर्थ में 'वृद्ध' शब्द से "वृद्धाच्चेति वक्तव्यम्" वार्तिक से 'वुञ्' प्रत्यय। अशिक्षि = 'शिक्ष विद्योपादाने' धातु से लुङ्लकार प्रथम पुरुष, एकवचन।

अलङ्कार –इस पद्य में श्लेषालङकार हैक्योंकिउपमान 'वृक्ष' के जो विशेषण हैं, वे सभी उपमेय 'महर्षि' के भी हैं।पल्लवे करे में रूपक तथा उपमा दोनों है।

विशेष– नल के लोकोत्तर प्रभाव को सिद्ध करने के लिए कवि ने जड जगत् को भी जङ्गम जगत् के द्वारा शिक्षा दिलायी है। नल के राज्य में अचेतन भी शिक्षा ग्रहण करते थे, चेतनों की तो बात ही क्या ? यह अर्थापत्ति से सिद्ध होता है।

प्रसङ्ग–

अग्रिमचार पद्यों मे राजा नल के द्वारा उद्यान में देखे गये केतकी के पुष्प का निन्दात्मक वर्णन करते कवि कहता है –

विनिद्रपत्त्रालिगतालिकैतवान्मृगाऽङ्कचूडामणिवर्जनाऽर्जितम्।

दधानमाशासु चरिष्णु दुर्यशः स कौतुकी तत्र ददर्श केतकम्।। 78।।

अन्वय–तत्र कौतुकी स विनिद्रपत्त्रालिगतालिकैतवात् मृगाङ्कचूडामणिवर्जनाऽर्जितम् आशासु चरिष्णु दुर्यशः दधानं केतकं ददर्श ।

शब्दार्थ – तत्र = वहाँ (काननदर्शन के विषय में)। कौतुकी = कौतूहलयुक्त। स = राजानल ने । विनिद्रपत्त्रालिगतालिकैतवात् = विकसित पत्र समूह पर बैठे हुए भ्रमरों के बहाने से। मृगाङ्कचूडामणिवर्जनाऽर्जितम् = शिवजी के द्वारा परित्यक्त होने से प्राप्त। आशासु = दिशाओं में । चरिष्णु = फैलने वाले। दुर्यशः = अपयश को। दधानम् = धारण करते हुए। केतकम् = केतुकी पुष्प को। ददर्श = देखा।

हिन्दी में अनुवाद–काननदर्शन के समय (पूर्व में न देखे गये पुष्प आदि के दर्शन से)कौतूहल युक्त राजा नल ने विकसित पत्र समूह पर बैठे हुए भ्रमरों के बहाने से शिवजी के द्वारा परित्यक्त होने से प्राप्त दिशाओं में फैलते हुए अपयश को धारण करने वाले केतकी पुष्प को देखा।

हिन्दी–व्याख्या – भाव यह है कि केतकी का पुष्प शिवार्चन में प्रयोग नहीं किया जाता है। अतः कवि ने कल्पना की है कि केतकी के पुष्प पर गन्ध के लोभ से बैठे हुए जो दिखायी देते थे, वेभ्रमर नहीं थे, अपितु शिवजी के द्वारा त्यक्त होने से फैलने वाले वे काले अपयश थे । वस्तुतः वे भ्रमर ही थे। चूँकि भ्रमर का रंग काला होता है एवं कवि सम्प्रदाय में अपयश का रंग भी काला माना गया है, अत एव कवि ने ऐसी कल्पना की है।

संस्कृत–व्याख्या–पद्येऽस्मिन् कामपीडितं राजानं दृष्ट्वा कविः सात्त्विकभावोत्पत्तेः कण्टकितत्वात् सर्वप्रथमं केतकीपुष्पं वर्णयतीति –**विनिद्रेति**। तत्र = तस्मिन् वने, कौतुकी स=कुतूहलयुक्तः नलः; अपूर्वपुष्पादिदर्शनोत्सुकः नैषध इत्यर्थः, विनिद्रपत्त्रालिगतालिकैतवात् = विकसितदलपङ्क्तिस्थितिभ्रमरमिषात्, मृगाङ्कचूडामणिवर्जनार्जितम् =शङ्करपरित्यागोपार्जितम्, आशासु =दिशासु, चरिष्णु = विचरणशीलम्, दुर्यशः = अपयशः, दधानम्= दधत्,

केतकम्= केतकीपुष्पं, ददर्श = अपश्यत्।भ्रमरेषु सत्स्वपि कविःउत्प्रेक्षते यत् भ्रमराः न सन्ति, अपितु शिवकृतपरित्यागजन्यमयशः। वस्तुतः योग्यमहापुरुषस्य बहिष्कारः दुष्कीर्तिकर इति भावः।

समास – विनिद्रपत्त्रालिगतालिकैतवात् =पत्त्राणाम् आलिः (षष्ठी तत्पुरुष),विनिद्रा चाऽसौ पत्त्रालिः(कर्मधारय),तां गताः (द्वितीया तत्पुरुष),ते च ते अलयः (कर्मधारय),विनिद्रपत्त्रालिगतालीनां कैतवम्, तस्मात् (षष्ठी तत्पुरुष)।मृगाङ्कचूडामणिवर्जनार्जितम् = मृगः अङ्कः यस्य सः (बहुव्रीहि), चूडायाः मणिः (षष्ठी तत्पुरुष), मृगाङ्कः चूडामणिः यस्य सः (बहुव्रीहि)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–कौतुकी = कौतुकमस्यास्तीति, "अत इनिठनौ" सूत्र से 'इनि' प्रत्यय। चरिष्णु = 'चर्' धातु से 'इष्णुच्' प्रत्यय।

अलङ्कार – यहाँ केतकी पुष्प के ऊपर मंडराते हुए भौरों को केतकी के परित्याग से प्राप्त अपयश की स्थापना की गयी हैएवं उसके बहाने से अलित्व का निषेध किया गया है, अत एव अपह्नुति अलङ्कार है। वे भौरे केतकी के अपयश या निन्दा के रूप में घूम रहे थे। ऐसा लगता था मानो उसकी अपकीर्ति उड़ रही हो, अत एव यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार भी है।

विशेष –यहाँ कवि ने एक पौराणिक आख्यान की ओर सङ्केत किया है। एक बार ब्रह्मा और विष्णु में श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए विवाद हो गया कि कौन श्रेष्ठ है? विवाद को सुलझाने के लिये शिवजी के पास गये। शिवजी ने एक ज्योतिर्लिङ्ग को प्रकट किया और कहा कि इसके आदि और अन्त का जो पता लगा लेगा, वही श्रेष्ठ होगा। इसे पता करने के लिये भगवान् विष्णु ऊपर गये और ब्रह्माजी नीचे की ओर गये, किन्तु विष्णु भगवान् विना पता लगाये वापस लौट आये। वहीं ब्रह्माजी ने कहा कि उन्होंने पता लगा लिया है और केतकी पुष्प से झूठी गवाही दिला दी। भगवान् शिव ब्रह्मा जी के झूठ को जान गये। झूठी गवाही देने के लिये केतकी को अपनी पूजा से वर्जित कर दिया और तब से "न केतक्या सदाशिवम्" इस निषेध वचन के कारण केतकी का पुष्प शिवजी को नहीं चढ़ाया जाता है। शिवजी ने मिथ्या भाषण के लिये ब्रह्माजी का पाँचवाँ सिर काट दिया और तबसे ब्रह्माजी चतुर्मुख हो गये।

6.3.2 पद्य संख्या 79–81 तक (महाराज नल के द्वारा प्रकारान्तर से केतकीपुष्प की निन्दा)

प्रसङ्ग– केतकी पुष्प का प्रकारान्तर से निन्दा करते हुए कवि कहता है –

वियोगभाजां हृदि कण्टकैः कटुर्निधीयसे कर्णिशरः स्मरेण यत्।

ततो दुराकर्षतया तदन्तकृद्विगीयसे मन्मथदेहदाहिना।। 79।।

अन्वय–(केतक!)यत् (त्वं) स्मरेण कण्टकैः कटुः कर्णिशरः वियोगभाजां हृदि निधीयसे, ततः दुराकर्षतया तदन्तकृत् मन्मथदेहदाहिना विगीयसे।

शब्दार्थ – यत् = जो। स्मरेण = कामदेव द्वारा। कण्टकैः = कांटों से। कटुः = तीक्ष्ण। कर्णिशरः = नुकीले कांटे युक्त बाण वाला। वियोगभाजाम् = वियोगियों के। हृदि = हृदय में। निधीयसे = प्रविष्ट किये जाते हो। ततः = इसलिए। दुराकर्षतया = कठिनता से निकाले जा सकने के कारण। तदन्तकृत् = उनका (वियोगियों का) अन्त करने वाले। मन्मथदेहदाहिना = कामदेव के शरीर को जलाने वाले शिवजी के द्वारा। विगीयसे = निन्दित हो।

हिन्दी में अनुवाद – (केतकी को सम्बोधित कर राजा नल कहते हैं कि हे केतकीपुष्प!)जो(तुम) कामदेव के द्वारा काँटों से तीक्ष्णएवं नुकीलेबाण वाला होकर वियोगियों के हृदय में रख दिये जाते हो, इसलिए कठिनता से निकाले जा सकने के कारण उन वियोगियों का अन्त करने वाले (तुम) शिवजी द्वारा निन्दित हो।

हिन्दी–व्याख्या–केतकी के पुष्प में कांटे होते हैं। अतः कवि उत्प्रेक्षा करता है कि मानो वह वियोगियों के हृदय को भेदने के कारण शिवजी द्वारा प्रकट किया गया है।

संस्कृत–व्याख्या–पद्येऽस्मिन् नलः कामोद्दीपकत्वात् केतकम् उपालभसे – वियोगभाजामिति। यत् =यस्मात् त्वं, स्मरेण = मदनेन, कण्टकैः =निजतीक्ष्णावयवैः, कटुः = तीक्ष्णः, कर्णिशरः = सकण्टकबाणः, वियोगभाजां = विरहिणां, हृदि = हृदये निधीयसे = निक्षिप्यसे, ततः = तस्मात् कारणात्, दुराकर्षतया = दुःखेनाक्रष्टुं शक्यतया, तदन्तकृत्=तदेहावसानकृत्, मन्मथदहेदाहिना = कामहरेण शङ्करेण, विगीयसे = निन्द्यसे (इति क्रुधाक्रुश्यत तेन केतकम्)।

समास –तदन्तकृत् = तेषाम् अन्तः,तदन्तः (षष्ठी तत्पुरुष)। कर्णिशरः = कर्णी चासौ शरः (कर्मधारय)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी –वियोगभाजाम् = वियोगउपपदपूर्वक 'भज्' धातु से "भजो ण्विः" सूत्र से 'ण्वि' प्रत्यय। निधीयसे = 'नि' उपसर्गपूर्वक 'धा' धातु से कर्मणि लट्लकार, मध्यम पुरुष एकवचन। दुराकर्षतया = 'दुर्','आङ्' उपसर्गपूर्वक 'कृष्' धातु 'कर्मणि खल्'+तल्+टाप् तृतीया एकवचन।विगीयसे = 'वि' उपसर्गपूर्वक 'गै' धातु से कर्मणि लट्, मध्यम पुरुष एकवचन।

अलङ्कार –इस पद्य में शिवजी से की गयी कामनिन्दा में कापदेव से की गयी वियोग हिंसा की कारणता की उत्प्रेक्षा व्यङ्ग्य है, अतः यहाँ प्रतीयमानोत्प्रेक्षा तथा केतकीपुष्प में कर्णिशरत्व का आरोप होने के कारण रूपक अलङ्कार है।

प्रसङ्ग–कामोद्दीपक केतकी पुष्प की निन्दा करते हुए राजा नल कहते हैं –

त्वदग्रसूचीसचिवः स कामिनोर्मनोभवः सीव्यति दुर्यशःपटौ ।

स्फुटञ्च पत्रैः करपत्रमूर्तिभिर्वियोगिहृद्दारुणि दारुणायते ।। 80 ।।

अन्वय– त्वदग्रसूचीसचिवः सः मनोभवः कामिनोः दुर्यशःपटौ सीव्यति, स्फुटञ्च करपत्रमूर्तिभिः पत्रैः वियोगिहृद्दारुणि दारुणायते।

शब्दार्थ – त्वदग्रसूचीसचिवः = तुम्हारे अग्र भाग रूपी सुई की सहायता से । सः मनोभवः = वह कामदेव। कामिनोः = कामी स्त्री–पुरुषों के। दुर्यशःपटौ = अपयश रूपी दो वस्त्रों को। सीव्यति = सीता है। स्फुटञ्च = और निश्चय ही । करपत्रमूर्तिभिः = आरे के समान आकार वाले। पत्रैः = पत्तों द्वारा । वियोगिहृद्दारुणि = वियोगियों के हृदय रूपी लकड़ी पर। दारुणायते = क्रूर के समान आचरण करता है।

हिन्दी में अनुवाद –(केतकी पुष्प को सम्बोधित करते हुए राजा नल कहते हैं, हे केतक) तुम्हारे अग्र भाग रूपी सुई की सहायता से वह कामदेव कामी एवं कामिनी; दोनों केअपयशरूपी दो वस्त्रों की सिलाई करता है। और निश्चित रूप से आरे के समान आकार वाले पत्तों द्वारा वियोगियों के हृदय रूपी लकड़ी पर क्रूर के समान आचरण करता है।

हिन्दी–व्याख्या – भाव यह है कि केतकी पुष्प को देखने से कामी पुरुष एवं कामिनी स्त्री–पुरुषों का धैर्यभङ्ग होता है, जिसके कारण वे अपकीर्ति पाते हैं तथा आरे के समान आकार वाले केतकी पत्र को देखने से उनका हृदय आरे से चीरे जाते हुए के समान विदीर्ण होता है।लोकप्रसिद्धि है कि केवड़े की कलिका को देखकर कामविह्वल स्त्री–पुरुष उचितानुचित का मान भूल जाते हैं।

संस्कृत–व्याख्या– पद्येऽस्मिन् कामोद्दीपककेतकीपुष्पनिन्दां कुर्वन् कविः कथयति –**त्वदग्रेति**। त्वदग्रसूचीसचिवः = त्वत्कण्टकसूचिकासहायः,सः मनोभवः = सः पूर्वोक्तः मनसिजः, कामिनोः = कामुकयोः स्त्रीपुंसयोः, दुर्यशःपटौ = अपकीर्तिदुकूलौ, सीव्यति = विसीव्यति; कण्टकस्यूतं करोतीत्यर्थः, स्फुटञ्च =स्पष्टञ्च, करपत्रमूर्तिभिः क्रकचाकारधारिभिः, पत्रैः = दलैः वियोगिहृद्दारुणि = विरहिहृदयकाष्ठपटले, दारुणायते = विदारकमिव आचरति । लोके प्रसिद्धिरियमस्ति यत् केतकाग्रदर्शनात् वियोगिनोः कामिनोः धैर्यभङ्गः पत्रदर्शनाच्च तयोः हृदयं विदीर्णं भवतीति।

समास –त्वदग्रसूचीसचिवः = तव अग्राणि त्वदग्राणि (षष्ठी तत्पुरुष),त्वदग्राणि एव सूच्यः (रूपक), त्वग्रसूच्यः एव सचिवा यस्य सः (बहुव्रीहि)।कामिनोः = कामिनी च कामी च कामिनौ, तयोः (एकशेष द्वन्द्व)।करपत्रमूर्तिभिः = करपत्रस्य इव मूर्तिः येषां तानि करपत्रमूर्तीनि, तैः (व्यधिकरण बहुव्रीहि)।वियोगिहृद्दारुणि = वियोगिनां हृद्(षष्ठी तत्पुरुष), तदेव दारु, तस्मिन् (मयूरव्यंसकादि)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी –सीव्यति = 'षिवु तन्तुसन्ताने' धातु, लट्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। दारुणायते = दारुणवत् आचरति, 'दारुण' शब्द से "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च"सूत्र से 'क्यङ्' प्रत्यय, लट्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

कोश– करपत्रम् = "क्रकचोऽस्त्री करपत्रम्" इत्यमरः।

अलङ्कार–इस पद्य में केतकाग्र भाग में 'सूची' का, दुर्यशः में 'पट' का तथा हृदय में 'दारु' का आरोप किये जाने के कारण रूपक अलङ्कार है। 'दारुणायते' में उपमा अलङ्कार है। पद्य के चतुर्थ चरण में यमक अलङ्कार है।

प्रसङ्‌ग –

नल की कामपीडा में कामोद्‌दीपक केतकीपुंष्प की कारणता कावर्णन करते हुए कवि कहता है–

धनुर्मधुस्विन्नकरोऽपि भीमजापरं परागैस्तव धूलिहस्तयन् ।

प्रसूनधन्वा शरसात्करोतिमामिति क्रुधाऽऽक्रुश्यत तेन कैतकम् ।। 81 ।।

अन्वय–'प्रसूनधन्वा धनुर्मधुस्विन्नकरः अपि तव परागैः धूलिहस्तयन् भीमजापरं मां शरसात्करोति' इति क्रुधा तेन केतकम् आक्रुश्यत ।

शब्दार्थ – प्रसूनधन्वा = पुष्प धनुष वाले कामदेव। धनुर्मधुस्विन्नकरः अपि = धनुष के मधु से आर्द्र होता हुआभी। तव = तुम्हारे। परागैः = पराग से। धूलिहस्तयन् = हाथ को शुष्क बनाता हुआ। भीमजापरं = भीमपुत्री दमयन्ती में अत्यन्त आसक्त । माम् = मुझको । शरसात्करोति = बाण से विद्ध कर रहा है। इति = इस प्रकार । क्रुधा = क्रोध से । तेन = नल ने। कैतकम् = केतकी के पुष्प की । आक्रुश्यत = निन्दा की।

हिन्दी में अनुवाद –'कामदेव धनुष के मधु से आर्द्रहस्त तुम्हारे परागों से हाथ को शुष्कबनाता हुआ भीमपुत्री दमयन्ती में आसक्त मुझको (अपने) बाणों के आधीन कर रहा है।' इस प्रकार क्रोध से नल ने केतकी के पुष्प की निन्दा की।

हिन्दी–व्याख्या – भाव यह है कि धनुष को बहुत समय तक पकड़े रहने से जब धनुर्धारी का हाथ पसीजने लगता है, तब वह हाथ में धूलि लगाकर उसे सूखा कर लेता है और वैसा करने से वह लक्ष्य का ठीक–ठीक वेध करता है। अतः कवि कहता है कि नल के कामपीडित होने में केतकी का पुष्प ही कारण है, क्योंकि पुष्पमय धनुष के मधु से आर्द्रहस्त कामदेव यदि केतकी के परागों से हाथ को शुष्क नहीं करता तो लक्ष्यभ्रष्ट होने से नल कामपीडित नहीं होते। यहाँ नल की विरह दशा का वर्णन है वन में घूमते हुए नल ने जब केतकी पुष्प को देखा तो उसे राजा ने उलाहना दिया कि तुम्हारे पराग से ही कामदेव अपनी अंगुलियों को सूखा बना करके पुष्पजन्य आर्द्रता को समाप्तकर मुझ पर तीक्ष्ण बाणों का प्रहार कर रहा है। यहाँ कालिदास की उक्ति "कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु" चरितार्थ होती हुई दिखायी देती है।

संस्कृत–व्याख्या –पद्येऽस्मिन् नलस्य कामपीडायाः कारणं केतकीपुष्पमेव इति प्रतिपादयन् कविः प्राह –**धनुरिति**। (केतक!) प्रसूनधन्वा = पुष्पचापः, धनुर्मधुस्विन्नकरः अपि = चापमकरन्दार्द्रहस्तः सन् अपि, तव = केतकस्य, परागैः =पुष्परजोभिः, धूलिहस्तयन् =रजोद्‌भावितहस्तमात्मानं कुर्वन्, भीमजापरम् = अत्यन्तं दमयन्त्यनुरक्तं, मां = नलं, शरसात्करोति = बाणाधीनं विदधाति, इति = अनेन प्रकारेण, क्रुधा = कोपेन, तेन =नलेन, कैतकम् =केतकीपुष्पम्, आक्रुश्यत = अनिन्द्यत।

समास –प्रसूनधन्वा = प्रसूनं धन्व यस्य सः (बहुव्रीहि), धनुर्मधुस्विन्नकरः = धनुषः मधु (षष्ठी तत्पुरुष), स्विन्नः करः यस्य सः (बहुव्रीहि), धनुर्मधुना स्विन्नकरः (तृतीया तत्पुरुष)।**व्याकरणात्मक टिप्पणी** – धूलिहस्तयन् = 'धूलिहस्त'शब्द से "तत्करोति तदाचष्टे"सूत्र से 'णिच्' एवं लट्लकार के स्थान में 'शतृ' आदेश, प्रथमा विभक्ति, एकवचन। भीमजा = भीमाज्जाता, भीम+जन्+टाप्। आक्रुश्यत = 'आङ्' उपसर्गपूर्वक 'क्रुश आह्वाने रोदने च' धातु से कर्मणि लङ्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

कोश–धन्व = "धनुश्चापौ धन्व शरासनकोदण्डकार्मुकम्" इत्यमरः, "पुष्पधन्वा रतिपतिः" इत्यमरः।मधु = "मधु मद्ये पुष्परसे क्षौद्रेऽपि" इत्यमरः। परागः = "परागः सुमनोरजः"इत्यमरः।क्रुध् ="कोपक्रोधाऽमर्षरोषप्रतिघारुट्क्रृधौ स्त्रियौ" इत्यमरः।

अलङ्कार – इस पद्य में कामदेव के धनुष से हाथ के गीले होने का तथा नल के द्वारा कामनिन्दा का सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध का कथन किया गया है, अतः अतिशयोक्ति अलङ्कार है।

6.3.3 पद्य संख्या 82– 98 तक (कामसंतप्त नल के द्वारा उपवन की प्रत्येक वस्तुओं को देखना)

प्रसङ्ग –

दमयन्ती के स्तनों की विशालता का वर्णन करता हुआ कवि कहता है–

विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताऽऽप्तये घटानिवापश्यदलं तपस्यतः।

फलानि धूमस्य धयानधोमुखान् स दाडिमे दोहदधूपिनि द्रुमे।। 82।।

अन्वय – स दोहदधूपिनि दाडिमे द्रुमे विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताऽऽप्तये धूमस्य धयान् अधोमुखान् घटानिव तपस्यतः फलानि अलम्अपश्यत् ।

शब्दार्थ – स = उस नल ने । दोहदधूपिनि = दोहदधूपयुक्त । दाडिमे = अनार के। द्रुमे = पेड़ पर। विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताऽऽप्तये = दमयन्ती के स्तन की विशालता को प्राप्त करने के लिए। धूमस्य = धूयें को। धयान् = पान करने वाले । अधोमुखान् = नीचे को मुख किये हुए।घटानिव = घड़ों के समान। अलम् = अच्छी तरह अर्थात् कठोर।तपस्यतः = तपस्या करते हुए। फलानि = फलों को। अपश्यत् = देखा ।

हिन्दी में अनुवाद– उस नल ने दोहदधूपयुक्त अनार के वृक्ष पर दमयन्ती के स्तनों की विशालता को प्राप्त करने के लिए धूम का पान करने वाले नीचे को मुख किये हुए घड़ों के समान मानों कठोर तपस्या करते हुए फलों को देखा।

हिन्दी–व्याख्या –आशय यह है कि दमयन्ती के स्तन बहुत बड़े थे। घटाकार अनार के फल भी चाहते थे कि हम भी दमयन्ती के स्तनों के समान ही बड़े हों, अतएव वे दोहदधूपयुक्त अनार के पेड़ पर अधोमुख हो लटकते हुए

ऐसाप्रतीत होते थे; मानों वह दमयन्ती के स्तनों के समान बड़े होने के लिए अधोमुख होकर धूमपान करते हुए कठिन तपस्या कर रहे हों।इस प्रकार वाले उन फलों को नल ने देखा ।

संस्कृत–व्याख्या – पद्येऽस्मिन् दमयन्त्याः स्तनस्य विशालतां वर्णयन् कविः कथयति –**विदर्भेति**। सः = नलः, दोहदधूपिनि = अतिशयितफलवर्धकदोहदधूपयुक्ते, दाडिमे द्रुमे = तन्नामके तरौ,विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताऽऽप्तये = भीमजावक्षोच्चतालब्धये,धूमस्य = धूम्रस्य, धयान् =पिबतः,अधोमुखान् =नताननान्,घटानिव = कुम्भानिव,अलम् =पर्याप्तं; कठोरमित्यर्थः,तपस्यतः =तपश्चर्यां कुर्वतः, फलानि = विपाकान्, अपश्यत् =ददर्श। आशयोऽयमस्ति यत् स्तनोन्नतिलाभाय अन्येऽपि अधोमुखत्वेन धूमं पीत्वा उग्रं तपश्चरन्तीति।

समास – दोहदधूपः = दोहदश्चासौ धूपः (कर्मधारय)। विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताऽऽप्तये = शोभने भ्रुवौ यस्याः सा सुभ्रूः (बहुव्रीहि), विदर्भेषु सुभ्रूः(सप्तमी तत्पुरुष), विदर्भसुभ्रुवः स्तनौ (षष्ठी तत्पुरुष), विदर्भसुभ्रूस्तनयोः तुङ्गता (षष्ठी ततपुरुष)तस्या आप्तिः (षष्ठी तत्पुरुष), तस्मै।

व्याकरणात्मक टिप्पणी –तुङ्गता = तुङ्ग+तल्+टाप्। आप्तये = आप्+क्तिन्, चतुर्थी विभक्ति एकवचन।

कोश– दाडिम = "समौ करकदाडिमौ" इत्यमरः।

अलङ्कार – दमयन्ती के स्तनकुड्मल अनार के समान वर्तुल और उन्नत थे, किन्तु तुङ्गता में स्तनों की समता के लिए दाडिम फल धूमपान के द्वारा तपस्या कर रहे थे। "तपसा दुष्करानर्थान् लभते नात्र संशयः" इस मान्यता सेअनार के वृक्षों ने तपश्चर्या काआश्रय लिया। अनार के फलों में रसवृद्धि के लिए धूप दिया गया था, जिस पर कवि ने स्तनौनत्यप्राप्ति रूप प्रयोजन की उत्प्रेक्षा की है। अतः इस पद्य में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

विशेष–वृक्ष, गुल्म एवं लताओं में समय से पूर्व ही उत्पादन के लिये जिस द्रव्य का प्रयोग किया जाता है, उसे 'दोहद' कहा जाता है, जैसा कि शब्दार्णव में कहा गया है–

तरुगुल्मलतादीनामकाले कुशलैः कृतम्।

पुष्पाद्युत्पादकं द्रव्यं दोहदं स्यात्तु तत्क्रिया।।

प्रसङ्ग –

कवि अनार का प्रकारान्तर से वर्णनकरते हुए कहता है –

वियोगिनीमैक्षत दाडिमीमसौ प्रियस्मृतेः स्पष्टमुदीतकण्टकाम् ।

फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृद्विशच्छुकास्यस्मरकिंशुकाशुगाम्।। 83 ।।

अन्वय – असौ प्रियस्मृतेः स्पष्टम् उदीतकण्टकां फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृद्वि–शच्छुकास्यस्मरकिंशुगां दाडिमीं वियोगिनीम् ऐक्षत ।

शब्दार्थ – असौ = उस नल ने । प्रियस्मृतेः = प्रिय की स्मृति के कारण। स्पष्टम् = स्पष्ट रूप से । उदीतकण्टकां = काँटे रूपी रोमांचयुक्त । फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृद्वि–शच्छुकास्यस्मरकिंशुगां = फलरूपी स्तनों के स्थान पर फटे हुए अनुरागी हृदय मेंप्रवेश करते हुए शुकमुखरूपी कामदेव के पलाशपुष्प के बाण के समान । दाडिमीं = दाडिमी को। वियोगिनीं = विरहिणी के रूप में। ऐक्षत = देखा ।

हिन्दी में अनुवाद– उस नल ने प्रिय की स्मृति के कारण स्पष्ट रूप से कांटे रूपी रोमांचयुक्त तथा फल रूपी स्तनों के स्थान पर फटे हुए अनुरागी हृदय में प्रवेश करते हुए शुकमुखरूपी कामदेव के पलाशपुष्प के बाण के समान दाडिमी को विरहिणी के रूप में देखा।

हिन्दी–व्याख्या – अनार जब पक जाता है, तो मध्य में फट जाता है। तोता उसके बीज खाने के लिए अपनी चोंच से उसे निकालता है। अनार के वृक्ष में कांटे भी होते हैं, अतः कवि कल्पना करता है कि अनार का वृक्ष एक वियोगिनी नायिका के समान है, जिसका हृदय उसके वियोग में फट गया है और काँटों के द्वारा उसे रोमांच हो आया है। यह हृदय फाड़ने का काम कामदेव का है, जिसने तोते की चोंच रूपी पलाश पुष्प (कामदेव का बाण) के द्वारा उसके हृदय को भेद दिया है।

संस्कृत–व्याख्या – असौ = नलः, प्रियस्मृतेः = प्रियतमस्मरणात्, स्पष्टम् = विशदम्, उदीतकण्टकाम् = उत्पन्नतीक्ष्णरोमाञ्चाम्, फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृद्वि– शच्छुकास्यस्मरकिंशुगां = दाडिमीफलस्तनस्थलस्फुटितरक्तहृदयप्रविशत्कीरमुखकामपलाशबाणाम्, दाडिमीम्= दाडिमवृक्षम्, वियोगिनीम् = विरहिणीम्, ऐक्षत = अपश्यत्।

समास – उदीतकण्टकाम् = उदीताः कण्टकाः यस्यास्ताम् (बहुव्रीहि)। फलस्तनस्थानबिदीर्णरागिहृद्विषच्छुकास्यस्मरकिंषुगाम = फलान्येव स्तनौ तावेव स्थानं, तत्र विदीर्णो रागो यस्यास्तीति रागी तस्मिन् हृदि विषत् शुष्कास्य रूपं स्मस्त्य किंषुकमेव आशुगो यस्यास्ताम् (बहुव्रीहि)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी –उदीताः –'उद्' उपसर्गपूर्वक 'ईञ् गतौ' धातु, 'क्त' प्रत्यय। विशतीति विशत्, 'विश्' धातु लट्लकार के स्थान में 'शतृ' आदेश।

अलङ्कार – इस पद्य में रूपक अलङ्कार है, क्योंकियहाँ दाडिमी को वियोगिनी से अभेद बताया गया है।'शुकास्य' में 'किंशुकाशुगः' की सम्भावना करने से उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

प्रसङ्ग –

नल ने पलाश पुष्प को देखा इस भाव को वर्णित करते हुए कवि कहता है –

स्मरार्द्धचन्द्रेषुनिभे क्रशीयसां स्फुटं पलाशेऽध्वजुषां पलाशनात्।

स वृन्तमालोकत खण्डमन्वितं वियोगिहृत्खण्डिनि कालखण्डजम्।। 84।।

अन्वय–स स्मरार्द्धचन्द्रेषुनिभे वियोगिहृत्खण्डिनि क्रशीयसां अध्वजुषां पलाशनात् स्फुटं पलाशे अन्वितं कालखण्डजं खण्डंवृन्तम् आलोकत ।

शब्दार्थ–स = नल ने। स्मरार्द्धचन्द्रेषुनिभे = कामदेव के अर्धचन्द्राकार बाण के समान। वियोगिहृत्खण्डिनि = वियोगियों के हृदय को विदीर्ण करने वाले। क्रशीयसां = अतिशय दुर्बल। अध्वजुषां = पथिकों के। पलाशनात् = मांस को भक्षण करने से । स्फुटे = सार्थक । पलाशेअन्वितम् = पलाश नाम से अन्वित वृक्ष पर । कालखण्डजम् = कालखण्ड से उत्पन्न । खण्डम् = अंश के समान। वृन्तम् = वृन्त को। आलोकत = देखा।

हिन्दी में अनुवाद – नल ने कामदेव के अर्धचन्द्राकार बाण के समान वियोगियों के हृदय को विदीर्ण करने वाले, अतिशय दुर्बल, पक्षियों के मांस को भक्षण करने से सार्थक पलाश नाम से अन्वित वृक्ष पर कालखण्ड (हृदय) से उत्पन्न वियोगिहृदय के अंश के समान वृन्त अर्थात् ऊपरी डण्ठल को देखा।

हिन्दी–व्याख्या – भाव यह है कि पलाश वृक्ष पर अर्धचन्द्राकार फूल लग रहे थे। वे कामदेव के वियोगिघातक अर्धचन्द्राकार बाण के तुल्य मालूम पड़ते थे, उन फूलों के ऊपर कृष्ण वर्ण वाले वृन्त ऐसे प्रतीत होते थे कि कामदेव ने जो विरहिणियों के हृदय में अर्धचन्द्राकार किंशुकपुष्पमय बाण से प्रहार किया है, मानों उस बाण में विरहिणियों के हृदय के कलेजे का कुछ भाग लग हो गया हो।

संस्कृत–व्याख्या–सः = नलः, स्मरार्द्धचन्द्रेषुनिभे=कामस्यार्धचन्द्राकारबाणसदृशे वियोगिहृत्खण्डिनि = विरहिहृदयविदारके, क्रशीयसाम्= कृशतराणाम्, अध्वजुषां = पथिकानां, पलाशनात् = मांसभक्षणात्, स्फुटं = स्पष्टं, पलाशे = पलाशपुष्पे, अन्वितं = योजनीयं, कालखण्डजं खण्डं= हृदयांशं;कृष्णवर्णत्वादिति भावः, वृन्तं =प्रसववन्धनम्, आलोकत =अद्राक्षीत।

समास – कालखण्डजम् = कालखण्डात् जातम्,तत्(पञ्चमी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – क्रशीयसाम् = 'कृश' शब्द से 'ईयसुन्' प्रत्यय तथा "र ऋतो हलादेर्लघोः" सूत्र से 'ऋ' के स्थान में 'र' आदेश। अन्वितं = 'अनु' उपसर्गपूर्वक 'इण् गतौ' धातु से क्विप् प्रत्यय। आलोकत = 'आङ्' उपसर्गपूर्वक 'लोकृ दर्शने' धातु लङ्लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।

कोश – निभ = "निभसङ्काशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः" इत्यमरः। पलम् = "पलमुन्मानमांसयोः" इति हैमः।वृन्तम् = "वृन्तं प्रसवबन्धनम्" इत्यमरः।

अलङ्कार – इस पद्य में यमक, उत्प्रेक्षा और रूपक अलङ्कार है ।

प्रसङ्ग – नल के द्वाराअभिनव लता को देखे जाने का वर्णन करते हुए कवि कह रहा है–

नवालतागन्धवहेन चुम्बिता करम्बिताङ्गी मकरन्दशीकरैः।

दृशा नृपेण स्मितशोभिकुड्मला दरादराभ्यां दरकम्पिनी पपे।। 85।।

अन्वय – गन्धवहेन चुम्बिता मकरन्दशीकरैः करम्बिताङ्गी स्मितशोभिकुड्मला दरकम्पिनी नवालता नृपेण दरादराभ्यां दृशा पपे।

शब्दार्थ – गन्धवहेन = वायु द्वारा। चुम्बिता = स्पृष्ट। मकरन्दशीकरैः = पुष्परस के कणों से अथवा पुष्परस के समान पसीने की बूँदों से। करम्बिताङ्गी – रोमांचित या स्वेदयुक्त शरीरवाली। स्मितशोभिकुङ्मला – ईषद्विकास से सुशोभित कलिकाओं वाली अथवा मन्द मुस्कान से सुशोभित दाँतों वाली। दरकम्पिनी = कुछ कम्पायमान। नवा लता = नवीन लताको। नृपेण = राजा ने। दरादराभ्यां = डर और आदर से युक्त। दृशा = दृष्टि से। पपे = पान किया या देखा।

हिन्दी में अनुवाद – चन्दन आदि से लिप्त किसी दूसरे पुरुष से चुम्बित, स्पर्श से पसीने से युक्त शरीरवाली, मन्द हास्य से कलिका के समान दाँतों वाली, कुछ–कुछ काँपती हुईकिसी नायिका के समान वायु द्वारा स्पृष्ट,पुष्परस के कणों से रोमांचित शरीर वाली, ईषद्विकसित एवं सुशोभित कलिकाओं वाली, कुछ कम्पायमान नवीन लताको राजा ने किञ्चित् डर और आदर से युक्त दृष्टि से पान किया या जीभर कर देखा।

हिन्दी–व्याख्या – आशय यह है कि जिस प्रकार नायक द्वारा चुम्बित, प्रियस्पर्श से रोमांचित अंगों वाली, थोड़ा स्मित करती हुई तथा सात्विक भाव के उत्पन्न होने से कम्पनयुक्त नायिका को भयपूर्वक तथा सुन्दरी होने से आदरपूर्वक कोई दूसरा नायक देखता है, वैसे ही नल ने नवीन लता को देखा।

संस्कृत–व्याख्या – नवेति।गन्धवहेन = वायुना,चुम्बिता = स्पृष्टा, मकरन्दशीकरैः = पुष्परसकणैः, करम्बिताङ्गी =रोमाञ्चिताङ्गी, स्मितशोभिकुड्मला =विकसितशोभि–मुकुला, दरकम्पिनी = ईषत्वेपथुमती, नवा लता = नूतना लता, नृपेण = नलेन, दरादराभ्यां =परस्त्रीत्वाद् भयं सौन्दर्यत्वेन सम्मानः, ताभ्यां युक्तेन भयतृणाभ्याम् उपलक्षितेन, दृशा =नेत्रेण, पपे = पीता, स्पृहया अवलोकितेत्याशयः।

समास – मकरन्दशीकरैः =मकरन्दस्य शीकरः, तैः(षष्ठी तत्पुरुष)। करम्बिताङ्गी =करम्बितानि अङ्गानि यस्याः सा (बहुव्रीहि)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – गन्धवहेन = गन्धं वहतीति गन्धवहः, तेन,'गन्ध' उपपदपूर्वक 'वह्' धातु से 'अच्' प्रत्यय।

कोश–गन्धवह = "पृषदश्वो गन्धवहो गन्धवाहाऽनिलाऽऽशुगाः" इत्यमरः।मकरन्दः = "मकरन्दः पुष्परसः"इत्यमरः। शीकरः = "शीकरोऽम्बुकणाः स्मृताः" इत्यमरः।

अलङ्कार – समासोक्ति अलङ्कार है । इस पद्य में श्लिष्ट विशेषणों सेप्रस्तुत लता में अप्रस्तुत नायिका के व्यवहारसाम्य की प्रतीति हो रही है, अतः यहाँ समासोक्ति अलङ्कार है।

प्रसङ्ग –निषधपति नलके द्वारा चम्पापुष्प की कलियों को देखे जाने का वर्णन करते हुए कवि कहता है –

विचिन्वतीःपान्थपतङ्गहिंसनैरपुण्यकर्माण्यलिकज्जलच्छलात्।

व्यलोकयच्चम्पककोरकावलीः स शम्बरारेर्बलिदीपिका इव।। 86।।

अन्वय–सः पान्थपतङ्गहिंसनैःअलिकज्जलच्छलात् अपुण्यकर्माणि विचिन्वतीः शम्बरारेः बलिदीपिकाइव चम्पककोरकावलीः व्यलोकयत् ।

शब्दार्थ– सः = उस नल ने। पान्थपतङ्गहिंसनैः = पथिकरूपी पतङ्गों की हिंसा से। अलिकज्जलच्छनात् = भ्रमर रूपी कज्जल के बहाने से। शम्बरारेः = कामदेव की। बलिदीपिका इव = बलिपूजा के दीपकों के समान। चम्पकोरकावलीः = चम्पा की कलियों के समूह को । व्यलोकयत् = देखा।

हिन्दी में अनुवाद – नल ने पथिक रूपी पतङ्गों की हिंसा से भ्रमररूपी काजल के बहाने से पापकर्म का सङ्ग्रह करती हुई कामदेव की बलिदीपशिखा के समान चम्पकपुष्पों की कलियों को देखा।

हिन्दी–व्याख्या – भाव यह है कि चम्पकपुष्पों की कलियों के कामोद्दीपक होने से उन्हें देखकर विरही पथिक इस प्रकार मर जाते थे, जैसे दीपक की लौ पर पतङ्गे मर जाते हैं। चम्पा की कलियों का रंग पीला होने से नल ने कामदेव के दीपकों के समान उन्हें देखा।

संस्कृत–व्याख्या–सः= नलः, पान्थपतङ्गहिंसनैः = पथिकरूपशलभमारणैः, अलिकज्जलच्छलात् = भ्रमरकज्जलव्याजात्, अपुण्यकर्माणि =पापकर्माणि, विचिन्वतीः =सङ्ग्रणतीः, शम्बरारेः = कामस्य, बलिदीपिका इव = पूजादीपिका इव, चम्पककोरकावलीः = चम्पककुड्मलपङ्क्तिं, व्यलोकयत् = अपश्यत्।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–पान्थाएव पतङ्गाः (कर्मधारय), तेषां हिंसनैः (षष्ठी तत्पुरुष)।

अलङ्कार – यहाँ रूपक, अपह्नुति और उपमा अलङ्कार है।

अमन्यताऽसौ कुसुमेषुगर्भजं परागमन्धङ्करणं वियोगिनाम्।

स्मरेण मुक्तेषु पुरा पुराऽरये, तदङ्गभस्मेव शरेषु सङ्गतम्।। 87।।

अन्वय – असौ कुसुमेषुगर्भजं परागं वियोगिनाम् अन्धङ्करणं पुरा स्मरेण पुराऽरये मुक्तेषु शरेषु सङ्गतं तदङ्गभस्म इव अमन्यत।

शब्दार्थ – असौ = इस राजा नल ने। कुसुमेषुगर्भजं = फूलों के मध्यगत। परागम् = पराग को। वियोगिनाम् = वियोगियों को। अन्धङ्करणम् = अन्धा करने वालेअथवा नेत्रोपघातक। पुरा = पूर्वकाल में। स्मरेण = कामदेव के द्वारा। पुराऽरये = शिवजी के लिए। मुक्तेषु = छोड़े गये। शरेषु = बाणों पर । सङ्गतम् = लगे हुए। तदङ्गभस्म इव = उसके शरीर की भस्म के समान। अमन्यत = माना।

हिन्दी में अनुवाद – इस नल ने फूलों के बीच में पड़े हुए पराग को वियोगियों को अन्धा करने वाले पूर्वकाल में कामदेव के द्वारा शिवजी के लिए छोड़े गये बाणों पर लगे हुए भगवान् शिव के शरीर की भस्म के समान माना।

हिन्दी–व्याख्या– भाव यह है कि भस्म आँख में पड़ने पर लोगों को अन्धा कर देता है। उसी प्रकार फूलों के परागों को देखकर विरही लोग भी कामपीडित हो विवेकहीन हो जाते हैं।

संस्कृत–व्याख्या–असौ = नलः, कुसुमेषु गर्भजं =पुष्पेष्वान्तरगतं, परागं=धूलिं, वियोगिनां = विरहिजनानां अन्धङ्करणं = नेत्रोपघातकं, पुरा =पूर्वं, स्मरेण =कामदेवेन, पुराऽरये = शिवाय, मुक्तेषु = त्यक्तेषु, शरेषु = बाणेषु, सङ्गतं = संसक्तं, तदङ्गभस्म इव = शिवाङ्गभस्म इव, अमन्यत = उत्प्रेक्षितवान्।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – कुसुमानि एव इषवः (कर्मधारय), तेषां गर्भः (षष्ठी तत्पुरुष), तस्मात्। तस्मा जातं इति ।

अलङ्कार – इस पद्य में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

पिकाद्वने शृण्वति भृङ्गहुङ्कृतैर्दशामुदञ्चत्करुणं वियोगिनाम्।

अनास्थया सूनकरप्रसारिणीं ददर्शदूनः स्थलपद्मिनीं नलः।।88।।

अन्वय–दूनः नलः उदञ्चत्करुणं भृङ्गहुङ्कृतैः पिकाद् वियोगिनां दशां शृण्वति अनास्थया सूनकरप्रसारिणीं स्थलपद्मिनीं ददर्श।

शब्दार्थ–दूनः = दुःखी। नलः = नल ने। उदञ्चत्करुणं = करुणा उत्पन्न हो जाने पर। भृङ्गहुङ्कृतैः = भ्रमरों की हुंकार के द्वारा। पिकाद् = कोयल से। वियोगिनाम्=वियोगियों की । दशाम् = अवस्था को। शृण्वति = सुनने पर। अनास्थया = अनिच्छा से। सूनकरप्रसारिणीं = पुष्परूपी हाथ को फैलाने वाली। स्थलपद्मिनीम् = स्थलकमलिनी की। ददर्श = देखा।

हिन्दी में अनुवाद –(दमयन्ती के विरह से) दुःखी नल ने करुणापूर्वक या करुणापुष्प के खिल जाने पर भ्रमरों की हुंकार द्वारा कोयल से वियोगियों की दशा को सुनने पर अनिच्छा से पुष्परूपी हाथ को फैलाने वाली स्थलकमलिनी को देखा।

हिन्दी–व्याख्या – भाव यह है कि वन में कोयल कूज रही थी, भ्रमर हुंकार कर रहे थे। करुणपुष्प खिल रहे थे। कमलिनी भी विकसित हो रही थी, तो मानो यह सब देखकर विरहिणियों को पीडा हो रही थी । स्वयं नल भी

दमयन्ती के विरह से संतप्त था, अतः उसे भी ये सभी उद्दीपक पीडित कर रहे थे। इसीलिए उसने उस स्थलकमलिनी को भी उपेक्षा से ही देखा, जो उसकी ओर अपना पुष्परूपी हाथ बढ़ा रही थी।

संस्कृत–व्याख्या –दूनः = संतप्तो नलः; दमयन्तीविरहेणेति शेषः, उदङ्चत्करुणं = विकासप्राप्तकरुणसञ्ज्ञकवृक्षविशेषं, भृङ्गहुङ्कृतैः = भ्रमरहुङ्कारैः, पिकाद् = कोकिलाद्, वियोगिनां =विरहिजनानां, दशां = अवस्थां,शृण्वति = शृण्वन् सति, अनास्थया = उपेक्षया, सूनकरप्रसारिणीं = पुष्पपाणिप्रसारिणीं, स्थलपद्मिनीम् इव =भूकमलिनींइव, ददर्श = अपश्यत्। आशयोऽयमस्ति यत् यथा कस्मिंश्चिज्जने कस्माचिज्जनात् वियोगिजनानां कष्टावस्थां श्रवणसूचकहुङ्कारशब्देन शृण्वति सति काचित्सहृदया हस्तं प्रसार्य निषेधति, तथैव उद्याने श्रोतरि पिकाद्वक्तुः भृङ्गहुङ्कारैः विरहिणाम् अवस्थां सानुकम्पं शृण्वति सति उपेक्षया पुष्पपाणिप्रसारिणीं भूकमलिनीं निषधपतिः नल अपश्यत्।

समास – भृङ्गहुङ्कृतैः = भृङ्गाणां हुङ्कृतानि, तैः (षष्ठी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – शृण्वति = 'श्रु' धातु लट्लकार, 'शतृ' प्रत्यय, सप्तमी एकवचन।

कोश– करुणः = "करुणस्तु रसे वृक्षे कृपायां करुणा मता" इति विश्वः।

अलङ्कार – यहाँ 'करुण' शब्द से करुणा नामक 'वृक्ष' और 'कृपा' यह दो अर्थ लिये गये हैं। अतः श्लेष अलङ्कार है।

प्रसङ्ग–

उद्यान में भ्रमर और आम्रमञ्जरी आदि का उद्दीपक वर्णन–

रसालसालः समदृश्यताऽमुना स्फुरद्विरेफारवरोषहुङ्कृतिः।

समीरलोलैर्मुकुलैर्वियोगिने, जनाय दित्सन्निव तर्जनाभियम्।। 89।।

अन्वय – अमुना स्फुरदद्विरेफारवरोषहुङ्कृतिः, रसालसालः समीरलोलैः मुकुलैः वियोगिने जनाय तर्जनाभियं दित्सन्निव समदृश्यत ।

शब्दार्थ – अमुना = नल ने । स्फुरद्विरेफारवरोषहुङ्कृतिः = भ्रमण करते हुए भ्रमरों के चारों ओर गुञ्जनरूपी क्रोध की हुंकार वाले। रसालसालः आम के पेड़ को । समीरलोलैः = वायु से चंचल । मुकुलैः = कलियों द्वारा । वियोगिने= विरही । जनाय = जन को। तर्जनाभियं = तर्जन का भय । दित्सन्निव = देने की इच्छा करता हुआ सा । समदृश्यत = देखा।

हिन्दी में अनुवाद – नल ने भ्रमण करते हुए भौंरे के चारों ओर गुञ्जनरूपीक्रोध की हुंकार वाले (तथा) वायु से चंचलमंजरीरूपी उंगलियों के द्वारा विरही जन को तर्जना का भय देने की इच्छा करते हुए के समानआम के पेड़ को अच्छी तरह देखा।

हिन्दी–व्याख्या – आशय यह है कि आम के पेड़ पर बौर लगेहुए थे। वे वायु से धीरे–धीरे हिल रहे थे। उनपर भौंरे उड़ते हुए गूंज रहे थे, जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि आम का पेड़ भौरों के गुञ्जनरूपी क्रोध की हुंकारों से तथा मञ्जरीरूप हाथ को हिलाहिला कर विरहियों को तर्जित कर रहे हों।

संस्कृत–व्याख्या – अमुना = नलेन, स्फुरद्विरेफारवरोषहुङ्कृतिः– भ्रमत्भ्रमरझङ्कारक्रोध हुंकारः, समीरलोलैः = पवनचपलैः, मुकुलैः = मञ्जरीभिः, वियोगिने = विरहिणे, जनाय = मानवाय, तर्जनाभियं =भत्र्स्नाभयं, दित्सन्निव = दातुमिच्छान्निव, रसालसालः = आम्रवृक्षः, समदृश्यत = सम्यग्रूपेण दृष्टः।

व्याकरण –समीरलोलैः = समीरेण लोलाः, तैः (तृतीया तत्पुरुष)।

कोश – द्विरेफः = "द्विरेफपुष्पलिड्भृङ्गषट्पदभ्रमराऽलयः" इत्यमरः।

अलङ्कार – इस पद्य में अनुप्रास एवं उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

प्रसङ्ग–

राजा नल ने उद्यान में लाल नेत्रों वाली कोयल को देखा, इस भाव का वर्णन करता हुआ कवि कहता है–

दिनेदिने त्वं तनुरेधिरेऽधिकं, पुनः पुनर्मूर्च्छ च मृत्युमूर्च्छ च।

इतीव पान्थं शपतः पिकान्द्विजान्सखेदमैक्षिष्ट सलोहितेक्षणान्।। 90।।

अन्वय – रे! त्वं दिने दिने अधिकं तनुः एधि; पुनः पुनः च मूर्च्छ; मृत्युं ऋच्छच, इति पान्थं शपत इव लोहितेक्षणान् पिकान् द्विजान् सः सखेदम् ऐक्षिष्ट।

शब्दार्थ – रे (पान्थ) = हे पथिक। त्वं = तू। दिनेदिने = प्रतिदिन। अधिकं = अधिक। तनु = दुर्बल। एधि = होओ। पुनः पुनः = बारम्बार । मूर्च्छ च = और मूर्च्छित होओ । मृत्युम् = मृत्यु को। मृच्छ = प्राप्त होओ। इति = इस प्रकार । शपत इव = शाप सा देते हुए । लोहितेक्षणान् = लाल आँखों वाले। पिकान् = कोयल। द्विजान् = पक्षियों को या ब्राह्मणों को। सः = नल ने। सखेदम् = खेदपूर्वक। ऐक्षिष्ट = देखा।

हिन्दी में अनुवाद – हे (पथिक)! तू प्रतिदिन अधिक दुर्बल होओ, बारम्बार मूर्च्छित होओ और मृत्यु को प्राप्त होओ, इस प्रकार शाप सा देते हुए लाल आँखों वाले अर्थात् क्रोधित ब्राह्मणों के समान लाल आँखों वालीकोयलआदि पक्षियों को नल ने खेदपूर्वक देखा।

हिन्दी–व्याख्या – आशय यह है कि कोयल की आँखें लाल होती हैं और क्रोध में भी आँखें लाल हो जाती हैं। इसलिए लाल आँखें होने के कारण यहाँ विरही लोगों को शाप देने की कल्पना की गयी है। 'द्विज' शब्द पक्षी एवं ब्राह्मण दोनों अर्थों का वाची है, इसीलिए कोयल को क्रोधित ब्राह्मण के समानउत्प्रेक्षित किया गया है।

संस्कृत – व्याख्या – रे ! = हे ! पथिक। त्वं, दिने दिने =प्रतिदिनं, अधिकं =भृशं, तनुः =कृशः, एधि = भव, पुनः पुनः = बारम्बारं, मूर्च्छच = मूर्च्छां प्राप्नुहि, मृत्युं ऋच्छ च = मरणं प्राप्नुहि, इति = अनेन प्रकारेण, पान्थं = पान्थेभ्यः, शपत इव = शापं ददत इव, लोहितेक्षणान् = रक्तनेत्रान्; रोषादित्यर्थः,द्विजान् = ब्राह्मणान् इव,पिकान् द्विजान् = कोकिलान्पक्षिणः, सः = नलः, सखेदम् = खेदपूर्वकम्, ऐक्षिष्ट = अद्राक्षीत्।

समास – लोहितेक्षणान् = लोहिते ईक्षणे येषां, तान् (बहुव्रीहि)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – एधि ='अस् भुवि' धातु, लोट्लकार मध्यम पुरुष एकवचन।ऐक्षिष्ट = ईक्ष् धातु, लुङ्लकार प्रथम पुरुष एकवचन।

अलङ्कार – इस पद्य मेंउत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

प्रसङ्ग –

चम्पक पुष्प का प्रकारान्तर से वर्णन–

अलिस्रजा कुड्मलमुच्चशेखरं निपीय चाम्पेयमधीरया दृशा।

स धूमकेतुं विपदे वियोगिनामुदीतमातङ्कितवानशङ्कत।।91।।

अन्वय – अलिस्रजा उच्चशेखरं चाम्पेयं कुड्मलम् अधीरया दृशा निपीय आतङ्कितवान् स वियोगिनां विपदे उदीतं धूमकेतुम् अशङ्कत।

शब्दार्थ – अलिस्रजा = भ्रमरपंक्ति से। उच्चशेखरं = उन्नत शिखर वाले। चाम्पेयं = चम्पक पुष्प की। कुड्मलम् = कलिका को। अधीरया = धैर्यरहित। दृशा = दृष्टि से। निपीय = देखकर। आतङ्कितवान् = आशङ्कित होते हुए। स = नल ने। वियोगिनां = वियोगियों की। विपदे = विपत्ति के लिए। उदीतं = उदित हुआ। धूमकेतुं=धूमकेतु नक्षत्र । अशङ्कत = शङ्का की या माना।

हिन्दी में अनुवाद–भ्रमर पंक्ति से उन्नत शिखर वाले चम्पक पुष्प की कलिका को धैर्यरहित दृष्टि से देखकर आशङ्कित नल ने वियोगियों की विपत्ति के लिये उसे उदित हुआ धूमकेतु माना ।

हिन्दी–व्याख्या – तात्पर्य यह है कि आकाश में धूमकेतु का दिखायी देना विपत्ति का सूचक माना जाता है। भ्रमरों से युक्त चम्पकपुष्प भी विरहियों के लिये उद्दीपक होने से विपत्ति का कारण था, क्योंकि लोक में ऐसी प्रसिद्धि है

कि भौंरे चम्पकपुष्प के पास नहीं जाते। अतः नल ने भ्रमरयुक्त चम्पकपुष्प को वियोगियों के लिये धूमकेतु के रूप में समझा।

संस्कृत–व्याख्या – अलिस्रजा = भ्रमरपङ्क्त्या, उच्चशेखरं = उच्चशिरोभागं, चाम्पेयं = चम्पकजन्यं, कुड्मलं = पुष्पं, अधीरया = धैर्यरहितया, दृशा =चक्षुषा, निपीय = आलोक्य, आशङ्कितवान्= चकितःसन्, सः =राजा नलः, वियोगिनां = स्वप्रियेभ्यो वियुक्तानां, विपदे = विनाशाय, उदीतं = प्रकटीभूतं, धूमकेतुं = विनाशसूचकं नक्षत्रविशेषम्, अशङ्कत = तर्कितवान्।

समास – अलिस्रजा = अलीनां स्रक्, तया(षष्ठी तत्पुरुष)। उच्चशेखरम् = उच्चः शेखरो यस्य, तम् (बहुव्रीहि)।

व्याकरण – चाम्पेयम् = चम्पाया अपत्यं पुमानिति चाम्पेयः, तम्, चम्पा से "स्त्रीभ्यो ढक्" सूत्र से 'ढक्' एवं 'ढ के स्थान पर 'एय' हुआ। विपदे = विपत् चतुर्थी विभक्ति एकवचन, "तादर्थ्ये चतुर्थी" से।

कोश – चाम्पेयः = "चाम्पेयः केशरो नागकेसरः काञ्चनाह्वयः" इत्यमरः। धूमकेतुः ="अग्न्युत्पातौ धूमकेतुः" इत्यमरः।

अलङ्कार – इस पद्य मेंउत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

प्रसङ्ग–

गिरते हुए परागयुक्त नागकेसर पुष्प को राजा नल के द्वारा देखने का वर्णन करता हुआ कवि कहता है–

गलत्परागं भ्रमिभङ्गिभिः पततु प्रसक्तभृङ्गावलि नागकेसरम्।

स मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणं शाणमिव व्यलोकयत् ।।92।।

अन्वय – स गलत्परागं भ्रमिभङ्गिभिः पतत् प्रसक्तभङ्गावलि नागकेसरं मारनाराच निघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणं शाणमिव व्यलोकयत् ।

शब्दार्थ – सः = नल ने । गलत्परागं = गिरते हुए पराग वाले। भ्रमिभङ्गिभिः= भ्रमर की रचना द्वारा (घूमने की विशेष विधि द्वारा)। पतत् = गिरती हुई। प्रसक्तभ्रङ्गावलि = भ्रमर पक्तियों वाले। नागकेसरं = नागकेसर पुष्प को। मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणं = कामदेव के बाणों की रगड़ से जलते हुए कण वाले। शाणमिव = निकष पत्थर के समान। व्यलोकयत् = देखा।

हिन्दी में अनुवाद – नल ने गिरते हुए पराग वाले, घूमने की प्रक्रिया द्वारा गिरती हुई भ्रमर पक्तियों वाले नागकेसर के पुष्प को कामदेव के बाणों की रगड़ से जलते हुए कण वाले निकष पत्थर के समान देखा।

हिन्दी–व्याख्या – तात्पर्य यह है कि नागकेसर का पुष्प भौरों के बैठने के कारण काला दिखाई दे रहा था और उसमें से पीला पराग गिर रहा था। इसलिये नागकेसर में शाण की उत्प्रेक्षा करते हुए कवि कल्पना करता है कि

कामदेव अपने मुर्चा लगे हुए बाणों को नागकेसर रूपी शाण पर चढ़ाकर तेज कर रहा है, जिससे निकलने वाली चिनगारियों के रूप में ही वह पराग प्रतीत हो रहा था।

संस्कृत–व्याख्या – सः = नलः, गलत्परागं = भ्रश्यत्पुष्पचूर्णं, भ्रमिभङ्गिभिः = भ्रमणरचनाविशेषैः, पतत् = पतन्ती, प्रसक्तभृङ्गावलि = लग्नभ्रमरपक्तिः, नागकेसरं = नागकेसरकुसुमं, मारनाराचनिघर्षणस्खलज्जवलत्कणं = कामशरकर्षणभ्रश्यद्देदीप्यमानं स्फुलिङ्गं, शाणमिव = निकषपाषाणमिव, व्यलोकयत् =दृष्टवान्।

समास – प्रसक्तभृङ्गावलि = भृङ्गाणाम् आवलिः, प्रसक्ता भृङ्गावलिः यस्मिन्, तत् (बहुव्रीहि)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – व्यलोकयत् = वि उपसर्गपूर्वक लोकृ+णिच्, लङ्लकार प्र.पु. एकवचन।

कोश–शाणः = "शाणस्तु निकषः कषः" इत्यमरः।

अलङ्कार –इस पद्य मेंउत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

तदङ्गमुद्दिश्य सुगन्धि पातुकाः शिलीमुखालीः कुसुमाद्गुणस्पृशः।

स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात्स्मरः स्वनन्तीरवलोक्य लज्जितः।। 93।।

अन्वय – सुगन्धि तदङ्गमुद्दिश्य गुणस्पृशः कुसुमात् पातुकाः स्वनन्तीः शिलीमुखालीः अवलोक्य स्मरः स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात् लज्जितः।

शब्दार्थ – सुगन्धि = सुगन्धयुक्त। तदङ्गमुद्दिश्य = नल के शरीर को उद्देश्य करके। गुणस्पृशा = गुणग्राहिणी। कुसुमात् = पुष्प से। पातुकाः = गिरने वाली। स्वनन्ती = शब्द करती हुई। शिलीमुखालीः = भ्रमरों की पंक्ति को। अवलोक्य = देखकर। स्मरः = कामदेव। स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात् = अपने धनुष से लक्ष्यभ्रष्ट होकर निकले हुए बाण के भ्रम से। लज्जितः = लज्जित सा हो गया।

हिन्दी में अनुवाद–सुगन्धयुक्त नल के शरीर को उद्देश्य करके गुणग्राहिणी पुष्प से गिरने वाली शब्द करती हुई भ्रमरों की पङ्क्ति को देखकर कामदेव अपने धनुष से लक्ष्यभ्रष्ट होकर निकले हुए बाण के भ्रम से लज्जित सा हो गया ।

हिन्दी–व्याख्या – आशय यह है कि नल के शरीर की सुगन्ध पुष्पों से अधिक थी। अतएव पुष्पों को छोड़कर भ्रमरसमूह नल के शरीर पर गूँजते हुए आ रहे थे। उन्हें देखकर कामदेव को मानो भ्रम हो गया कि उसके बाण पुष्परूपी चाप की प्रत्यञ्चा से निकल कर लक्ष्य से हटकर शब्द करते हुए जा रहे हैंऔर यह देखकर वह लज्जित हो गया।

संस्कृत–व्याख्या – सुगन्धि = सुगन्धयुक्त, तदङ्गमुद्दिश्य = नलाङ्गमुद्दिश्य, गुणस्पृशः = गुणाभिलाषिणीः, कुसुमात् = पुष्पात्, पातुकाः = पतलशीलाः, स्वनन्तीः = शब्दायमानाः, शिलीमुखालीः= भ्रमरपंक्तिः, अवलोक्य = दृष्ट्वा, स्मरः = मनसिजः, स्वचापदुनिर्गतमार्गभ्रमात् = स्वधनुषात् विषमनिर्गतबाणभ्रान्तेः, लज्जितः = लज्जां प्राप्त इव अभवत्।

समास –शिलीमुखालीः = शिलीमुखानाम् आल्यः, ताः(षष्ठी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी– पातुकाः = पतन्तीति, ताः, 'पत्' धातु से 'क्विन्' प्रत्यय।

कोश – शिलीमुखः ="अलिबाणौ शिलीमुखौ" इत्यमरः।

अलङ्कार –इस पद्य में उत्प्रेक्षावाचक 'इव' के प्रयोग से उत्प्रेक्षा अलङ्कार, भ्रमरों में 'बाण' की भ्रान्ति से भ्रातिमान् अलङ्कार हैं।

प्रसङ्ग – यहाँ का नल द्वारा बिल्व फल को देखे जाने का वर्णन करता हुआ कवि कहता है–

मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः क्षतं समुच्चरच्चन्दवसारसौरभम्।

स वारनारीकुचसञ्चितोपमं ददर्श मालूरफलं पचेलिमम्।। 94।।

अन्वय – स मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः क्षतं समुच्चरच्चन्दनसारसौरभं वारनारीकुचसञ्– चतोपमं पचेलिमं मालूरफलं ददर्श।

शब्दार्थ – सः = नल ने । मरुल्लत्पल्लवकण्टकैः = वायु से कम्पित शाखाग्र के कण्टकों से । क्षतम् = क्षत। समुच्चरच्चन्दनसारसौरभम् = निकलते हुए चन्दन के समान श्रेष्ठ सुगन्ध वाले। वारनारीकुचसञ्चितोपमम् = वेश्या के स्तनों की समानता को प्राप्त किये हुए। पचेलिमम् = पके हुए। मालूरफलम्= बेल के फल को । ददर्श = देखा।

हिन्दी में अनुवाद – नल ने वायु से कम्पित, किसलयों एवं कण्टकों से क्षत–विक्षत या कटे–फटे चन्दन की सुगन्ध से भी अधिक सुगन्ध वाले मरुत् के समान तीक्ष्ण नखों के क्षतचिह्नों से युक्तश्रेष्ठ सुगन्ध वाले वेश्या के स्तनों की समानता को प्राप्त किये हुए पके बेल के फल को देखा।

हिन्दी–व्याख्या – आशय यह है कि वेश्या का कुच भी चन्दन आदि के सुगन्ध से युक्त हुआ करता है। हवा चलने पर देवताओं के समान विलास करते हुए विट के तीक्ष्ण नखों से क्षत होने के कारणचन्दन की और उत्कृष्ट सुगन्ध फैल रही थी। इस श्रेष्ठ सुगन्ध से युक्त स्तनों की समानता करने वाले बेल के फल को राजा नल ने देखा।

संस्कृत – व्याख्या – सः = नलः, मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः = पवनप्रकम्पितकिसलय– कण्टकैः, क्षतं = विक्षतं, समुच्चरच्चन्दनसारसौरभं = समुच्छलच्चन्दनसारसौगन्ध्यं, वारनारीकुचसञ्चितोपमं = गणिकास्तनप्राप्तसादृश्यं, पचेलिमं = पक्वं, मालूरफलं = बिल्वफलं, ददर्श =व्यलोकयत्।

समास –मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः = ललन्ति च तानि पल्लवानि (कर्मधारय), मरुता ललत्पल्लवानि (तृतीया तत्पुरुष), तेषां कण्टकाः, तैः (षष्ठी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – पचेलिमम् = 'पच्' धातु से "केलिमर् उपसंख्यानम्" सूत्र से'केलिमर्' प्रत्यय।

कोश–वारनारी = "वारस्त्री गणिका वेश्या रूपाजीवा" इत्यमरः।मालूरफलम् = "बिल्वे शाण्डिल्यशैलूषौ मालूरश्रीफलौ" इत्यमरः।

अलङ्कार –इस पद्य में उपमा अलङ्कार है।

प्रसङ्ग –

नल के उद्यान में पाटल पुष्पगुच्छ का वर्णन करता हुआ कवि कहता है –

युवद्वयी चित्तनिमज्जनोचितप्रसूनशून्येतरगर्भगह्वरम्।

स्मरेषुधीकृत्य धिया भियान्धया स पाटलायाः स्तबकं प्रकम्पितः।। 95।।

अन्वय–सयुवद्वयीचित्तनिमज्जनोचितप्रसूनशून्येतरगर्भह्वरम् पाटलायाः स्तबकं भियान्धया धिया स्मरेषुधीकृत्य प्रकम्पितः।

शब्दार्थ– सः = नल। युवद्वयीचित्तनिमज्जनोचितप्रसूनशून्येतरगर्भह्वरम्= तरुणयुगल के हृदय में प्रवेश करने योग्य पुष्पों से पूर्ण मध्य भाग वाले। पाटलायाः स्तबकं = पाटलपुष्प के गुच्छे। भियान्धया = भय से विचारशून्य। धिया = बुद्धि से । स्मरेषुधीकृत्य = कामदेव का तरकस समझकर । प्रकम्पितः = काँप उठा।

हिन्दी में अनुवाद – राजा नल तरुणयुगल के हृदय में प्रवेश करने योग्य पुष्पों से पूर्ण मध्यभाग वाले पाटल पुष्प के गुच्छे को भय से विचारशून्य हुई बुद्धि से कामदेव का तरकश समझकर काँप उठा।

हिन्दी–व्याख्या– भाव यह है कि नल ने पाटलपुष्प के गुच्छे को पुष्पों से परिपूर्ण देखकर समझा कि यह विरही दम्पती के हृदय को बेधने वाला कामदेव के बाणों से भरा हुआ तरकस है, अतः स्वयं विरही होने के कारण चकराई हुई बुद्धि वाला नल भी उसको देखकर काँप उठा।

संस्कृत–व्याख्या – स = नलः, युवद्वयीचित्तनिमज्जनोचितप्रसूनशून्येतरगर्भगह्वरम् = स्त्रीपुसंद्वयी अन्तःकरणबद्धयोग्यपुष्पपूर्णमध्यबिलं, पाटलायाः = पाटलपुष्पस्य, स्तबकं = गुच्छं, भियान्धया = भयभ्रान्तया, धिया = बुद्ध्या, स्मरेषुधीकृत्य =इदं कामतूणीरं इति विभ्रम्य, प्रकम्पितः = चकितः।

समास –युवद्वयीचित्तनिमज्जनोचितप्रसूनशून्येतरगर्भगह्वरम् = युवा च युवतिश्च युवानौ(द्वन्द्व), यूनोर्द्वयी (षष्ठी तत्पुरुष), युवद्वयाः चित्ते (षष्ठी तत्पुरुष), युवद्वयीचित्तयोः निमज्जनं (षष्ठी तत्पुरुष), तस्मिन् उचितानि(सप्तमी

तत्पुरुष),उचितानि च तानि प्रसूनानि (कर्मधारय), शून्यात् इतरत् (पञ्चमी तत्पुरुष), गर्भस्य गह्वरम् (षष्ठी तत्पुरुष), युवद्वयीचित्तनिमज्जनोचितप्रसूनेन शून्येतरत् (तृतीया तत्पुरुष), तत् गर्भगह्वरम् यस्य,तम् (बहुव्रीहि)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी – प्रकम्पितः = 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'कम्प्' धातु से 'क्त' प्रत्यय।

कोश – भीः = "भीतिर्भीः साध्वसं भयम्" इत्यमरः।

अलङ्कार – इस पद्य में पाटलपुष्प के गुच्छे में कामदेव के तूणीर का भ्रम होने के कारण भ्रान्तिमान् अलङ्कार है।

प्रसङ्ग –

उद्यान में नल के द्वारा देखे जाने वाले अगस्त्य नामक वृक्ष का वर्णन करते हुए कवि कहता है–

मुनिद्रुमः कोरकितः शितिद्युतिर्वनेऽमुनामन्यत सिंहिकासुतः।

तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितं कलाकलापं किल वैधवं वमन् ।। 96 ।।

अन्वय–अमुना वने कोरकितः शितिद्युतिः मुनिद्रुमः तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितं वैधवं कलाकलापं वमन् सिंहिकासुतः अमन्यतकिल।

शब्दार्थ – अमुना = नल के द्वारा। वने = वन में। कोरकितः = खिला हुआ। शितिद्युतिः = श्यामवर्ण। मुनिद्रुमः = अगस्त्य वृक्ष। तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितम् = कृष्ण पक्ष में क्षय के बहाने से खाये हुए। वैधवम् = चन्द्रमा की। कलाकलापम् = कलाओं के समूह को । वमन् = उगलता हुआ । सिंहिकासुतः = राहु । अमन्यत = माना गया या समझा गया।

हिन्दी में अनुवाद – नल ने वन में खिले हुए श्यामवर्ण वाले अगस्त्य वृक्ष को कृष्ण पक्ष में क्षय के कपट से खाये हुए चन्द्रमा की कलाओं के समूह को उगलता हुआ राहु माना।

हिन्दी–व्याख्या – भाव यह है कि अगस्त्य नामक वृक्ष की पत्तियाँ काली व उसकी कलियाँ अर्ध चन्द्राकार तथा सफेद होती हैं। अतः नल को वह अगस्त्य वृक्ष राहु के समान प्रतीत हुआ, जो कलियों के रूप में चन्द्रमा की उन कलाओं को उगल रहा था; जिन्हें उसने कृष्ण पक्ष में छल से खा लिया था। यहाँ पर कवि ने एक पौराणिक आख्यान की ओर सङ्केत किया है, जिसके अनुसार राहु चन्द्रमा को ग्रसता है ।

संस्कृत–व्याख्या – अमुना =नलेन, वने =कानने, कोरकितः = कोरकाः संजाताः, शितिद्युतिः = कृष्णकान्तिः, मुनिद्रुमः= अगस्त्यवृक्षः, तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितं = अन्धकारपक्षक्षयचन्द्रकलाविच्छेदव्याजगिलितं, वैधवं = विधुश्चन्द्रः तत्सम्बन्धिनं, कलाकलापं = कलासमूहं, वमन् =उद्गिरन्, सिंहिकासुतः = राहुः, अमन्यत किल =ज्ञातः खलु।

समास –शितिद्युतिः = शितिः द्युतिः यस्य सः (बहुव्रीहि)।तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितं = तमिस्रस्य यः पक्षः, तस्मिन् या त्रुटिः, तस्याः कूटः, तेन भक्षितम् (तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी –वैधवम् = विधु+अण्+अम्।वमन् = वमतीति, 'टुवम् उद्गिरणे' धातु लट्लकार 'शतृ' प्रत्यय। अमन्यत = 'मन्' धातु, लङ्लकार प्र.पु. एकवचन।

कोश–शितिद्युतिः = "शिती धवलमेचकौ" इत्यमरः।

अलङ्कार –इस पद्य में उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति और श्लेष अलङ्कारों का अङ्गाङ्गिभाव होने से सङ्कर अलङ्कार है।

प्रसङ्ग–

उद्यान में पुष्प से युक्तलताओं को देखकर वियोगी हृदय नल की दशा का वर्णन करते हुए कवि कहता है–

पुरो हठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदावृतेर्वीरुधि नद्धविभ्रमाः।

मिलन्निमीलं विदधुर्विलोकिताः नभस्वतस्तं कुसुमेषु केलयः।। 97।।

अन्वय– पुरो हठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदावृतेः नभस्वतः वीरुधि नद्धविभ्रमाः कुसुमेषु केलयः विलोकिताः तं मिलन्निमीलं विदधुः।

शब्दार्थ– पुरः = सामने। हठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदावृतेः = बलपूर्वक हिम के समान सफेद पत्ते रूपी आवरण (वस्त्र) को हटाने वाले। नभस्वतः = वायु की। वीरुधि = लताओं में । नद्धविभ्रमाः = विलास(हाव–भाव) क्रीडा से युक्त । कुसुमेषु केलयः = फूलों की क्रीडाओं ने। विलोकिताः = देखी जाने पर। तम् = उस नल को। मिलन्निमीलम् = आँखों को मूँद लेने वाला। विदधुः = बना दिया।

हिन्दी में अनुवाद – सामने (प्रत्यक्ष) बलपूर्वक हिम के समान सफेद पत्ते रूपी वस्त्र (साड़ी) को हटाने वाली वायु की लताओं में विलास (हाव–भाव) क्रीडायुक्त फूलों की (प्रणय) क्रीडाओं ने देख ली जाने पर राजा नल को आँखों को मूँद लेने वाला बना दिया (अर्थात् नल को नेत्र बन्द कर लेने के लिये विवश कर दिया)।

हिन्दी–व्याख्या–भाव यह है कि नल ने पुष्पों की लताओं के साथ की जाने वाली स्त्री–पुरुष जैसी क्रीडा को देखकर असह्य पीडा के कारण अपनी आँखों को बन्द कर लिया । किसी भी स्त्री–पुरुष की नग्न कामक्रीडा को देखना शास्त्र एवं सदाचार की दृष्टि से अनुचित मानकरशास्त्रानुप्राणित एवं शिष्टाचरणशील नल ने अपने आँखों को मूँद लिया।

संस्कृत–व्याख्या–पुरः =समक्षं, हठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदावृतेः = बलाकृष्टहिमधवलपत्राच्छाकस्य, नभस्वतः = मरुतः, वीरुधि = लतायां, नद्धविभ्रमाः = सम्बद्धभ्रमणाः, कुसुमेषु = प्रसूनेषु, केलयः =क्रीडाः, विलोकिताः = अवलोकिताः

सत्यः, तं = नलं, मिलन्निमीलं = कृतनेत्रसङ्कोचं, विदधुः = चक्रुः।अत्र मरुतः लतायां कम्पनं स्त्रीपुंसयोः समागमक्रियाम् इव ज्ञात्वाशास्त्रानुप्राणितः सदाचारशीलश्च नलः निमीलितनेत्रः बभूवेति भावः।

समास –हठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदावृतेः = हठेन आक्षिप्ता (तृतीया तत्पुरुष), तुषारपाण्डराश्च ते छदाः (कर्मधारय), तुषारपाण्डरच्छदानाम् आवृतिः (षष्ठी तत्पुरुष), हठाक्षिप्ता तुषारपाण्डरच्छदावृतिः येन, तस्य (बहुव्रीहि)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी–विदधुः = 'वि' उपसर्गपूर्वक 'धा' धातु लिट्लकार प्र.पु. बहुवचन।

कोश–छदः = "पत्रं पलाशं छदनं दलं पर्णं छदः पुमान्" इत्यमरः।

अलङ्कार –इस पद्य मेंश्लिष्ट विशेषण के साम्य से प्रस्तुत नभस्वान् में अप्रस्तुत नायक के व्यवहार का आरोप होने के कारण समासोक्ति अलङ्कार है।

प्रसङ्ग –नल के द्वाराफलभार से पृथ्वी पर झुके हुए वृक्षों को देखकर की गयी प्रशंसा का वर्णनकरते हुए कवि कह रहा है–

गता यदुत्सङ्गतले विशालतां द्रुमाः शिरोभिः फलगौरवेण ताम्।

कथं न धात्रीमतिमात्रनामितैः स वन्दमानानभिनन्दति स्म तान्।। 98।।

अन्वय–द्रुमाः यदुत्सङ्गतले विशालतां गताः, तां धात्रीं फलगौरवेण अतिमात्रनामितैः शिरोभिः वन्दमानान् तान् स कथं न अभिनन्दतिस्म।

शब्दार्थ –द्रुमाः = वृक्ष। यदुत्सङ्गतले = जिसकी गोद में। विशालतां = गौरव को। गताः = प्राप्त हुए। तां = उस। धात्रीं = पृथ्वी को । फलगौरवेण = फलों के भार से। अतिमात्रनामितैः = अत्यन्त झुकाये हुए । शिरोभिः = मस्तकों से । वन्दमानान् = प्रणम करते हुए।तान् = उन वृक्षों को। कथं = कैसे। सः = नलः, न अभिनन्दतिस्म = अभिनन्दन न करता।

हिन्दी में अनुवाद – वृक्ष जिसकी गोद में वृद्धि को प्राप्त हुए, उस पृथ्वी (माता) को फलों के भार (अत्यधिक पुण्य) से अत्यन्त झुके हुए अग्रभागों (मस्तकों) से वन्दना करते हुए उन वृक्षों (पुत्रों) का नल कैसे अभिनन्दन नहीं करता।

हिन्दी–व्याख्या –आशय यह है कि संसार में भी माता की गोद में बढ़कर विद्याध्ययनआदि फल के गौरव से अत्यन्त नतमस्तक हो उपमाता की वन्दना करने वाले पुत्र का लोग जिस प्रकार अभिनन्दन करते हैं, उसी प्रकार पृथ्वीतल पर बढ़कर फलों के भार से अत्यन्त झुकी हुयी डालियों वाले वृक्षों का नल ने स्वागत किया।

संस्कृत–व्याख्या– द्रुमाः = वृक्षाः, यदुत्सङ्गतले =यदङ्कस्थले, विशालतां = वृद्धिं, गताः = प्राप्ताः, तां = मातरं धात्रीं पृथ्वीं च, फलगौरवेण = पुण्याधिक्येनफलबाहुल्येन वा, अतिमात्रनामितैः = अतिशयनम्रितैः, शिरोभिः = अग्रभागैः

मस्तकैः वा, वन्दमानान् = प्रणामंकुर्वतः, तान् = वृक्षान्, सः=नलः कथं न अभिनन्दतिस्म =कथं नास्तौषीत्। आशयोऽयमस्ति यत्वृक्षाणां क्षेत्रानुरूपफलसम्पत्तिम् अपत्यानां मातृभक्तिं च को नाम नाभिनन्दति।

समास –यदुत्सङ्गतले = उत्सङ्गस्य तलम् (षष्ठी तत्पुरुष),यस्या उत्सङ्गतलं, तस्मिन्(षष्ठी तत्पुरुष)।

व्याकरणात्मक टिप्पणी –धात्रीम् = दधति याम्, धयन्ति याम् इति धात्री, ताम्, 'धेट पाने' धातु से "धः कर्मणि ष्ट्रन्" सूत्र से 'ष्ट्रन्'प्रत्यय, स्त्रीत्वविवक्षा में षित् होने से "षिद्गौरादिभ्यश्च"सूत्र से 'ङीप्' प्रत्यय।

कोश–धात्री = "धात्री जनन्यामलकीवसुमत्युपमातृषु" इत्यमरः।

अलङ्कार –इस पद्य में विशेषणसाम्य होने से समासोक्ति अलङ्कार है, क्योंकि पृथ्वी और वृक्षों में माता और पुत्र के व्यवहार की प्रतीति हो रही है।

6.4 सारांश – इस प्रकारइकाई का प्रारम्भमहाराज नल के विलासवन में प्रवेश से होता है। नगरवासी यहाँ तक उनके साथ आये और नल के विलासभवन में प्रवेश करने के पश्चात् वे लौट गये।वृक्षों ने नल का स्वागत किया। तत्पश्चात् नल ने उद्यान की सुन्दरता को देखा। कामोद्दीपक केतकी के पुष्प की निन्दा भी उन्होंने की। अधोमुख होकर तपस्या करते हुए से दिखायी देने वाले फलों को एवं नायिकाओं के स्तनों की उपमा रखने वाली दाडिमी को देखा ।वियोग में अत्यन्त दुर्बल पथिकों के मांस कोकलेजे के टुकड़े की तरह देखा। राजा ने लताओं को अच्छी तरह देखा। फूलों के पराग को शंकर के भस्म के रूप में समझा। विलासवन में नल ने कोयल को क्रोधित ब्राह्मणों के समान देखा और चम्पा की कली को धूमकेतु समझा। उन्होंने वहाँ पर वेश्या के स्तनों के समान पके हुए बेल के फल को देखा। महाराज नल पुष्पगुच्छों को कामदेव का तरकश समझकर भयभीत हुए तथा अगस्त्य के वृक्ष को राहु के रूप में देखाऔर अन्त में नल द्वारा विलासवन के वृक्षों के अभिनन्दनके साथ इकाई समाप्त हो जाती है।

6.5 बोध प्रश्न :

लघु उत्तरीय प्रश्न –

1. नल के विलासवन में प्रवेश का वर्णन कीजिए।
2. केतकी पुष्प की निन्दा पर प्रकाश डालिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न –

1. विलासवन में महाराज नल के द्वारा देखी गयी वस्तुओं का वर्णन कीजिए और कवि–कल्पना की समीक्षा कीजिए।
2. विलासवन की वस्तुए कामपीडित नल के मनोविनोद में सहायक हैं, इस कथन की समीक्षा कीजिए।

6.6 उपयोगी पाठ्य–पुस्तकें –

1. नैषधीयचरितम् प्रथम सर्ग, व्याख्याकार शेषराज शर्मा रेग्मी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।
2. नैषधीयचरितम् प्रथम सर्ग, व्याख्याकार श्री बद्रीनाथ मालवीय, रामनारायण लाल विजय कुमार, इलाहाबाद।
3. नैषधीयचरितम् प्रथम सर्ग, व्याख्याकार शोभा भारद्वाज, युवराज पब्लिकेशन आगरा।

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय
प्रयागराज

MAST - 112 N
संस्कृत- पद्यकाव्य

खण्ड - दो

महाकवि भारवि- प्रणीत
किरातरर्जुनीयम्

आलोचनात्मक अध्ययन (तीन इकाइयाँ)	163-194
व्याख्यात्मक अध्ययन (पाँच इकाइयाँ)	195-262

परामर्श-समिति

प्रो० केदार नाथ सिंह यादव	**कुलपति - अध्यक्ष**
डॉ0 हरीशचन्द्र जायसवाल	**कार्यक्रम - संयोजक**
श्री मिठाई लाल कनौजिया	**कुलसचिव - सचिव**

विशेषज्ञ-समिति

1-	**प्रो० श्रीनारायण मिश्र**	सेवानिवृत्त, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
2-	**प्रो० युगल किशोर मिश्र**	संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
3-	**प्रो० हरे राम त्रिपाठी**	म० गांधी काशी विद्यापीठ
4-	**प्रो० श्रीकिशोर मिश्र**	वाराणसी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सम्पादक

प्रो0 के0 पी0 सिंह	वरिष्ठ परामर्शदाता (संस्कृत)

लेखक

प्रो0 जयशङ्कर लाल त्रिपाठी	**भू.पू. अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, कला-संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी**

© उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से श्री एम. एल. कनौजिया, कुलसचिव द्वारा प्रकाशित, मार्च 2007

खण्ड - परिचय

महाकवि भारवि - विरचित 'किरातार्जुनीयम्' महाकाव्य का प्रथम सर्ग आपकी पाठ्य पुस्तक के रूप में निर्धारित है। नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा से अनुप्राणित होकर जो वर्णना में निपुण है, वह 'कवि' कहलाता है और उसका कर्म ही 'काव्य' पद से अभिहित होता है– 'कवेः कर्म काव्यम्'। कहने का आशय यह है कि किसी भी काव्य के साथ दो पक्ष जुड़े रहते हैं कवि का पक्ष और काव्य का पक्ष। कवि के पक्ष का अध्ययन करते समय उस कवि के देश-काल, उसकी सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक पृष्ठभूमि, उसके द्वारा रचित काव्य, उस काव्य विशेष की विधा (यथा प्रकृत प्रसङ्ग में महाकाव्य का स्वरूप निरूपण, नाम तथा नायक निर्णय) आदि। काव्यपक्ष का अनुशीलन करते समय उस कवि के सम्पूर्ण काव्य का आलोड़न करके उस काव्यविशेष से अभिव्यञ्जित होने वाला कवि का वैशिष्ट्य (यथा किरातार्जुनीयम् में भारवि का अर्थगौरव अत्यन्त परिस्फुट है), कवि की शैली, रस, अलङ्कार, छन्द आदि का निरूपण किया जाता है। यतः किरातार्जुनीयम् का प्रथम सर्ग आपकी पाठ्य पुस्तक के रूप में प्रस्तावित है, अतः उक्त विवेचन के अतिरिक्त उसका सारांश, तथा उसमें निरूपित सूक्तियों का किया गया है। इसके उल्लेख/पश्चात् प्रथम सर्ग के सभी पद्यों की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। व्याख्या में प्रसङ्ग, अन्वय, शब्दार्थ, अनुवाद तथा कवि के विशेष अभिप्रेत को निरूपित कर, समास, प्रकृति-प्रत्यय, अलङ्कार, छन्द, कोश आदि का निरूपण किया गया है।

आलोचनात्मक अध्ययन से सम्बन्धित तीन इकाइयाँ

इकाई की रूपरेखा

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. अलङ्कृत शैली के प्रवर्तक के रूप में कवि भारवि
4. महाकवि भारवि का स्थितिकाल तथा जीवन-परिचय
5. काव्य- भेद तथा महाकाव्य का स्वरूप
6 महाकाव्य का नामकरण
7 किरातार्जुनीयम् महाकाव्य का नायक
8. किरातार्जुनीयम् का संक्षिप्त इतिवृत्त
9. महाभारत की कथा से किरातार्जुनीयम् में प्राप्त परिवर्तन
10. भारवि की प्रशस्ति
11 भारवि की शैली का वैशिष्ट्य
12. भारवि का अर्थगौरव
1.12.1. अर्थगौरव का अर्थ
1.12.2. नैतिकता और लोकानुभव से सम्बद्ध सूक्तियाँ
1.12.3. राजनीतिशास्त्र-विषयक सूक्तियाँ
13. भारवि का अलङ्कार निरूपण
1.13.1. अलङ्कार शब्द का अर्थ
1.13.2. शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार का भेदक आधार
1.13.3. भारवि द्वारा प्रयुक्त कुछ शब्दालङ्कार तथा कुछ अर्थालङ्कार का स्वरूप निदर्शन
1.13.4. प्रकृति-चित्रण में अलङ्कार प्रयोग
1.13.5. रस-परिपोष में अलङ्कार प्रयोग
14. छन्द
15. रसाभिव्यञ्जना
16. किरातार्जुनीयम् के प्रथम सर्ग की कथा
1.16.1. वनेचर द्वारा कुरुप्रदेश का वृत्तान्तख्यापित करना
1.16.2. द्रौपदी द्वारा युधिष्ठिर को प्रेरित करना
17. किरातार्जुनीयम् के प्रथम सर्ग की सूक्तियाँ

महाकवि भारवि

1.0 उद्देश्य

संस्कृत-साहित्य के इतिहास में विचित्र मार्ग या अलङ्कृत शैली को प्रवर्तित करने वाले भारवि का काव्य, उनका काल तथा उनके काव्यगत वैशिष्ट्य को समझना। संस्कृत-काव्य की अनेक विधायें हैं। मुख्य रूप से उन विधाओं को गद्य, पद्य और मिश्र के रूप में विभक्त कर सकते हैं। इससे पूर्व आप गद्य काव्य के रूप में कादम्बरी और मिश्र काव्य के रूप में नाटकों को पढ़ चुके हैं। पद्य काव्य के भी मोटे तौर पर तीन

भेद किये जा सकते हैं– मुक्तक, खण्डकाव्य तथा महाकाव्य। नीतिशतक के रूप में आपने मुक्तक का भी अध्ययन कर लिया है। 'किरातार्जुनीयम्' एक महाकाव्य है। इस महाकाव्य में प्रवेश के पूर्व महाकाव्य के स्वरूप का परिज्ञान तथा किरातार्जुनीयम् से उसकी सङ्गति का ज्ञान इस पुस्तक के प्रथम खण्ड के अध्ययन से होगा। काव्यगत वैशिष्ट्य के निरूपण में भारवि द्वारा निरूपित रस, अलङ्कार, छन्द आदि का ज्ञान कराना उद्देश्य है। इसी क्रम में आपको संस्कृत-साहित्य में प्रवर्तित होने वाले सुकुमार तथा विचित्र मार्गों के स्वरूप का भी ज्ञान होगा।

1.2 प्रस्तावना

इस इकाई के पूर्व आप कालिदास को प्रथम इकाई में ही पढ़ चुके हैं। कालिदास ने दो महाकाव्य लिखे हैं--रघुवंशम् तथा कुमारसम्भवम् और एक गीतिकाव्य लिखा-- मेघदूतम्। इन तीनों रचनाओं को मिलाकर 'लघुत्रयी' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। यह संज्ञा सम्भवतः तब पड़ी जब कविता की दिशा पाण्डित्य-मण्डित महाकाव्यों की ओर बढ़कर स्थिर हो गयी थी। शब्दों के मिथ्या आडम्बर में न जाकर इन्होंने प्रसाद गुण से पूर्ण ललित पदावली का सन्निवेश किया, जो–

'शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः।।'

'सूखे ईंधन में अग्नि के समान या स्वच्छ धुले हुए वस्त्र में जल के समान जो चित्त में सहसा व्याप्त हो जाता है, वह प्रसाद गुण कहलाता है' – के नियम के अनुसार अकस्मात् ही हृदय को आवर्जित कर लेती है। कविकुलगुरु, कविताकामिनी के विलास, कनिष्ठिकाधिष्ठित कालिदास के काव्यों को 'लघु' शब्द के कहने के पीछे कारण उन काव्यों का कलेवर है। ये तीनों काव्य कलेवर की दृष्टि से अपेक्षाकृत छोटे होने के कारण 'लघुत्रयी' कहलाये।

'लघुत्रयी' यह सापेक्ष शब्द है, इसके समानान्तर, कलेवर की दृष्टि से बृहद् महाकाव्यों को 'बृहत्त्रयी' की संज्ञा से अभिहित किया गया। बृहत्त्रयी में भारविकृत किरातार्जुनीयम्, माघकृत शिशुपालवधम् और श्रीहर्षकृत नैषधीयचरितम् परिगणित किये जाते हैं। इन तीनों काव्यों के लिए 'बृहद्' शब्द का प्रयोग उनकी काव्य-सम्पत्ति और उनकी कलेवर-सम्पत्ति दोनों को दृष्टि में रखकर किया गया है। ऐसा लगता है कि जिस समय तक नैषधीयचरित की रचना हुई होगी, उस समय तक विचित्र मार्ग विद्वद् समाज में विशेष स्थान पा चुका होगा। इस प्रकार के काव्यों की रचना करने में कविगण और उनका रसास्वादन करने में विद्वद्वृन्द अपना गौरव समझते रहे होंगे। किरातार्जुनीयम्, शिशुपालवधम् और नैषधीयचरितम् में तत्कालीन विद्वद्वृन्द को विचित्र मार्ग के काव्य की वे सभी विशेषतायें प्राप्त हो गयी, जो सहृदय मर्मज्ञों की अपेक्षा बुद्धि के विलास और पाण्डित्य के तोष के लिए पर्याप्त थीं। कालक्रम की दृष्टि से भिन्न-भिन्न समयावधि में रचित होने पर भी वर्णन पद्धति की समानता के कारण इन्हें परस्पर सम्पुटित कर दिया गया। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि इन तीन काव्यों में किरातार्जुनीय का कलेवर अपेक्षाकृत छोटा है तो फिर इसे 'बृहत्त्रयी' में क्यों समाविष्ट किया गया ? इसका कारण है कि विचित्र मार्ग की परम्परा को अपनाकर काव्य रचना करने वाले भारवि सर्वप्रथम कवि हैं। उन्हीं के अनुकरण पर माघ ने शिशुपालवध लिखा और इन दोनों काव्यों को लक्ष्य में रखकर उनसे भी आगे बढ़ जाने वाले कवि श्रीहर्ष हुए, जिनके काव्य में विचित्र मार्ग के गुण अपने चरमोत्कर्ष में प्राप्त हुए।

1.3 अलङ्कृत शैली के प्रवर्तक के रूप में महाकवि भारवि

संस्कृत महाकाव्यों का विकास दो पृथक् मार्गों से हुआ है जिन्हें क्रमशः 'सुकुमार' और 'विचित्र' मार्ग कहा जाता है। 'सुकुमार मार्ग' को रसमयी पद्धति भी कहते हैं। इस मार्ग के महाकाव्यों में कथानक के सरस अंशों को विशेष रूप से प्रसाद गुणपूर्ण शैली के रूप में निरूपित करने की प्रवृत्ति देखी जाती है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि कवियों में यही पद्धति मिलती है। इस मार्ग में माधुर्यव्यञ्जक कोमल वर्णों का प्रयोग तथा दीर्घ समासों का अभाव पाया जाता है। वर्णनों में नितान्त स्वाभाविकता तथा रसों का मञ्जुल सन्निबन्धन इस मार्ग का वैशिष्ट्य है। सरलता, सरसता एवं सुबोधता को उस मार्ग में स्वीकार कर काव्यपद्धति प्रवर्तित हुई । ऐसा नहीं है कि इस मार्ग में अलङ्कारों का प्रयोग नहीं हुआ; किन्तु अलङ्कार, चकाचौंध उत्पन्न

करने वाले नहीं हैं। अलङ्कार साध्य न होकर साधन रूप में निरूपित हैं। इसीलिए ये कवि अनावश्यक विस्तार में नहीं जाते और न कथानक को ही छोड़कर वर्णनों में बहते हैं। सुकुमार मार्गी कवियों ने रस और ध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर अलङ्कारों का उतना ही प्रयोग किया है जितना पृथक् प्रयत्न किये बिना वे स्वयमेव काव्य में समाविष्ट हो सकें। आनन्दवर्धन ने अलङ्कारों के प्रयोग का आदर्श अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यता के रूप मे रखा है–

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो मतः।। ध्वन्यालोक, 2.16

अर्थात् रसादि ध्वनि में जिस अलङ्कार की रचना रस के द्वारा ही आक्षिप्त रूप में बिना किसी अन्य प्रयत्न के हो सके, वही अलङ्कार मान्य है। ऐसा न होने पर अलङ्कार भारवत् हो जाते हैं तथा काव्य सौन्दर्य को शास्त्रीय शुष्कता प्रदान करते है। संक्षेप में कह सकते हैं कि रस, अलङ्कार और वस्तु का औचित्ययुक्त सन्निवेश ही इन्हें अभीष्ट है। इस मार्ग के आदर्श को दशरूपककार की इन पंक्तियों में देखा जा सकता है–

न चातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत्।
रसं वा न तिरोदध्याद्वस्त्वलङ्कारलक्षणैः।।

विचित्र मार्ग के आविर्भाव की पृष्ठभूमि को व्याख्यायित करते हुए पं0 बलदेव उपाध्याय ने कहा है– ''साहित्य शैली के विकास के ऊपर युगों की सामाजिक चेतना का विशेष प्रभाव पड़ता है। काल की साहित्यिक मान्यता, युग का वातावरण तथा सामाजिक रूढ़ियाँ– उस युग के साहित्य को एक विशिष्ट शैली का आश्रय लेने को बाध्य करती हैं। विक्रम के सप्तम अष्टम शतक को साहित्य के इतिहास में 'परिवर्तन युग' माना जा सकता है।

गुप्त युग के सामूहिक शिक्षण तथा व्यापक सांस्कृतिक प्रसार के कारण भारतवर्ष का साहित्यिक वातावरण बदल जाता है। प्राकृत भाषाओं के उदय के हेतु भी संस्कृत भाषा का क्षेत्र सीमित हो जाता है। जनता प्राकृत–भाषा की कविता के द्वारा अपना मनोरञ्जन करने लगती है। प्राकृत लोकभाषा होने के कारण जनता के हृदय को अपनी ओर आकृष्ट करती है। अतएव संस्कृत काव्य का लक्ष्य साधारणजन न होकर पण्डितजन ही हो जाता है। .... ऐसे ही पण्डित पाठकों का हृदयावर्जन काव्य का लक्ष्य बन जाता है''[1]।

फलतः 'विचित्र मार्ग' के रूप में पाण्डित्यपूर्ण शैली संस्कृत महाकाव्यों में विकसित हुई। इस मार्ग र्त्तन समय की साहित्यिक मान्यता, युग का वतावरण तथा सामाजिक रूढ़ियों के कारण हुआ। इस तरह र्ग विद्वानों के आकर्षणार्थ विकसित हुआ। इस मार्ग में पाण्डित्य प्रदर्शन का आग्रह तो था ही, कवियों का ध्यान विषय की अपेक्षा वर्णन प्रकार पर केन्द्रित हो गया। फलतः संक्षिप्त विषय ने अलङ्कारों की प्रचुरता का आश्रय लिया। अतः प्रसादपूर्ण रसप्रधान शैली से हटकर व्युत्पत्तिवादी अलङ्कारप्रधान शैली का आश्रयण युग की मांग के अनुरूप है। इस प्रकार विचित्रमार्ग सुकुमार मार्ग से मुख्यतः दो बातों में भिन्न है– (1) विषय के कलेवर की दृष्टि से, (2) भाषा की दृष्टि से। संक्षिप्त विषय को विविध वर्णनों का आश्रय लेकर विस्तृत कलेवर प्रदान करना जैसा कि आप भारवि के किरातार्जुनीयम् की कथावस्तु देख कर समझ सकेंगे भाषा की दृष्टि से अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य अलङ्कारों की जगह सायास अलङ्कारों की बहुलता से युक्त, श्लेष के प्रचुर प्रयोग से दुरूहता को प्राप्त, चित्रकाव्य के बहुल निबन्धन से रस की सुकुमारता से रहित प्रहेलिकावत् शुष्क काव्य वैदुष्य प्रदर्शन की ललक की छाप छोड़ता हुआ सम्मुख आया। इस विचित्र मार्ग को अलंकारों की प्रधानता के कारण 'अलंकृत शैली' के नाम से अभिहित किया गया। नैसर्गिकता का स्थान अक्षराडम्बर और अलंकार विन्यास ने ले लिया। कविगण एक अलङ्कार से असन्तुष्ट हो हारादि में जटित अनेक मणियों के समान अपनी रचना में अलङ्कारों का निरन्तर निवेश करते हैं। वक्रोक्तिजीवितकार ने इसी रूप में विचित्र मार्ग को ख्यापित किया है–

अलङ्कारस्य कवयो यत्रालङ्करणानन्तरम्।
असन्तुष्टा निबध्नन्ति हारादेर्मणिबन्धवत्।। वक्रोक्तिजीवित, 1.35.

जिस प्रकार रत्नों की किरणों की शोभा के उल्लास से देदीप्यमान आभूषण रमणी के शरीर को ढककर अलङ्कृत करते हैं, उसी प्रकार विचित्र मार्ग के कवियों द्वारा प्रयुक्त उपमा आदि अलङ्कारों की महिमा

1. पं. बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. 142

इतनी प्रकृष्ट होती है कि अलङ्कार्य उनके स्वरूप से आच्छादित सा होकर प्रकाशित होता है।

इस मार्ग के कवियों द्वारा चित्रालङ्कारों का प्रभूत मात्रा में प्रयोग होने से प्रसाद और माधुर्य की अपेक्षा ओज की प्रधानता होती है और समासयुक्त पदों का प्रयोग होता है।

इस मार्ग के प्रवर्तक कवि भारवि थे और उनका अनुसरण माघ ने किया। इन दोनों महाकवियों ने अपने महाकाव्यों में मूलकथावस्तु को छोड़कर प्रसक्तानुप्रसक्त वर्णनों में अपने को बाँध लिया और जब यथेष्ट वर्णन कर लिया तो पुनः कथानक के सूत्र का अनुसन्धान कर अपनी रचनाओं को पूर्ण किया। भारवि ने अल्प कथानक को वर्णनों से भरकर अठारह सर्गों के महाकाव्य की सर्जना की है। इस तरह भारवि ने 'किरातार्जुनीयम्' महाकाब्य के माध्यम से विचित्र मार्ग का प्रवर्तन किया, जिसमें भावपक्ष की अपेक्षा कलापक्ष पर अधिक बल रहता है। हम पहले ही इस तथ्य का निर्देश कर चुके हैं कि पाण्डित्य प्रकर्ष की अभिव्यक्ति और मूल विषय का परित्याग करके लम्बे वर्णनों में उलझ जाना इस मार्ग की विशिष्टता है।

1.4 स्थितिकाल तथा जीवन-परिचय

भारवि ने अपने काव्य में अपने जीवनवृत्त अथवा स्थितिकाल के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं किया है। फलतः इस सम्बन्ध में विचार करने के लिए बाह्य साक्ष्य ही एकमात्र अवलम्ब रह जाते हैं। अपनी एकमात्र रचना 'किरातार्जुनीयम्' में इन्होंनें ऐसा कोई सङ्केत नहीं दिया है, जिससे इनके काल का निश्चय हो सके।

1.4.1 बहिरङ्ग प्रमाणों में सबसे महत्वपूर्ण 'ऐहोल शिलालेख' है जो चालुक्यनरेश पुलकेशिन द्वितीय की प्रशस्ति रूप में जैन कवि रविकीर्ति द्वारा लिखा गया। यह शिलालेख कर्नाटक राज्य के बादामी जिले में मेगुती नामक ग्राम के निकट एक पहाड़ी पर बने जैन मन्दिर की बाहरी दीवार पर अङ्कित है। इसका समय 634 ई0 (शक संवत् 556) है। रविकीर्ति नामक कवि ने इस मन्दिर (जिनवेश्म) का निर्माण करके कुछ ऐतिहासिक महत्त्व के श्लोक लिखकर उस पर उत्कीर्ण कराये थे, उनमें अन्तिम सैंतीसवाँ पद्य इस प्रकार है–

'येनायोजि नवेऽश्मस्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः॥

प्रकृत पद्य में रविकीर्ति ने अपने आपको काव्य के क्षेत्र में कालिदास और भारवि की कीर्ति का आश्रय लेने वाला कहा है। इस कथन से स्पष्ट है कि भारवि 634 ई0 तक पर्याप्त प्रसिद्ध हो चुके थे। इस प्रसिद्धि की अवधि के सन्दर्भ में विद्वानों ने अनुमान किये हैं, यथा कीथ का मत है कि इस आधार पर भारवि को 550 ई0 के आस–पास माना जा सकता है। सारदारञ्जन राय ने उक्त सङ्केत (634 ई0) से 150–200 वर्ष पूर्व अर्थात् पाँचवीं शताब्दी ईस्वी में भारवि को मानने का सुझाव दिया है।

1.4.2 भारवि के स्थितिकाल का निर्णय करने में दक्षिण भारत के पृथ्वीकोंगणि नामक राजा के दानपत्र से भी सहायता मिलती है। दक्षिण भारत के गुम्मरेड्डीपुर नामक स्थान से प्राप्त इस दानपत्र के प्रामाण्यानुसार महाराज दुर्विनीत ने 'बृहत्कथा' गुणाढ्यकृत पैशाची भाषा में निबद्ध लोक कथा संग्रह का संस्कृत रूपान्तर 'शब्दावतार' के नाम से किया था और किरातार्जुनीय के पन्द्रहवें सर्ग की टीका लिखी है, जो पूरे महाकाव्य में सर्वाधिक क्लिष्ट चित्र–काव्यों का अंश है। दुर्विनीत कोंकण के गङ्गनरेश अविनीत का पुत्र था। दुर्विनीत का समय आधुनिक इतिहासकारों ने 580 ई0 के आस–पास स्वीकार किया है। यह दानपत्र 'मैसूर आर्कियोलॉजिकल रिपोर्ट (1916)' में पृष्ठ 36 पर मुद्रित है–

''श्रीमत्कोंकणमहाराजाधिराजस्य अविनीतनाम्नः पुत्रेण शब्दावतारकारेण देवभारतीनिबद्धबृहत्कथेन किरातार्जुनीयपञ्चदशसर्गटीकाकारेण दुर्विनीतनामधेयेन।''

इन सूत्रों से यह अनुमान हो सकता है कि भारवि का समय 550 ई0 से 620 ई0 के बीच होगा।

1.4.3 अष्टाध्यायी के एक सूत्र 'प्रकाशनस्थेयाख्योश्च (काशिका, 1.3.23) की व्याख्या में 'काशिकाकार' 660 ई0) जयादित्य ने किरातार्जुनीय के एक पद्य खण्ड **'संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः'** **(3.14)** का उद्धरण दिया है। जयादित्य जैसे महान् वैयाकरण का भारवि की पंक्ति को उद्धृत करना यह सिद्ध करता है कि तब तक भारवि पर्याप्त यश प्राप्त कर चुके थे। यदि इस प्रसिद्धि की अवधि को 100 वर्षों का मान लिया जाये तो भारवि का काल 560 ई0 के आस–पास ठहरता है।

1.4.4 दण्डीकृत अवन्तिसुन्दरी कथा के एक अंश को जी0 हरिहर शास्त्री ने संस्कृत पाण्डुलिपि

प्रकाशन, त्रिवेन्द्रम से प्राप्त उक्त ग्रन्थ की एक अन्य पाण्डुलिपि के आधार पर निम्नांकित रूप में स्थिर किया है जिसमें दामोदर द्वारा भारवि के माध्यम से विष्णुवर्धन नामक राजा की कृपा प्राप्त करने का निर्देश है– **''यतः कौशिककुमारो (दामोदरो) महाशैवं महाप्रभावं प्रदीप्तभासं भारविं रविमिवेन्दुरनुरुध्य दर्श इव पुण्यकर्माणि विष्णुवर्धनाख्ये राजसूनौ प्रणयमन्वबन्धात्।''**[2] विष्णुवर्धन चालुक्यनरेश सत्याश्रय (पुलकेशिन् द्वितीय) का अनुज था, उसने सेनापति के रूप में नर्मदा तट पर हर्षवर्धन को पराजित किया था। उसी ने गोदावरी जिले में पिष्टपुर को राजधानी बनाकर पूर्वी चालुक्य वंश की स्थापना 615 ई0 में की थी। भारवि से मित्रता के कारण विष्णुवर्धन ने उन्हें अपना सभा पण्डित बनाया था। इस प्रकार 615 ई0 के आस–पास भारवि का समय माना जा सकता है।

1.4.5 अवन्तिसुन्दरीकथा से एक अन्य बात यह भी ज्ञात होती है कि काञ्ची के पल्लवनरेश सिंहविष्णु (शासनकाल 575–600 ई0) ने भी भारवि को आश्रय दिया था। बाद में सिंहविष्णु के पुत्र महेन्द्र विक्रम (मत्तविलास प्रहसन के लेखक) के आश्रय में भी भारवि रहे। भारवि के पुत्र का नाम मनोरथ था, यही मनोरथ दण्डी के पितामह थे। उक्त वर्णन से यह निष्कर्ष निकलता है कि भारवि का सम्बन्ध चालुक्यनरेश विष्णुवर्धन से (615 ई0), पल्लवनरेश सिंहविष्णु से (575 से 600ई0) तथा कोंकण के गंगवंशीय नरेश दुर्विनीत (580 ई0 के आस–पास) से अवश्य था। यथावसर इन नरेशों की छत्रच्छाया में रहने वाले भारवि का समय छठी शती के उत्तरार्द्ध से सातवीं शती ई0 के पूर्वार्द्ध तक रहा होगा।

1.4.6 बाणभट्ट ने हर्षचरित की प्रस्तावना में जहाँ अनेक पूर्ववर्ती कवियों का नाम लिया है, वहीं भारवि के विषय में वे मौन हैं। बाणभट्ट द्वारा भारवि का उल्लेख न किया जाना कुछ विद्वानों को खटकता है, किन्तु ऐसा होने में दो कारण हो सकते हैं एक तो यह कि बाणभट्ट के समय तक (7वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध) उत्तर भारत में भारवि अधिक विख्यात नहीं हुए होंगे। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि बाण के आश्रयदाता महाराज हर्षवर्धन के शत्रु पुलकेशिन् के अनुज की राजसभा में भारवि थे, अतः बाणभट्ट ने उनका उल्लेख नहीं किया होगा।

1.4.7 महाकवि माघ ने अपने शिशुपालवध की रचना स्पष्टतः भारवि के महाकाव्य की ख्याति से प्रेरित होकर प्रतिस्पर्धा में की थी। माघ का समय 675 ई0 के आस–पास माना जाता है। अतः भारवि निश्चित रूप से इससे पूर्व कालावधि में रहे होंगे।

1.4.8 अवन्तिसुन्दीरकथा के आधार पर भारवि के विषय में जो अन्य सूचनायें मिलती हैं वह इस प्रकार हैं कि महाकवि भारवि का जन्म नासिक के समीपवर्ती अचलपुर ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम नारायणस्वामी था। उनका अपना मूल नाम दामोदर था। भारवि कवि की उपाधि थी। बीस वर्ष की अल्पायु में ही उन्हे काञ्चीनरेश सिंहविष्णु (565–600 ई0) से राजकीय सम्मान प्राप्त हुआ था। दामोदर दण्डी के प्रपितामह थे और किरातार्जुनीयम् ग्रन्थ के प्रणेता। अवन्तिसुन्दरी कथा के अतिरिक्त अन्य तथ्यों से भी भारवि का दाक्षिणात्य होना सिद्ध होता है।

1.4.9 किरातार्जुनीय के एक श्लोक में (18.5) किरात वेषधारी शङ्कर एवम् अर्जुन के युद्ध के प्रसङ्ग में कवि ने ''सह्यपर्वत से सागर तरङ्गों के टकराने' का औपम्य प्रस्तुत किया है–

उरसि शूलभृतः प्रहिता मुहुः प्रतिहतिं ययुरर्जुनमुष्टयः।

भृशरया इव सह्यमहीभृतः पृथुनि रोधसि सिन्धुमहोर्मयः॥

यहाँ शिव और अर्जुन के द्वन्द्व युद्ध के अवसर पर शिव के वक्षस्थल पर अर्जुन के मुष्टि प्रहारों की उपमा भारवि ने सह्याद्रि के चरणों पर समुद्र की लहरों के थपेड़ों से की है। इस रमणीय औपम्य की अनुभूति प्रत्यक्षदर्शी व्यक्ति ही कर सकता है। अतएव प्रो0 आर0 आर0 भागवत का मन्तव्य है कि भारवि अवश्य ही पश्चिमी सागर तट के निवासी थे।

1.4.10 'शिथिलवसुमगाधे मग्नमापत्पयोधौ' (1.46), 'तत्रियार्थमिव यातुमथास्तं भानुमानुपपयोधि ललम्बे' (9.1) आदि सूर्यास्त वर्णनों में कवि सूर्य का तिरोधान सागर में ही देखता है जबकि कालिदास आदि

---

1. कृष्णमाचार्य के 'हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ 148, पाद–टिप्पणी में उद्धृत,

2. कृष्णमाचार्य के 'हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ 149, पर उद्धृत।

कवियों ने उसका तिरोधान अस्ताचल पर होते हुए देखा है। यह साक्ष्य भी भारवि को दाक्षिणात्य सिद्ध कर सकता है।

1.4.11 भारविकृत हिमालय वर्णन भी उत्तरी भारत, विशेषकर हिमगिरि के प्रति उनकी अल्पज्ञता का द्योतक है। अर्जुन की इन्द्रकीलशिखर यात्रा वर्णन के प्रसङ्ग में वे मार्ग में पड़ने वाले भौगोलिक स्थलों का सविस्तर उल्लेख भी नहीं कर पाये हैं। यह भी उनका दक्षिणात्य होना सूचित करता है।

किन्तु केवल काव्यगत वर्णनों के आधार पर उन्हें किसी प्रदेश का निवासी मानना ठीक नहीं। विविध प्रदेशों के वर्णन तो प्रत्येक कवि के काव्य में यथास्थान आ ही जाते हैं। कालिदास आदि महाकवियों की रचना में समुद्र, हिमालय अथवा भूमण्डल के अनेक अञ्चलों में फैले हुए प्रदेशों का वर्णन प्राप्त होता है, किन्तु उसके आधार पर उन सभी के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित करना उचित होता है। बहुदर्शी और क्रान्तदर्शी होने के कारण कवि की रचना में विविध वर्णनों का होना तो स्वाभाविक ही है।

भारवि का महाकाव्य बहुत समय तक दक्षिण भारत के विद्वानों में प्रसिद्ध रहा, इस प्रसिद्धि के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि भारवि दक्षिण भारत के निवासी थे। अवन्तिसुन्दरीकथासार और अवन्तिसुन्दरीकथा से भी उक्त अनुमान की पुष्टि होती है।

1.5 काव्य–भेद और महाकाव्य का स्वरूप

अनेक दृष्टियों से काव्य के भेद का निरूपण किया गया है। यथा भामह ने काव्य का विभाजन चार प्रकार से किया है–

1. छन्द के सद्भाव तथा अभाव के आधार पर दो-
   (1) गद्य (2) पद्य
2. भाषा के आधार पर तीन-
   (1) संस्कृत (2) प्राकृत (3) अपभ्रंश
3. विषय के आधार पर चार-
   (1) ख्यातवृत्त (2) कल्पित (3) कलाश्रित (4) शास्त्राश्रित
4. स्वरूपविधान के आधार पर पाँच-
   (1) महाकाव्य (2) रूपक (3) आख्यायिका
   (4) कथा (5) मुक्तक

यह एक निदर्शनमात्र है अन्य भी प्रकार से प्रवृत्तिनिमित्त के आधार पर भेद किये जा सकते हैं यथा ध्वनि को आधार बना कर ध्वनिकाव्य, गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य, अवरकाव्य आदि भेद किये गये हैं। विनियोग के आधार पर भी काव्य को श्रव्य तथा दृश्य के भेद से दो भागों में विभाजित किया गया है। दृश्य काव्य में अभिनेय रूपक वाङ्मय आता है जिनमें दस प्रकार के रूपक और अट्ठारह प्रकार के उपरूपकों का वर्णन साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने किया है। श्रव्य काव्य में प्रबन्ध तथा मुक्तक रचनायें आती हैं। प्रबन्धकाव्य का सर्वोत्तम निदर्शन महाकाव्य है। अनेक काव्यशास्त्रियों ने महाकाव्य के लक्षण का निरूपण किया है। यहाँ हम साहित्यदर्पण के अनुसार महाकाव्य के स्वरूप को वर्णित कर रहे हैं। पद्यकाव्य के प्रकारों में 'सर्गबन्धात्मक' काव्य प्रकार को महाकाव्य कहते है। चरित्र वर्णन की दृष्टि से इसमें एक ही नायक का चरित चित्रित किया जाता है वह नायक चाहे देव विशेष हो या प्रख्यात राजवंश का राजा हो, जिसमें धीरोदात्तादि नायक के गुण विद्यमान हों। किसी–किसी महाकाव्य में एक राजवंश में उत्पन्न अनेकों कुलीन राजाओं की भी चरित्र चर्चा दिखाई देती है (यथा रघुवंश महाकाव्य में)। रसाभिव्यञ्जन की दृष्टि से श्रृङ्गार, वीर और शान्त रसों में से कोई एक ही रस किसी महाकाव्य में 'अङ्गी' अथवा प्रधान रूप से परिपुष्ट किया जा सकता है, उस एक अङ्गी की अपेक्षा से अन्य सभी रस अप्रधान या अङ्ग रूप में अभिव्यक्त किये जा सकते हैं। संस्थान रचना की दृष्टि से मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्बहण आदि सभी सन्धियाँ महाकाव्य में आवश्यक मानी गयी हैं। इतिवृत्त योजना की दृष्टि से कोई भी प्रसिद्ध ऐतिहासिक इतिवृत्त अथवा किसी महापुरुष के जीवन से सम्बन्ध कोई लोकप्रसिद्ध वृत्त यहाँ वर्णित किया जा सकता है। उपयोगिता की दृष्टि से महाकाव्य में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप

पुरुषार्थचतुष्टय का काव्यात्मक निरूपण किया जाता है, किन्तु परम फल के रूप में किसी एक का भी निरूपण किया जा सकता है। महाकाव्य का आरम्भ मङ्गलात्मक होता है । यह मङ्गल या तो नमस्कारात्मक या आशीर्वादात्मक या वस्तुनिर्देशात्मक कवि की यदृच्छा पर निर्भर होता है। दुष्ट-निन्दा और सत्प्रशंसा का उपनिबन्धन किया जाता है। प्रत्येक सर्ग में किसी एक वृत्त में बद्ध पद्य-रचना की जाती है और सर्गान्त में उस वृत्त को छोड़कर अन्य वृत्त में पद्य-रचना होती है। आठ सर्ग से कम सर्ग महाकाव्य में नहीं होते, ये सर्ग न तो बहुत बड़े होते है और न बहुत छोटे। किसी–किसी महाकाव्य में भिन्न–भिन्न वृत्तों में भी बद्ध पद्यों से सर्ग निर्माण किया जाता है। सर्ग के अन्त में अगले सर्ग में आने वाले वृत्त (कथावस्तु) की सूचना देनी चाहिए। सर्गबन्धात्मक काव्य में इन विषयों का यथास्थान किंवा यथासम्भव साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया जाना चाहिए– सन्ध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन–उपवन, समुद्र, सम्भोग, विप्रयोग, मुनि, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह, सामाद्युपायचतुष्टय, पुत्रजन्म आदि।[1]

महाकाव्य के वर्णनक्रम में उक्त विषयों का उपनिबन्धन करना चाहिए; किन्तु जितने भी परिगणित विषय हैं जिन्हें हम महाकाव्य के अङ्ग भी कह सकते है उन सबका वर्णन महाकाव्य में अनिवार्य नहीं है। अपने वर्ण्यविषय के अनुरूप कवि जिनकों भी वर्णित करना चाहे कर सकता है। कवि के सन्दर्भ में तो कहा ही गया है–

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥

इसलिए उक्त परिगणित विषयों में कोई विषय न भी हो तो वह दोष नहीं माना जाता। जैसा कि महाकाव्य लक्षण के प्रसङ्ग में ही दण्डी ने कहा है कि–

न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदङ्गैः काव्यं न दुष्यति।
यद्युपात्तेषु संपत्तिराराधयति तद्विदः॥ 1.20

यदि वर्ण्यविषय के रूप में गृहीत तत्त्वों में विद्यमान चारुता काव्य पारखिओं के मन को प्रभावित कर ले, तो उक्त अङ्गों में से कुछ अङ्गों के न होने पर भी काव्य दूषित नहीं होता अर्थात् उसका काव्यत्व

1. क्वचिन्निन्दा खलादीनां सताञ्च गुणकीर्तनम्।
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः;॥
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह।
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते॥
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्।
सन्ध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः।
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः।
सम्भोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः॥
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः।
सर्गबन्धों महाकाव्यः तत्रैकों नायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियों वापि धीरोदात्तगुणान्वितः॥
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा।
श्रृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसन्धयः।
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्॥
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्।
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा॥
वर्णनीया यथायोगं साङ्गोपाङ्गा अमी इह॥
कवेवृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा।
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु॥ साहित्यदर्पण,6.315–324.

कर ले, तो उक्त अङ्गों में से कुछ अङ्गों के न होने पर भी काव्य दूषित नहीं होता अर्थात् उसका काव्यत्व अक्षुण्ण रहता है। यहाँ दण्डी ने परिगणित विषयों के लिए 'अङ्ग' शब्द का प्रयोग किया है। यथा यदि मनुष्य शरीर में परिगणित जो अङ्ग हैं यदि उनमें से वह किसी से हीन हो तो विकार (दोष) माना जाता है जैसे एक आँख के न होने पर काना, एक पैर के न होने पर लंगड़ा आदि। महाकाव्य के लिए परिगणित उक्त विषयों में से यदि कोई न भी हो तो भी इसतरह का विकार महाकाव्य में नहीं माना जाता। भोजराज ने भी सरस्वतीकण्ठाभरण में कहा है कि–

नावर्णनं नगर्व्यादेर्दोषाय विदुषां मतम्।

यदि शैलर्त्तुरात्र्यादेर्वर्णनेनैव पुष्यति।। 5.135.

अर्थात् यदि पर्वत्, ऋतु, रात्रि आदि के वर्णन से ही रस की पुष्टि हो जाती है तो पुर आदि का वर्णन न करना दोषावह नहीं होता– ऐसा विद्वानों का मत है।

किरातार्जुनीय महाकाव्य की कथा को (1.8) इकाई में अत्यन्त संक्षेप में उल्लिखित किया गया है, सर्गक्रम से उपनिबद्ध कथा से ही ऊपर वर्णित महाकाव्यीय विषय–वस्तु के वर्णन के सम्बन्ध में ज्ञान हो जायेगा। अट्ठारह सर्गों में उपनिबद्ध सम्पूर्ण कथा का सार इस प्रकार है– द्यूतक्रीड़ा में हारकर युधिष्ठिर का द्वैतवन में रहना तथा दुर्योधन की शासन प्रणाली के ज्ञान के लिए वनेचर को भेजना, वनेचर के द्वारा सम्पूर्ण वृतान्त जानकर दुर्योधन के सुव्यवस्थित शासन की बात कहना, द्रौपदी और भीम का युधिष्ठिर से प्रतिज्ञा तोड़कर युद्ध के लिए उत्साहित करना, जिसे युधिष्ठिर के द्वारा न स्वीकार किया जाना, वेदव्यास का अर्जुन को इन्द्रकील पर्वत पर पाशुपतास्त्र हेतु तपस्या के लिए भेजना, दिव्याङ्गनाओं के द्वारा भी अर्जुन के व्रत भङ्ग में सफल न होने पर इन्द्र का स्वयम् आना और शिव की उपासना का उपदेश देना, शिव का अर्जुन के तपोबल की परीक्षा हेतु किरात वेश धारण करना, (मूकदानव) शूकर का अर्जुन की ओर आना, अर्जुन और किरात दोनों का ही शूकर पर बाण छोड़ना, बाण के लिए किरात और अर्जुन में युद्ध, अन्ततोगत्वा अर्जुन पर प्रसन्न हो भगवान् शङ्कर के द्वारा स्वयम् अपना दर्शन देना तथा अमोघ पाशुपतास्त्र को प्रदान करना। यही कथा अट्ठारह सर्गों में उपनिबद्ध है, परन्तु भारवि ने महाकाव्य के लक्षणानुसार छहों ऋतु, सूर्योदय, सूर्यास्त, पर्वत, नदी, जलक्रीड़ा, सुरत आदि का वर्णन कर कथानक के कलेवर का विस्तार किया है। चौथे और पाँचवें सर्ग में शरद्वर्णन तथा हिमालय वर्णन है। ग्यारहवें सर्ग में आकर कवि ने इतिवृत्त के सूत्र को पकड़ा है। इस तरह मन्थर गति से कथा आगे प्रवृत्त हुई है।

1.6 महाकाव्य का नामकरण

प्रायः महाकाव्यों के नाम उनके नायक के नाम पर, कथानक के नाम पर अथवा अपने रचयिता के नाम पर होते हैं। जैसा कि साहित्यदर्पणकार ने कहा–

"कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा।"

महाकवि भारवि ने अपने महाकाव्य का नाम 'किरातार्जुनीयम्' रखा है जो कि कथानायक अर्जुन से सम्बद्ध है। इस महाकाव्य के समस्त कथानक का केन्द्र है 'अर्जुन द्वारा किरातवेशधारी भगवान् शङ्कर से पाशुपतास्त्र की प्राप्ति।' इसतरह किरात और अर्जुन के चरित से सम्बद्ध यह ग्रन्थ किरातार्जुनीयम् है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार होगी– किरातश्च अर्जुनश्च इति किरातार्जुनौ (द्वन्द्व समास) तौ अधिकृत्य कृतं काव्यम् इति किरातार्जुनीयम्। किरातार्जुन+छ (शिशुक्रन्द यमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्च) सूत्र से छ प्रत्यय हुआ, इस सूत्र का अर्थ है शिशु क्रन्द, यमसभ, द्वन्द्वसमास तथा इन्द्रजनन आदि शब्दों से छ प्रत्यय होता है यदि उनके सम्बन्ध में प्रणीत किसी ग्रन्थ की संज्ञा बनानी हो तो। प्रकृत प्रसङ्ग में द्वन्द्व समास वाले 'किरातार्जुन' शब्द से ग्रन्थ का नामकरण करना था, अतः छ प्रत्यय हुआ। (आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्) सूत्र से 'छ' को 'ईय्' आदेश हुआ। किरातार्जुन+छ>ईय, (यचिभं) से पूर्व शब्द समुदाय की भी संज्ञा होगी और (यस्येति च) से भसंज्ञक अङ्ग के अवर्ण के लोप की प्राप्ति होने पर नकारोत्तरवर्ती अकार का लोप हो जायेगा। किरातार्जुन+ईय = किरातार्जुनीय शब्द से 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' से समास का स्थल होने से प्रातिपदिकत्व के अक्षुण्ण होने के कारण प्रथमा विभक्ति एकवचन की विवक्षा में सु प्रत्यय, नपुंसकलिङ्ग के कारण सु को अम् आदेश; किरातार्जुनीय+अम् 'अमिपूर्वः' से पूर्वरूप हो किरातार्जुनीयम् शब्द निष्पन्न होगा। महाकाव्यम् का विशेषण होने से नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग है।

बोध प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर रिक्त स्थानों में लिखिये और अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से मिलाइये-

1. निम्नलिखित में से विचित्र शैली के प्रवर्तक कवि कौन हैं?

   (क) बाल्मीकि ()

   (ख) व्यास ()

   (ग) भारवि ()

   (घ) कालिदास ()

2. निम्नलिखित में से कौन सुकुमार मार्ग का कवि नहीं है।

   (क) कालिदास ()

   (ख) अश्वघोष ()

   (ग) भास ()

   (घ) माघ ()

3. किन्हीं चार बहिरङ्ग प्रमाणों के आधार पर भारवि का स्थिति काल निरूपित कीजिए?

4. ऐहोल का शिलालेख किसके द्वारा और किसके लिए लिखवाया गया है। उसमें कवि ने अपने को किनकी कीर्ति का आश्रय लेने वाला कहा है?

5. महाकाव्य के नाम किनके आधार पर रखे जाते हैं? उनमें से किरातार्जुनीय में किसके आधार पर रखा गया है?

6. भारवि के जीवनवृत्त के सन्दर्भ में हमें निम्नलिखित किस ग्रन्थ से जानकारी मिलती है? सही उत्तर के सामने (√) चिन्ह लगाइये।

   (क) शिशुपालवध ( )

   (ख) दशकुमारचरित ( )

   (ग) अवन्तिसुन्दरीकथा ( )

   (घ) रघुवंश ( )

1.7 किरातार्जुनीय महाकाव्य का नायक

किरातार्जुनीय के सम्बन्ध में मल्लिनाथ की यह प्रसिद्ध उक्ति है-

'नेता मध्यमपाण्डवो भगवतो नरायणस्यांशजः,
तस्योत्कर्षकृते नु वर्ण्यचरतो दिव्यः किरातः पुनः।
श्रृङ्गारादिरसोऽङ्गमत्र विजयी वीरप्रधानो रसः,
शैलाद्यानि च वर्णितानि बहुशो दिव्यास्त्रलाभो फलम्॥''

किरातार्जुनीय में नारायण के अंश से उत्पन्न अर्जुन नेता है। उनके उत्कर्ष का प्रदर्शन करने के लिए महादेव को किरातरूप में चित्रित किया गया है। इसमें प्रधान रस वीर तथा श्रृङ्गारादि हैं। शैल आदि का विपुल वर्णन है। महाकाव्य में फल है अर्जुन का दिव्यास्त्रलाभ।

वस्तुतः किरातार्जुनीय कथा के स्वरूप, जिसमें तृतीय सर्ग से अठारहवें सर्ग तक अर्जुन ही व्याप्त है तथा मल्लिनाथ जैसे टीकाकार के इस कथन के बाद कोई विचिकित्सा नहीं रह जाती है, किन्तु इस महाकाव्य के नायकत्त्व का प्रश्न भी किरातार्जुनीय के ही टीकाकार चित्रभानु के युधिष्ठिर को कथानायक मानने के कारण विवेच्य है। उनका कहना है कि कथा का प्रारम्भ तो युधिष्ठिर से होता ही है कथा का अन्त भी युधिष्ठिर से

ही होता है, क्योंकि अर्जुन को जिस पाशुपतास्त्र की प्राप्ति होती है, उस अस्त्र का प्रयोजन युधिष्ठिर के ही पक्ष में है, क्योंकि उससे युधिष्ठिर के ही शत्रु समूह का उच्छेदन होगा। उनका तर्क है कि ग्रन्थ के नाम में अर्जुन को प्रधानता देने का कारण है अर्जुन का पराक्रम, जिससे कुरुकुल का नाश सम्भव हो सका। फिर भी यतः अर्जुन युधिष्ठिर के अङ्ग है अतः नायक युधिष्ठिर ही हैं।

प्रकृत प्रसङ्ग में मल्लिनाथ की दृष्टि अधिक समीचीन प्रतीत होती है। वस्तुतः नायकत्व का निर्णय प्रकृत महाकाव्य की कथा को दृष्टि में रखकर ही करना होगा, अर्थात् इस महाकाव्य में कवि ने किसे नायक के रूप में निरूपित करना चाहा है। नाट्यदर्पणकार ने 'यत् फलवद् वृत्तं तदिह मुख्यम्' कहकर फल निष्पत्ति के साथ मुख्यत्व का सम्बन्ध निर्धारित किया है। इसी मुख्यत्व को अधिकार शब्द से भी निरूपित किया जाता है। अभिनवभारतीकार ने अधिकार शब्द की निरुक्ति करते हुए कहा है कि 'अधिकारः सर्वत्रानुयायित्वम् हृदयानुयायित्वं प्रयोजनस्य (तत्)' स्पष्ट है वही इतिवृत्त आधिकारिक होता है जो कवि द्वारा प्रबन्धव्यापी बनाया जाता है। किरातार्जुनीय के प्रसङ्ग में हम देखते हैं कि तृतीय सर्ग से अठारवें सर्ग तक कथा का विस्तार अर्जुन को केन्द्र में रखकर ही हुआ है। प्रथम सर्ग में भी कवि ने यह दृष्टिगत कराया है कि कथा प्रसङ्ग में यदि कभी दुर्योधन 'युधिष्ठिर का नाम सुन लेता है तो इन्द्रपुत्र अर्जुन के अनुस्मरणमात्र से अधोमुख होकर व्यथित हो जाता है–

''कथाप्रसङ्गेन जनैरुदाहृता
दनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः।
तवाभिधानाद् व्यथते नताननः
सदुःसहान्मन्त्रपदादिवोरगः॥''

यहाँ नाम तो लिया जा रहा है युधिष्ठिर का किन्तु साहचर्य नियम से अर्जुन का स्मरण कर, दुर्योधन अर्जुन के पराक्रम से व्यथित हो रहा है। द्रौपदी भी जब युधिष्ठिर के मन में प्रतिपाक्षियों के प्रति क्रोध उत्पन्न करने के लिए उनकी दुर्दशा का वर्णन करती है तो भीम, नकुल, सहदेव के प्रति उसकी सदयता का हेतु उनकी दिनचर्या, अलङ्करण तथा कोमल सौख्य में विपर्यय के कारण है। स्वयं युधिष्ठिर की भी महती विपत्ति को सोचती रहने वाली द्रौपदी के चित्त की मनोव्यथा में उसे बलपूर्वक भङ्ग करती है–

विचिन्तयन्त्या भवदापदं परां
रुजन्ति चेतः प्रसभं ममाधयः॥

तो उस व्यथा में भी वह अनुस्मरण करती है युधिष्ठिर की बहुमूल्य शय्या का, ब्राह्ममुहूर्त में चारणों के द्वारा उनको जगाये जाने का, उनकी दानशीलता का, उनके अकृश सुन्दर शरीर का, रत्नपीठ पर रखे उनके चरणों के भूपतियों के शिरोमाल्य के पराग से उपरञ्जित होने का। सच तो यह है कि द्रौपदी इस समस्त दुरवस्था का हेतु युधिष्ठिर को ही मानती है, (यह सम्पूर्ण विपत्ति दैवकृत नहीं है) युधिष्ठिर के इस प्रमादजन्य आचरण पर उसे आश्चर्य है, वह स्पष्टतः युधिष्ठिर से ही प्रश्न करती है ''परः त्वदन्यः कः अपहारयेत्' तुम्हारे अतिरिक्त और कौन है जो अपनी पत्नी तथा राजलक्ष्मी का इस प्रकार दूसरों के द्वारा अपहरण कराता–

''गुणानुरक्तामनुरक्तसाधनः
कुलाभिमानी कुलजां नराधिपः।
परैस्त्वदन्यः क इवापहारये-
न्मनोरमामात्मवधूनिव श्रियम्॥''

किन्तु यही द्रौपदी जब अर्जुन का अनुस्मरण करती है तो वह उन्हे उत्तरकुरु के विजेता, वासवोपम, प्रभूत वसुप्रदाता तथा वीर धनञ्जय के रूप में करती है। अर्जुन के अप्रतिम लोकातिशायी शौर्य को वह वल्कल एकत्र करने में क्षीण होते नहीं देखना चाहती–

'विजित्य यः प्राज्यमयच्छदुत्तरान्
कुरूनकुप्यं वसु वासवोपमः।
स वल्कवासांसि तवाधुनाहरन्
करोति मन्युं न कथं धनञ्जयः॥'

यह नायक के चरित का उत्कर्ष वर्णन ही तो है। साहित्यदर्पणकार ने अधिकार को प्रधान फल के स्वामित्व से परिभाषित किया है और फल के स्वामी को अधिकारी कहा है–

''अधिकारः फलेस्वाम्यधिकारी च तत्प्रभुः।

तस्येतिवृत्तं कविभिराधिकारिकमुच्यते।।''

इस दृष्टि से भी यदि विचार किया जाये तो किरातार्जुनीय का परमप्रयोजन 'पाशुपत अस्त्र का लाभ', है और यह लाभ भी अर्जुन को ही मिला है। अर्जुन के पाशुपतास्त्र लाभ के साथ ही महाकाव्य समाप्त होता है–

''व्रज जय रिपुलोकं पदपद्मानतः सन् गदित इति शिवेन श्लाघितो देवसंघैः।

निजगृहमथ गत्वा सादरं पाण्डुपुत्रो धृतगुरुजयलक्ष्मीर्धर्मसूनं ननाम।।''

देवताओं ने भी अव्याहत पराक्रमशाली, संसार की मङ्गलकामना के निमित्त महान् भार का वहन करने के लिए सन्नद्ध, अपने पराक्रम से सर्वश्रेष्ठ स्थान करने वाले तथा तपःश्री से विभूषित अर्जुन की प्रशंसा की–

''असंहार्योत्साहं जयिनमुदयं प्राप्य तरसा,

धुरं गुर्वी वोढुं स्थितमनवसादाय जगतः।

स्वाधाम्ना लोकानां तमुपरि कृतस्थानममरा–

स्तपोलक्ष्मा दीप्तं दिनकृतमिवोच्चैरुपजगुः।।''

भगवान् शिव का विजय का आशीर्वाद देना तथा असंहार्य उत्साह वाले अर्जुन की देवताओं द्वारा प्रशंसा– ये सभी तथ्य कवि की दृष्टि में अर्जुन के नायकत्व को ही सिद्ध करते हैं। नायक के नाम पर ही ग्रन्थ का नामकरण हुआ है। इस प्रकार प्रत्येक दृष्टि से अर्जुन ही कथानायक सिद्ध होते हैं।

नायक के अभ्युदय का वर्णन महाकाव्य के वर्ण्यविषयों में अन्यतम है। इतिवृत्त में नायक के चरित-वर्णन अथवा अभ्युत्थान-वर्णन की दो प्रकार की पद्धति पायी जाती है, जिसका निर्देश आचार्य दण्डी तथा भोजराज ने सरस्वतीकण्ठाभरणम् में किया है। दण्डी के अनुसार सर्वप्रथम नायक के गुणों को प्रस्तुत करके उसके द्वारा उसके शत्रुओं के विनाश का वर्णन करना– यह नायक के उत्कर्ष-प्रतिपादन का क्रम स्वभावतः मनोहारी होता है–

गुणतः प्रागुपन्यस्य नायकं तेन विद्विषाम्।

निराकरणमित्येष मार्गः प्रकृतिसुन्दरः।। 1.21

दूसरी पद्धति वह है जिसमें शत्रु (प्रतिनायक) के वंश, पराक्रम, शास्त्रज्ञानादि गुणों का वर्णन करके नायक द्वारा उसका पराभव दिखाकर नायक की उत्कृष्टता का प्रतिपादन किया जाता है, वर्णन की यह दूसरी पद्धति दण्डी को अधिक प्रिय है।

वंशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि।

तज्जयान्नायकोत्कर्षवर्णनं च धिनोति नः।।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि क्या प्रतिनायक के भी वंश, पराक्रम, शास्त्रज्ञान आदि का वर्णन करके उसका विनाश दिखाना युक्त है? साहित्यदर्पणकार ने प्रतिनायक का लक्षण इसप्रकार दिया है– "धीरोद्धतः पापकारी व्यसनी ? प्रतिनायकः"। प्रतिनायक स्वभाव से धीरोद्धत, पापाचरण में तत्पर किंवा व्यसनों में आसक्त रहा करता है। धीरोद्धत होने से 'प्रतिनायक' के लिए अनवस्थितचित्त, रौद्रस्वभाव, मदोन्मत्त, दम्भबहुल किंवा आत्मश्लाघी होना स्वाभाविक है। नाट्यदर्पणकार ने इसीलिए कहा है कि – 'लोभी धीरोद्धतः पापी व्यसनी प्रतिनायकः। मुख्यनायकस्य प्रतिपन्थी नायकः प्रतिनायकः। यथा रामयुधिष्ठिरयो रावणदुर्योधनवदिति।'

प्रतिनायक के उक्त स्वरूप वर्णन से स्पष्ट है कि वंशवीर्यश्रुतादिगौरव सम्पन्न होकर भी अविवेक पुरस्सर कार्य करने वाले का पराभव अवश्यम्भावी है– इस बात की पुष्टि इसतरह के वर्णन से होती है। साथ ही कवि को इसतरह के वर्णन में बहुत ही सतर्क होकर पहले प्रतिनायक का उत्कर्ष फिर नायक द्वारा प्रतिनायक का पराभव दिखाना होता है। विजेता के उत्कर्ष में विजेतव्य का उत्कर्ष भी पर्यवसित हो जाता है। काव्य के नायक की उत्कृष्टता प्रतिपादित करने का यह क्रम किरातार्जुनीय में विशेष रूप से द्रष्टव्य है जहाँ दुर्योधन के लोकरञ्जन आदि गुणों का वर्णन करके अन्ततः पाण्डवों द्वारा उसका विनाश सूचित किया गया है।

1.7.2 नायक के स्वरूप का निरूपण करते हुए साहित्यदर्पणकार ने कहा है–

त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।,

दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता॥

अर्थात् नायक वह है जो त्याग भावना से भरा हुआ हो, महान् कार्यों का कर्ता हो, कुलीन हो, बुद्धिवैभव से सम्पन्न हो, रूप–यौवन और उत्साह की सम्पदाओं से सम्पन्न हो, उद्योगशील हो, लोक का स्नेह भाजन हो और तेजस्विता, चतुरता किंवा सुशीलता का निदर्शक हो। नायक के चार भेद होते हैं– (1) धीरोदात्त, (2) धीरप्रशान्त (3) धीरललित तथा (4) धीरोद्धत। महाकाव्य का नायम धीरोदात्त कोटि का कहा गया है–

अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः।

स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः॥

अर्थात् जो आत्मश्लाघा की भावना से रहित हो, क्षमाशील, अतिगम्भीर, दुःख–सुख में प्रकृतिस्थ, स्वभावतः स्थिर और स्वाभिमानी किन्तु विनीत कहा गया है।

1.8 किरातार्जुनीयम् का संक्षिप्त इतिवृत्त

भारवि की अमरकीर्ति का आधार उनकी एकमात्र उपलब्ध कृति 'किरातार्जुनीय' है जिसकी गणना बृहत्त्रयी के अन्तर्गत की गयी है। बृहत्त्रयी में पृथुलकलेवर वाली तीन उत्कृष्ट काव्यकृतियाँ परिगणित हैं। भारवि-प्रणीत किरातार्जुनीयम्, माघ-प्रणीत शिशुपालवधम् और श्रीहर्ष-प्रणीत नैषधीयचरितम्। विचित्र मार्ग या कलावाद का प्रवर्तन करने वाले इस महाकाव्य में 18 सर्ग हैं जिनमें 1040 श्लोक हैं। इसका कथानक महाभारत के वनपर्व के कुछ अध्यायों पर आश्रित है। वनवास काल में अर्जुन द्वारा कौरवों पर विजय–प्राप्ति के लिए हिमालय पर्वत पर जाकर तपस्या करने, किरात वेश में आये हुए शिव से युद्ध करने एवं प्रसन्न हुए शिव से पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति की मुख्य कथा इसमें निरूपित है। पाण्डवाग्रज महाराज युधिष्ठिर बारह वर्ष के अरण्यवास की बाजी लगाकर कौरवों से जुआ खेलते हैं और उसमें पराजित हो अपने अनुजों तथा प्रियतमा द्रौपदी के साथ 'द्वैतवन' में रहने लगते हैं। किरातार्जुनीय कथानक का प्रारम्भ द्वैतवन से ही होता है। युधिष्ठिर यहाँ रहकर भी दुर्योधन की ओर से निश्चिन्त नहीं हैं। वे एक वनेचर को दुर्योधन की प्रजापालन–सम्बन्धी नीति को जानने के लिए 'चर' बनाकर भेजते हैं। महाकाव्य में सर्गों की कथा संक्षेप में इस प्रकार है– द्वैतवन में वनेचर का आकर युधिष्ठिर को दुर्योधन की प्रजापालन नीति का वर्णन सुनाना, द्रौपदी का उत्तेजनापूर्ण भाषण (सर्ग1) युधिष्ठिर और भीम का वार्तालाप, भीम द्वारा द्रौपदी का समर्थन करते हुए पराक्रम की महत्ता का वर्णन, युधिष्ठिर का प्रतिवाद (सहसा विदधीत न क्रियाम्), व्यास का आगमन (सर्ग–2) व्यास द्वारा अर्जुन को शिव की आराधना करके पाशुपतास्त्र प्राप्त करने का उपदेश, योग–विधि का निरूपण करके व्यास का अन्तर्धान होना, व्यास द्वारा प्रेषित यक्ष के साथ अर्जुन का प्रस्थान (सर्ग–3), इन्द्रकील पर्वत पर अर्जुन का पहुँचना, शरद् ऋतु का मनोरम वर्णन (सर्ग–4), हिमालय का वर्णन तथा यक्ष का अर्जुन को इन्द्रिय संयम का उपदेश देना (सर्ग–5), अर्जुन की तपस्या, विघ्न डालने के लिए इन्द्र द्वारा प्रेषित अप्सराओं का आगमन (सर्ग–6) गन्धर्वों और अप्सराओं के विलासों का वर्णन, वन विहार, पुष्प चयन (सर्ग–7) गन्धर्वों और अप्सराओं की उद्यान क्रीड़ा तथा जल क्रीड़ा का मोहक वर्णन (सर्ग–8), सायंकाल, चन्द्रोदय, मान, मानभङ्ग, दूती प्रेषण, सुरति तथा प्रभात का वर्णन (सर्ग–9), अप्सराओं की चेष्टायें तथा उनकी विफलता (सर्ग–10), मुनि–रूप में इन्द्र का आगमन, इन्द्रार्जुन संवाद, इन्द्र का अर्जुन को शिवाराधना का उपदेश देना (सर्ग–11), अर्जुन की तपस्या, तपस्वियों का शिव को प्रेरित करना, अर्जुन को देवताओं का कार्यसाधक जानकर 'मूक' नामक दानव का शूकर रूप में अर्जुन वध के लिए आगमन, किरातवेषधारी शिव का आगमन (सर्ग–12), शूकर (मूक दानव) पर शिव और अर्जुन दोनों का बाण प्रहार, दानव की मृत्यु, बाण के विषय में शिव के अनुचर तथा अर्जुन का विवाद (सर्ग–13) सेना–सहित शिव का आगमन और सेना के साथ अर्जुन का युद्ध (सर्ग–14) युद्ध का चित्रकाव्य के रूप में वर्णन (सर्ग–15), शिव और अर्जुन का अस्त्र–युद्ध, मल्लयुद्ध (सर्ग–16) शिव और उनकी सेना के साथ अर्जुन का युद्ध (सर्ग–17), बाहु युद्ध के बाद शिव का अपने मूल रूप मे प्रकट होना, इन्द्रादि का आगमन, अर्जुन को पाशुपतास्त्र की प्राप्ति, इन्द्रादि द्वारा भी अर्जुन को विविध अस्त्रों को प्रदान करना, अर्जुन का युधिष्ठिर के पास आगमन (सर्ग–18)। काव्य का अन्त शिव के द्वारा अर्जुन की विजयाशंसा के आशीष से होता है–

व्रज जय रिपुलोकं पादपद्मानतः सन्,

गदित इति शिवेन श्लाघितो देवसंघैः।

निजगृहमथ गत्वा सादरं पाण्डुपुत्रो,

धृतगुरूजयलक्ष्मीर्धर्मसूनुं ननाम॥

('जाओं, अपने शत्रुओ को जीतो' इस प्रकार शिव के द्वारा आशीर्वाद दिया गया अर्जुन, (जो उनके चरणकमलों में नत था) देवताओं के द्वारा प्रशंसित होकर महान् जय लक्ष्मी को धारण कर अपने घर लौट आया और उसने युधिष्ठिर को प्रणाम किया।

इस प्रकार 'श्री' शब्द के मङ्गलाचरण से आरम्भ भारवि का 'श्रीकाव्य' लक्ष्मी शब्द की विजयशंसना के साथ परिसमाप्त होता है। भारवि का काव्य जैसे 'लक्ष्म्यन्त' काव्य कहलाता है, ठीक उसी तरह माघ का काव्य 'श्रयन्त' तथा श्रीहर्ष का नैषध 'आनन्दान्त' है। भारवि ने मङ्गलसूचक 'लक्ष्मी' शब्द को प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद्य में अवश्य रखा है।

1.9. महाभारत की कथा से किरातार्जुनीयम् में प्राप्त परिवर्तन

यद्यपि यह सत्य है कि महाभारत 'किरातार्जुनीयम्' का उपजीव्य है, किन्तु महाकवि भारवि ने मूल कथा में मनोनुकूल परिवर्तन किया है। महाभारत में यह कथा वनपर्व में वर्णित है। इस कथा को ध्यान में रखते हुए महाकवि भारवि-कल्पित कथा में कुछ विशेष परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं–

1. भारवि किरातार्जुनीय का आरम्भ द्वैतवन में हस्तिनापुर से लौटे हुए वनेचर के आगमन के साथ करते हैं। वनेचर वृत्तान्त महाकवि की मौलिक सोच है।

2. महाभारत में व्यास युधिष्ठिर को 'प्रतिस्मृति' नाम्नी विद्या सिखाते हैं, युधिष्ठिर उसका मनन करते हैं। फिर वे उस विद्या को अर्जुन को सिखाते हैं। किरातार्जुनीय में व्यास युधिष्ठिर से इस बात का उल्लेख तो करते हैं कि वे गुप्त मन्त्र अर्जुन को सिखाने के लिए उपस्थित हुए हैं। किन्तु वे इसे सीधे अर्जुन को ही सिखाते हैं। महाभारत में उल्लिखित 'प्रतिस्मृति विद्या' का किरातार्जुनीय में उल्लेख नहीं है।

3. विद्यादान के पश्चात् ? और किरातार्जुनीय दोनों स्थलों में व्यास के अन्तर्हित होने का उल्लेख है; किन्तु किरातार्जुनीय में यह नवीनता है कि यहाँ व्यास के अन्तर्हित होने के साथ-साथ एक यक्ष उपस्थित होता है। महाभारत में अर्जुन युधिष्ठिर की आज्ञा शिरोधार्य कर मन्त्रबल से स्वयम् इन्द्रकील पर्वत जाते हैं जबकि किरातार्जुनीय में यक्ष उन्हें इन्द्रकील पर्वत पर पहुँचाता है।

4. महाभारत में अर्जुन को तपविरत करने के लिए देवराज इन्द्र स्वयम् आते हैं। परन्तु किरातार्जुनीय में वे सर्वप्रथम गन्धर्वों और अप्सराओं को प्रेषित करते हैं समाधि भङ्ग करने के लिए और बाद में स्वयम् आकर अर्जुन को शिवोपासना के लिए प्रेरणा दे जाते हैं। महाभारत में अर्जुन आरम्भ से ही शिव के प्रसादनार्थ तप करते हैं जबकि किरातार्जुनीय में पहले इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए फिर महादेव को प्रसन्न करने के लिए तप करते हैं।

5. अप्सराओं तथा गन्धर्वों का इन्द्रकील-प्रस्थान, उनकी रतिकेलि, सूर्यास्त, चन्द्रोदयादि का वर्णन, उनके द्वारा अर्जुन के तप में विघ्नोपस्थापन, अनन्तर उनका इन्द्र के पास लौटना, इन्द्र का मुनि वेष धारण कर अर्जुन की परीक्षा के लिए इन्द्रकील आना, प्रसन्न होकर महादेव की आराधना के लिए कहना आदि प्रसङ्ग मौलिक हैं और महाकाव्य के विकास में सहयोग देने वाले हैं। इस प्रकार षष्ठ सर्ग से एकादश सर्गपर्यन्त की कथा पूर्णरूपेण कवि कल्पना पर आश्रित है।

6. किरातार्जुनीय में वराह के वध किये जाने पर ज्यों ही अर्जुन अपना बाण लेने के लिए मृत वराह के निकट जाते हैं, त्यों ही किरात-पति-प्रेषित एक वनेचर उनके सम्मुख उपस्थित होता है। वनेचर दूत का आगमन, अर्जुन के प्रति उत्तेजक वचन प्रयोग तथा अर्जुन द्वारा

वनेचर के प्रति उत्तर दिये जाने का प्रसङ्ग पूर्णतः मौलिक है।

7. महाभारत में किरात वेशधारी शङ्कर से अर्जुन का केवल मल्लयुद्ध होता है तथा पार्वती और शिव के गण उसके द्रष्टा बनते हैं। किरातार्जुनीय में सर्वप्रथम अर्जुन स्कन्द के सेनापतित्व में आई हुई शाङ्करी सेना से युद्ध करके विजयी होते हैं, बाद में उनका युद्ध शङ्कर से भी होता है।

8. दोनों ही ग्रन्थों में शिव के प्रसन्न होकर अपने वास्तविक रूप में प्रकट होने का वर्णन है, परन्तु जिस घटना के अन्त में शिव प्रसन्न होकर प्रकट होते हैं, वह दोनों में भिन्न है। महाभारत में अर्जुन जब शिव के पिण्ड पर पुष्पमाला चढ़ाकर यह देखते हैं कि वह किरात के कण्ठ में पड़ी हुई है तब शिव अपने वास्तविक रूप में प्रकट होते हैं। किरातार्जुनीय में बाहु-युद्ध करते-करते जब अर्जुन आकाश में उठे हुए शिव के चरणों को पकड़ लेते हैं, तभी आशुतोष अपने वास्तविक रूप में आकर अर्जुन को हृदय से लगा लेते हैं। महाभारत में शिव के प्रकट होने पर पार्वती भी साथ हैं। किरातार्जुनीय में पार्वती का उल्लेख नहीं है।

9. महाभारत में पाशुपतास्त्र प्राप्ति के बाद अर्जुन इन्द्र के साथ स्वर्गलोक की भी यात्रा करके अन्यान्य दिव्यास्त्रों की प्राप्ति करते हैं, परन्तु किरातार्जुनीय में वे अस्त्र-प्राप्ति के बाद सीधे अपने भाइयों के पास आते हैं।

स्पष्ट है कि काव्योत्कर्ष के उद्देश्य से भारवि ने महाभारत की कथा में यथेष्ट परिवर्तन किया है। जो आख्यान भारवि ने अपने लिए चुना है, वह अत्यन्त संक्षिप्त है। अठारह सर्गों का विशालकाय महाकाव्य लिखने योग्य सामग्री उसमें नहीं हैं; किन्तु कवि ने अपनी अद्भुत वर्णन शक्ति तथा मौलिक उद्भावनाओं के बल पर उसे इतना विपुल विस्तार प्रदान किया है। प्रकृति वर्णन, क्रीड़ादि वर्णन एवं युद्ध वर्णन के द्वारा मुख्य कथानक का विस्तार किया गया है। नाटकीयता का तत्त्व लाने के लिए काव्य में संवादों को अपनी ओर से जोड़ा गया है और इस उद्देश्य से प्रथम सर्ग में वनेचर और चतुर्थ सर्ग में यक्ष को पात्र रूप में प्रविष्ट किया गया है। कलावादी भारवि ने सुन्दर हृदयावर्जक संवादों,काल्पनिक चित्रों तथा रमणीय वर्णनों से इसे भरकर नवीन दिशा का प्रवर्तन किया है। श्रृङ्गार चेष्टाओ के वर्णनों में मुक्तक काव्य की चित्रात्मकता उन्होंने इसमें भरी है। चतुर्थ से एकादश सर्ग तक के अन्तराल को ऐसे ही वर्णनों से भरा गया है। युद्ध का लम्बा वर्णन भी महाकाव्य की विशालता को भले ही रेखाङ्कित करे, उसमें कविता की आत्मा तिरोहित हो गयी है। किरातार्जुनीय के प्रथम तीन सर्ग बहुत लोकप्रिय हैं, इसमें मुख्य रूप से भारवि का राजनीति-विषयक ज्ञान प्रकट हुआ हैं। अर्जुन की परीक्षा के लिए किया गया इन्द्र का उपक्रम– महाकाव्य में वर्णन सम्भार का समुचित और प्रकाम सन्निवेश तो करता ही है, तद्द्वारा नायक का चरित्रोत्कर्ष भी स्पष्टतया संवर्धित हुआ है। इतने प्रभावशाली दैवी विघ्नों का विजेता पुरुष सत्य ही महनीय वीर तथा अभिनन्दनीय शूर सिद्ध होता है। फलतः यह वर्णन सर्वथा उपादेय है।

1.10. भारवि की प्रशस्ति

इस महाकाव्य में भारवि ने काव्योचित गुणों का बहुलता से सन्निवेश किया है। उदात्त एवं सजीव वर्णन, कमनीय कल्पनायें, अर्थगौरव, अलङ्कारों का चमत्कारात्मक प्रयोग, कलात्मक काव्य शैली, मनोहर प्रकृति-चित्रण तथा सजीव चरित्र-चित्रण ने भारवि के काव्य को रसिकजनों का कण्ठहार बना रखा है। यही कारण है कि सहृदयों ने अनेकशः इनकी प्रशंसा में सदुक्तियों का निबन्धन किया है। किसी ने भारवि की वाणी को स्वभाव से ही मधुर बताया है – 'प्रकृतिमधुरा भारविगिरः' (सदुक्तिकर्णामृत); तो किसी ने रसपूर्ण और अर्थगौरव से सम्पन्न निगदित किया है –

प्रदेशवृत्त्यापि महान्तमर्थं प्रदर्शयन्ती रसमादधाना।
सा भारवेः सत्पथदीपिकेव रम्या कृतिः कैरिव नोपजीव्या॥

और मल्लिनाथ जैसे समालोचक को भारवि का काव्य नारिकेल के फल के सदृश प्रथम साक्षात्कार में कठोर दिखने पर भी अन्दर में रसमय और स्वादु प्रतीत होता है–

नारिकेलफलसम्मितं वचो भारवेः सपदि तद्विभज्यते।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम्॥

संस्कृत-साहित्य के परिशीलन कर्ताओं ने जिस प्रकार माघकृत एक श्लोक के आधार पर उन्हें घण्टामाघ[1] की संज्ञा से अभिहित किया वैसे ही भारवि को भी उनके एक पद्य के आधार पर 'आतपत्र भारवि' की [illegible] ने विभूषित किया है।

उत्फुल्लस्थल[illegible]नीवनादमुष्मादुद्धूतः सरसिजसम्भवः परागः।
वात्याभिर्वियति विवर्तितः समन्तादाधत्तेकनकमयातपत्रलक्ष्मीम्।।

(इसका अर्थ है कि यहाँ स्थलकमलों के पराग आँधी (वात्या, चक्रवात) के द्वारा इस प्रकार उड़ाये जाते हैं कि आकाश में मण्डलाकार बन जाता है और स्वर्ण से निर्मित छत्र का रूप धारण कर लेता है।) सहृदयों को भारवि का कनकमय आतपत्र का सुन्दर प्रयोग इतना अच्छा लगा कि उन्होंने भारवि का नाम ही इसी के कारण 'आतपत्रभारवि' रख दिया।

1.11 भारवि की शैली का वैशिष्ट्य

भारवि मुख्य रूप से कलावादी कवि हैं। जिनका ध्यान काव्य के बहिरङ्ग पर अधिक रहा है। अर्थपक्ष में गम्भीरता तथा सार्वजनीनता का निवेश भी इन्होनें किया है। चित्रकाव्य का प्रयोग करने वाले भारवि सम्भवतः प्रथम संस्कृत कवि हैं; किन्तु यह शब्द क्रीड़ा इनके काव्य के पन्द्रहवें सर्ग में ही सीमित है और यमक का बहुल प्रयोग पाँचवें सर्ग में वे करते हैं। पाण्डित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति से काव्य में कहीं-कहीं कृत्रिमता का समावेश हो गया है; किन्तु भावों के अनुरूप ही इन्होनें काव्यकला का प्रयोग किया है; यही कारण है कि अर्थगौरव से पूर्ण सामान्य उक्तियों में जहाँ प्रसाद गुण है तो वहीं चित्रात्मक वर्णनों में ओज गुण के प्रयोग में भी कवि ने सङ्कोच नहीं किया है। इनकी शैली के सन्दर्भ में जितना अन्य विद्वानों ने कहा है, उससे कम स्वयं भारवि ने नहीं कहा। इससे उनकी अपनी भाषा शैली के प्रति जागरूकता अभिव्यक्त होती है। भारवि के मत में काव्य, कवि के बुद्धि वैभव का वैसे ही परिचयक है जैसे स्वच्छ दर्पण को स्पष्ट प्रतिबिम्बित करता है–

'अपवर्जितविप्लवे शुचौ हृदयग्राहिणि मङ्गलास्पदे।
विमला तव विस्तरे गिरां मतिरादर्श इवाभिदृश्यते।।'

प्रमाणयुक्त, सुन्दर शब्द योजनायुक्त, प्रिय और हितकर वाक्प्रपञ्च सुबुद्धि को प्रतिबिम्बित करता है। भारवि काव्य के लिए शब्दसौष्ठव और अर्थसम्पत्ति की युगपद् योजना को आवश्यक मानते ही हैं। उसके साथ ही साथ निश्चितार्थता को भी आवश्यक मानते हैं, अर्थात् वाणी में शब्द सामर्थ्य और अर्थ की समग्रता हो और उसके साथ विषयवस्तु प्रमाण सिद्ध हो। इससे सिद्ध होता है कि भारवि काव्य में नैतिक सिद्धान्त का प्रकाशन आवश्यक मानते हैं। युधिष्ठिर के स्वर में निश्चित ही कवि ने अपनी ही काव्यशैली के आदर्श को निरूपित किया है–

'स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित्।।''

भारवि की दृष्टि में सत्काव्य के लिए आवश्यक है कि उसके शब्दों में स्फुटता (स्पष्टता) हो, अर्थगौरव (अर्थ का प्राचुर्य) विद्यमान हो, बातों में पृथगर्थता (पुनरुक्ति का अभाव या परस्पर विरोध का अभाव) हो और शब्दों की परस्पर आकांक्षा (सामर्थ्य) भी उपस्थित हो। भाषा के इन गुणों का भारवि ने मात्र उपदेश ही नहीं किया अपितु अपने काव्य में अनुपालन भी किया है। इसके अतिरिक्त उनके अनुसार काव्य में श्रुतिमधुर शब्दों का इतना सुरुचिपूर्ण प्रयोग होना चाहिए कि कोमलकान्त पदावली शत्रुओं के मन को भी प्रसन्न कर दे। भाषा-शैली के विषय में भारवि ने अपने आदर्श का सङ्केत इस प्रख्यात पद्य में किया है–

'विविक्तवरणाभरणा सुखश्रुतिः प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम्।
प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती।।'

परस्पर असङ्कीर्ण वर्णों के आभूषण से युक्त, सुनने में सुखद अर्थात् श्रुति-कटु दोष से रहित, शत्रुओं के भी मन को प्रसन्न करने वाली तथा प्रसाद गुण एवम् अर्थगाम्भीर्य से युक्त वाणी को होना चाहिए। पुण्यशाली

1 उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम्।
वहति गिरिरियं विलम्बिघंटाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम्।।– शिशुपालवध,4.20

व्यक्तियों की ही सरस्वती प्रसन्न तथा गम्भीरपदों से युक्त होती है। प्रसन्न का लक्ष्य शाब्दी सुष्ठुता से है तथा 'गम्भीर' का तात्पर्य अर्थ की गम्भीरता से है। भारवि की शैली का यही मर्म है। वह प्रसन्न होते हुए भी गम्भीर है। मित्र आलोचकों को प्रसन्न करने के साथ ही दोषदर्शी आलोचकों को भी आवर्जित करती है। फलतः 'प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती' भारवि की भाषा तथा शैली का द्योतक महनीय मन्त्र है।

यह सत्य है कि भारवि काव्य के कलापक्ष पर विशेष ध्यान देते हैं, अपने काव्यों में अलङ्कारों की सचेष्ट स्थापना करते हैं, कहीं–कहीं शब्द क्रीड़ा और चमत्कार प्रदर्शन की ओर भी उनका झुकाव प्रतीत होता है, किन्तु सिद्धान्त रूप में वे काव्य के कलापक्ष और भावपक्ष दोनों के ही महत्त्व को भलीभांति समझते हैं।

'स्तुवन्ति गुर्वीमभिधेयसम्पदं विशुद्धिमुक्तेरपरे विपश्चितः।

इति स्थितायां प्रतिपूरुषं रुचौ सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः॥'

अर्थात कुछ लोग वाणी की वाच्यार्थ सम्पत्ति की प्रशंसा करते है, जो दूसरे विद्वान् केवल उक्ति (अर्थात् शब्द–सामर्थ्य) की प्रशंसा करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के पृथक्–पृथक् विचारों की स्थिति में सभी लोगों को प्रसन्न करने वाली, शब्दार्थसमन्वित वाणी अत्यन्त दुर्लभ होती है। इसप्रकार भारवि काव्य में उपर्युक्त शब्द–योजना को आवश्यक मानते हैं, साथ ही अर्थ की स्पष्टता और गम्भीरता को भी काव्य के लिए अनिवार्य मानते हैं। 'सर्वमनोरमा गिरः' कहने से कवि का यही अभिप्राय है जिसे मल्लिनाथ ने इन शब्दों में स्पष्ट किया है– "सर्वमनोरमाः सर्वेषां शब्दार्थरुचीनां पुंसां मनोरमा गिरः।" यहाँ यह भी ध्वनित हो रहा है कि भारवि जनप्रियता को श्रेष्ठ काव्य की कसौटी मानते हैं। जो काव्य केवल विशेष अभिरुचि वाले पाठकों को ही मनोहर प्रतीत हो उस काव्य को वे सफल नहीं मानते। पाठकों की रुचि तो अवश्य भिन्न–भिन्न होती है 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' किन्तु सत्कवि को अपनी प्रतिभा के द्वारा ऐसे काव्य की सृष्टि करनी चाहिए, जो सभी की रुचि के अनुकूल हो। यहाँ भारवि काव्य के किसी एक पक्ष पर ही अधिक बल देने वाली अतिवादी विचारधारा को उपेक्षणीय घोषित करते हुए प्रतीत होते हैं। उनके अनुसार वाणी के द्वारा मनोगत भावों की अभिव्यक्ति कराने में किसी व्युत्पन्न व्यक्ति को ही सफलता मिलती है–

भवन्ति ते सभ्यतमा विपश्चितां मनोगतं वाचि निवेशयन्ति ये।

नयन्ति तेष्वप्युपपन्ननैपुणा गम्भीरमर्थं कतिचित्प्रकाशताम्॥

यही अर्थगाम्भीर्य भारवि के काव्य का आदर्श है तथा इसी कारण उनके विषय में 'भारवेर्थगौरवम्' की उक्ति प्रसिद्ध हो गयी है।

1.12. भारवेरर्थगौरवम्

1.12.1. अल्पशब्दों में विपुल अर्थ का सन्निवेश कर देना अर्थगौरव की पहचान है। भारवि ने बड़े से बड़े अर्थ को थोड़े से शब्दों में प्रकट कर वास्तव में अपनी अनुपम काव्यचातुरी दिखाई है। अर्थगौरव की इससे अधिक और क्या सफलता होगी कि किरातार्जुनीय महाकाव्य के समस्त निष्कर्ष को एक छोटे से श्लोक में निबद्ध कर उन्होंने गागर में सागर भरने की उक्ति को चरितार्थ कर दिया है–

द्विषतामुदयः सुमेधसा गुरुरस्वन्ततरः सुमर्षणः।

न महानपि भूतिमिच्छता फलसम्पत्प्रवणः परिक्षयः॥

अर्थात् ऐश्वर्य की कामना करने वाले बुद्धिमान् पुरुष को शत्रुओं का क्षयोन्मुख उत्कर्ष सह्य होता है, किन्तु अभ्युदयोन्मुख विनाश सह्य नहीं। तात्पर्य यह है कि किसी भी स्थिति में शत्रु के अभ्युदय की स्थिति अपना कल्याण चाहने वाले को सहन नहीं करनी चाहिए।

उद्देश्य की सफलता के लिए भारवि ने जिस साधन को अपने महाकाव्य में अभिव्यक्त किया है कुछ शब्दों में ही उसकी चर्चा कितनी सराहनीय हो उठी है–

"शिवमौपयिकं गरीयसी फलनिष्पत्तिमदूषितायतिम्।

विगणय्य नयन्ति पौरुषं विजितक्रोधरया जिगीषवः॥"

अर्थात् विजयाभिलाषी पुरुष, क्रोध का त्याग कर उत्तर काल में सुख देने वाली गौरवपूर्ण कार्यसिद्धि को ध्यान में रखकर अपने पुरुषार्थ को अच्छे–अच्छे उपायों से संयुक्त करते हैं, क्योंकि निश्चित फल वाले कार्य स्वयमेव प्रसिद्धि के कारण बनते हैं।

1.12.2 भारवि कविता में नैतिक तत्त्वों के प्रकाशन को आवश्यक मानते हैं। इस सन्दर्भ में उनका व्यावहारिक तथा शास्त्रीय अनुभव इतना प्रौढ़ और परिपक्व है कि उनके वाक्य उपदेशमय होने से पण्डितजनों की जिह्वा पर आज भी नाचा करते हैं। भारवि की शास्त्रगत व्युत्पत्ति के अतिरिक्त लोकानुभव का प्रकृष्ट परिचय उनकी सूक्तियों में प्राप्त होता है। उनका काव्य नीति, राजनीति तथा सामान्य जीवन से सम्बद्ध सूक्तियों का भाण्डागार है। कुछ सामान्य सूक्तियों के उद्धरण इस प्रकार दिये जा सकते हैं–

1. हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः – ऐसी वाणी दुर्लभ है जो हितकर होने के साथ–साथ मन के अनुकूल भी हो।
2. सुदुर्लभा सर्वमनोरमा गिरः– सभी को मनोहर लगने वाली वाणी दुर्लभ है।
3. गुरुतां नयन्ति हि गुणा न संहतिः – गुण से ही किसी का आदर होता है दैहिक विस्तार से नहीं।
4. समुन्नयन् भूतिमनार्यसंगमाद् वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः– नीचों की संगति की अपेक्षा बड़े लोगों से विरोध कहीं अच्छा है,क्योंकि उससे ऐश्वर्य की सिद्धि होती है।
5. गुणाः प्रियत्वेऽधिकृता न संस्तवः –प्रियता का कारण परिचय न होकर गुण ही होता है।
6. न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः–सेवक के द्वारा मालिक को ठगा नहीं जाना चाहिए।
7. अहो दुरन्ता बलवद् विरोधिता– बलवान् व्यक्ति से विरोध करने पर अन्त कष्टकर होता है।
8. वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि– प्रेम में गुण बसते हैं, किसी भौतिक पदार्थ में नहीं।
9. आपातरम्या विषयाः पर्यन्तपरितापिनः– इन्द्रियों के विषय अपनी प्राप्ति के ही समय अच्छे लगते हैं, अन्तिमावस्था में परिताप ही देते हैं।
10. सुलभा रम्यता लोके दुर्लभं हि गुणार्जनम् –संसार में सौन्दर्य की प्राप्ति कठिन नहीं है, किन्तु गुणों की प्राप्ति कठिन है।
11. सहसा विदधीत न क्रियाम्– बिना विचारे अर्थात् अचानक कोई कार्य नहीं करना चाहिए।
12. दुरधिगमा हि गतिः प्रयोजनानाम् –किसी उद्देश्य का अन्तिम परिणाम क्या होगा, यह जानना कठिन है।
13. आत्मवर्गहितमिच्छन्ति सर्वः– सभी लोग अपने वर्ग का हित चाहते हैं।
14. मात्सर्यरागोपहतात्मनां हि स्खलन्ति साधुष्वपि मानसानि–ईर्ष्याग्रस्त व्यक्तियों के चित्त सज्जनों के प्रति भी द्वेषयुक्त ही रहते हैं।
15. वस्तुमिच्छति निरापदिः सर्वः– सभी लोग निरापद स्थान पर रहना चाहते हैं।
16. अयातपूर्वा परिवादगोचरं सतां हि वाणी गुणमेव भाषते –सज्जनों की वाणी निन्दा करना जानती ही नहीं, केवल गुणों का ही प्रकाशन करती हैं।

अर्थगाम्भीर्य किरातार्जुनीय के प्रत्येक पात्र के वचनोपन्यास में प्राप्त होता है। दूसरे सर्ग में यदि भीम 'उपपत्तिमद्' एवं 'ऊर्जिताश्रय' वचन प्रस्तुत करते हैं तो द्रौपदी भी अर्थगौरव में वागीश बृहस्पति तक को विस्मित कर देती है– 'अपि वागधिपस्य दुर्लभं वचनं तद्विदधीत विस्मयम्'। जैसे अल्पमात्रावाली शक्तिशाली औषधि में गुणाधिक्य होता है उसी प्रकार द्रौपदी की वाणी व्यथित करने वाली होकर भी परिणाम में सुख देने वाली है–

परिणामसुखे गरीयसि व्यथकेऽस्मिन्वचसि क्षतौजसाम्।
अतिवीर्यवतीव भेषजे बहुरल्पीयसि दृश्यते गुणः॥

1.12.3. भारवि राजनीतिशास्त्र के भी विशिष्ट ज्ञाता हैं, अतः अनेकानेक तद्विषयक सूक्तियाँ इनके काव्य में भरी पड़ी है। कवि ने साधरण संवादो में भूपतियों का 'निसर्गदुर्बोधचरित' एवम् उनका 'निगूढ़तत्त्व नयवर्त्म' समाहित कर दिया है। यथा–

1. प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्रीः – युद्ध में विजय की प्राप्ति पराक्रम पर ही आश्रित होती है।
2. तेजोविहीनं विजहाति दर्पः – निस्तेज व्यक्ति को उत्साह त्याग देता है।
3. अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः– क्रोधशून्य व्यक्ति का न मित्र आदर करता है और न शत्रु ही उससे डरता है।

4. व्रजन्ति ते मूढ़धियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः– वे मूर्ख अवश्य ही पराभव पाते हैं जो मायावियों के प्रति माया का प्रयोग नहीं करते।

5. प्रकृतिः खलु सा महीयसः सहते नान्यसमुन्नतिं यया–बड़े राजाओं का यह स्वभाव है जिसके कारण वे दूसरे के अभ्युदय को सह नहीं पाते।

6. वजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहाः शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः – निःस्पृह मुनिजन ही कामादि शत्रुओं को तिरस्कृत कर शान्ति के द्वारा ही सिद्धि को प्राप्त करते हैं, राजा लोग नहीं।

7. सम्भावना ह्यधिकृतस्य तनोति तेजः – स्वामी द्वारा समादर अधिकृत सेवक की तेजवृद्धि करता है।

8. अल्पीयसोप्यामयतुल्यवृतेर्महापकाराय रिपोर्विवृद्धिः– रोग के सदृश कार्य है जिसका ऐसी अल्प भी शत्रु की वृद्धि महान् अपकार कर देती है।

9. निवसन्ति पराक्रमाश्रया न विषादेन समं समृद्धयः– समृद्धियाँ पराक्रमशाली (उत्साही) पुरुष का आश्रय लेती हैं, अनुत्साही का नहीं।

10. असाधुयोगा हि जयान्तरायाः प्रमाथिनीनां विपदां पदानि– दुष्टों का सम्पर्क विजय में बाधक होता है और सर्वनाशक विपत्तियों का स्थान होता है।

11. प्रायेण सत्यपि हितार्थकरे विधौ हि श्रेयांसि लब्धुमसुखानि विनान्तरायैः– अनुकूल या कल्याणकारी भाग्य होते हुए भी विघ्न बाधाओं के बिना कल्याण प्राप्त करना कठिन है।

किरातार्जुनीय के द्वितीय सर्ग में नीति से पूर्ण अनेक पद्य हैं यथा– 'ननु वक्तृविशेषनिःस्पृहा गुणगृह्या **वचने विपश्चितः'**–विद्वान किसी की भी वाणी के गुणों को ग्रहण करते हैं, ये वह नहीं देखते कि वह किस **वक्ता** (स्त्री या पुरुष) की वाणी है। अर्थगौरव के लिए बहुधा यह पद उद्धत किया जाता है–

'विषमोऽपि विगाह्यते नयः कृततीर्थः पयसामिवाशयः।
स तु तत्र विशेषदुर्लभः सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्म यः॥'

तात्पर्य यह है कि नीतिशास्त्र अत्यन्त दुर्गम है, फिर भी लोग इसमें प्रवेश करते ही हैं, क्योंकि इसमें प्रवेश करने के लिए गुरुओं ने मार्ग बनाये हैं। जलाशय में प्रवेश करने के लिए सोपान बना दिये जाने पर सभी लोगों का अवगाहन सरल हो जाता है वैसे ही दुरूह नीतिशास्त्र की स्थिति है, किन्तु वह व्यक्ति दुर्लभ होता है जो कृत्य के लिए उचित मार्ग बताये। प्रकृत श्लोक का अर्थ जलाशय और नीति उभयपरक है। जलाशय के पक्ष में वह व्यक्ति महत्त्वपूर्ण है जो जलाशय में सोपान बना दे, स्नान करने के विषय में सही परामर्श दे।

कहीं–कहीं भारवि ने शास्त्रीय वैदुष्य का प्रदर्शन करते हुए सामान्य विषयों को भी गम्भीर रूप दे दिया है। किरातार्जुनीय के सत्रहवें सर्ग में बाणों के आधार पर अर्जुन की विजय कामना की तुलना वैयाकरणों की शब्दाश्रित अर्थस्फोरण कामना से की गयी है। यह पद्य भारवि की अर्थगम्भीरता का उत्कर्ष प्रस्तुत करता है–

संस्कारवत्त्वाद् रमयत्सु चेतः प्रयोग शिक्षागुणभूषणेषु।
जयं यथार्थेषु शरेषु पार्थः शब्देषु भावार्थमिवाशशंसे॥

भारवि ने अर्थगौरव की उत्कृष्टता के लिए उन शाश्वत सत्यों को अपनी सूक्तियों के माध्यम से संग्रन्थित किया है, जो मानव को जीवन संग्राम में सदैव प्रतिष्ठा प्राप्त कराने के लिए हैं। कवि के अर्थगौरव की स्पष्ट प्रतीति उनके आदर्श पात्रों से सम्बद्ध उक्तियों में होती है। यथा युधिष्ठिर कहते हैं–

शुचि भूषयति श्रुतं वपुः प्रशमस्तस्य भवत्यलंक्रिया।
प्रशमाभणं पराक्रमः स नयापादितसिद्धिभूषणः॥

अर्थात् शरीर का अलङ्कार शास्त्रों का ज्ञान है, शास्त्रज्ञान का अलङ्कार प्रशम है, प्रशम भी पराक्रम से अलङ्कृत होता है। पराक्रम को सुनीति के द्वारा प्राप्त की हुई सफलता विभूषित करती है।

बोध प्रश्न

7. विनियोग के आधार पर काव्य के कौन–कौन से भेद किये जाते हैं? सही उत्तर पर सही (√) का चिह्न लगाइये–

(क) महाकाव्य ( )

(ख) गद्य ( )

(ग) श्रव्य ( )

(घ) रूपक ( )

(ङ) मुक्तक ( )

(च) दृश्य ( )

8. महाकाव्य में कौन–कौन से अङ्गी रस होते हैं? किरातार्जुनीय का अङ्गी रस क्या है?

9. महाकवि भारवि के महाकाव्य किरातार्जुनीय की कथा का आधार महाभारत है। संस्कृत–साहित्य में महाभारत को आधार बनाकर अनेक काव्यों का (महाकाव्य, रूपक आदि) प्रणयन किया गया। ऐसी स्थिति में महाभारत को किस प्रकार का काव्य कहेंगे। एक शब्द में उत्तर दीजिये।

10. भारवि की वाणी को नारिकेल फलसम्मित वचन क्यों कहा गया है?

11. 'अर्थगौरव' का क्या तात्पर्य है? अर्थगौरव के उदाहरण के रूप में किरातार्जुनीय से किन्हीं पाँच उद्धरणों को दीजिये।

12. महाकाव्य का मङ्गलाचरण कितने प्रकार का हो सकता है? सोदाहरण अधिकतम पाँच पंक्तियों में निर्देश कीजिये।

अभ्यास

1. 250 शब्दों में 'भारवि के अर्थगौरव' पर टिप्पणी लिखिये।

2. भारवि के काल निर्णय के सम्बन्ध में संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

1.13. अलङ्कार निरूपण

भारवि संस्कृत–साहित्य में अलङ्कृत काव्य शैली के प्रवर्तक हैं। उनके काव्य में शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार दोनों का ही यथास्थान प्रयोग हुआ है। प्रश्न उठता है अलङ्कार किसे कहते हैं?

1. 13.1. अलङ्कार शब्द का अर्थ

'अलंक्रियतेऽनेन इति अलङ्कारः' इस व्युत्पत्ति से जिसके द्वारा अलङ्कृत किया जाता है उसे अलङ्कार कहते हैं। आचार्य दण्डी ने अलङ्कार के स्वरूप का निर्वचन करते हुए काव्यशोभाकर समस्त धर्मों को अलङ्कार पद से व्यपदिष्ट किया – "काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।" आचार्य वामन ने भी इसी व्यापक अर्थ में अलङ्कार को स्वीकार कर काव्य की ग्राह्यता अलङ्काराधीन मानी– "काव्यम् ग्राह्यमलङ्कारात्' और इस सन्दर्भ में अलङ्कार को पारिभाषित करते हुए सौन्दर्य मात्र को 'अलङ्कार' की संज्ञा से अभिहित किया– "सौन्दर्यमलङ्कारः"। किन्तु शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार रूप अलङ्कारों को वामन ने काव्यशोभाकारक न मानकर, काव्यशोभा में अतिशयत्व के आधायक तत्त्व के रूप में निरूपित किया– "काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।"

आचार्य आनन्दवर्धन ने अलङ्कार को काव्य के अङ्ग शब्दार्थ के आश्रित मानते हुए इन्हें लौकिक आभूषणों, कटक, कुण्डलादि के समान शब्दार्थ रूप काव्यशरीर का शोभाजनक धर्म कहा– 'अङ्गाश्रितास्त्वलङ्काराः मन्तव्याः कटकादिवत्"। मम्मट ने अलङ्कार को परिभाषित करते हुए कहा–

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥

अर्थात् ये अलङ्कार रस के रहने पर ही कदाचित् अर्थात् अनियत रूप से अङ्गद्वारेण अङ्गी का उत्कर्ष करते हैं। अतः इनके सन्दर्भ में तीन स्थितियाँ हो सकती हैं–

(1) रसजन्य चारुता हो, किन्तु अलङ्कार अस्फुट रूप में हों।

(2) अलङ्कार अङ्गद्वारेण रसोत्कर्षक हों।

(3) अलङ्कार अङ्गद्वारेण रसापकर्षक हों।

ध्वनिवादियों की दृष्टि में सहज प्रतिभा के द्वारा रसावेश में जिन अलङ्कारों का स्फुरण होता है वे ही वस्तुतः अलङ्कार हैं, यत्नसाध्य अलङ्कार–अलङ्कार नहीं, चित्रकाव्य है–

रसभावादि विषयविवक्षा विरहे सति।
अलङ्कारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः॥

इसीलिए इन आचार्यों ने अलङ्कारों की अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यता की स्थिति को स्वीकार किया है–

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेद्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः॥

वस्तुतः सायास प्रयोग में आये हुए अनभीष्ट अलङ्कार न केवल वर्ण्यविषय को अपितु काव्यत्मा को भी आच्छादित कर देते है। अतः रसभावादि को प्रधान मानकर उनके अङ्ग रुप में अलङ्कारों की स्थिति ही समस्त अलङ्कारों के अलङ्कारत्व का साधक है। अलङ्कार प्रयोग के सन्दर्भ में आनन्दवर्धन ने कुछ नियमों का निर्देश किया है–

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्बर्हणैषिता॥
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादिरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम्

अर्थात् (1) अलङ्कारों की विवक्षा सदैव रस को प्रधान मानकर ही करनी चाहिए (2) इनका प्रयोग प्रधान रूप से कदापि नहीं करना चाहिए। (3) उचित समय अर्थात् रसोत्कर्ष की अपेक्षा के अनुरूप ग्रहण तथा (4) उचित समयपर त्याग देना चाहिए। (5) अलङ्कारों के आद्यन्त निर्वाह की इच्छा नहीं करनी चाहिए अन्यथा इससे रस व्याघात होता है। (6) यदि कहीं आद्यन्त निर्वाह हो भी जाये तो इस बात का सदैव ध्यान रखन चाहिए कि वे अङ्ग रूप मे ही वर्णित हों।

इस तरह हम देखते हैं कि ध्वनिसम्प्रदाय ने अलङ्कारों को अङ्गीकार तो किया, किन्तु रस को प्रधान या उपस्कार्य माना तथा अलङ्कारों को उपस्कारक। यह प्रधानता अप्रधानता की चर्चा शास्त्र में समझाने के लिए कर दी जाती है, वस्तुतः व्यवहार में ऐसा कोई भेद लक्षित नहीं होता। जैसे "चेतन पुरुष के शरीर में रहने वाली आत्मा को ही हम जीव कहते है, देह और शरीर के ही सम्बन्ध से उसका देही अथवा शरीरी कहकर परिचय देते हैं। घटपटादि में व्याप्त आत्मत्व को देही और शरीरी नहीं कहते। इसी प्रकार रमणीय वाच्यवाचक में व्याप्त ध्वनि ही काव्यात्मा है। अस्तु, न केवल अलङ्कार को सप्राणता के लिए रस ध्वनि की अपेक्षा है अपितु रसध्वनि को भी वाच्यवाचक रामणीयकरूपी शरीर को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाना अपेक्षित है। अलङ्कृत अथवा चारु शब्दार्थ ही वस्तुतः काव्यात्मा का अवच्छेदक हो सकता है। अलङ्कार और अलङ्कार्य का यही सम्बन्ध है।"[1] निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि अलङ्कार को काव्यार्थ चिन्तन में महत्त्व मिलने का कारण यही कल्पित किया जा सकता है कि काव्य के अनुभूति पक्ष का सर्वस्व उस शैली पर अवलम्बित है जो अलङ्कारों से संघटित होती है।

जब उपर्युक्त कसौटी पर भारवि के काव्य की परीक्षा करते हैं तो हम पाते है कि अलङ्कारों के स्वभाविक तथा परिश्रमसाध्य प्रयोग दोनों ही भारवि के काव्य में प्रचुर रूप में प्राप्त होते हैं। प्रयत्नसाध्य अलङ्कारों में अर्थालङ्कार नहीं अपितु शब्दालङ्कार ही हैं जो 'चित्रकाव्य' के रूप में प्रयुक्त हुये हैं। भारवि के काव्य में तीन शब्दालङ्कार अनुप्रास, यमक, श्लेष तथा साठ अर्थालङ्कार और चित्रकाव्य के अनेक स्वरूपों – गोमूत्रिका, द्वयक्षर, निरौष्ठय, प्रतिलोम, प्रतिलोमानुलोमपाद, शृङ्खलायमक एवं सर्वतोभद्र आदि का सफलतापूर्वक प्रयोग हुआ है।

---

1. रामचन्द्र द्विवेदी, अलङ्कार मीमांसा, पृष्ठ 142

1.13.2 शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार का भेदक आधार

शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कारगत भेद शब्द के परिवर्तनसहत्व या परिवर्तनासहत्व के ऊपर निर्भर हैं। जहाँ शब्द का परिवर्तन करके उसका पर्याय रख देने पर अलङ्कार की स्थिति नहीं रहती, अर्थात् उस विशेष शब्द के कारण ही अलङ्कार की स्थिति होने से उसे शब्दालङ्कार तथा जहाँ शब्द का परिवर्तन करके दूसरा पर्यायवाचक शब्द रख देने पर भी अलङ्कार की सत्ता बनी रहती है, वहाँ अलङ्कार की सत्ता शब्द के आश्रित न होकर अर्थ के आश्रित होने के कारण उसे अर्थालङ्कार कहा जाता है। इस तरह संक्षेप में जो अलङ्कार शब्दपरिवृत्ति को सहन नहीं करता वह शब्दालङ्कार और जो शब्दपरिवृत्ति को सहन कर लेता है वह अर्थालङ्कार होता है।

1.13.3. भारवि द्वारा प्रयुक्त कुछ शब्दालङ्कार तथा कुछ अर्थालङ्कार का स्वरूप निदर्शन–

भारवि के काव्य में जहाँ अलङ्कारों का स्वाभाविक विलास प्राप्त होता है वहीं अलङ्कारों की परिश्रमसाध्य योजना भी प्राप्ति होती है। प्रयत्नसाध्य अलङ्कारों में शब्दालंकार हैं जो चित्रकाव्य के रूप में काव्य में सुशोभित हो रहे हैं। भारवि ने चित्रकाव्य लिखने में अपनी चातुरी दिखलाने के लिए एक समग्र सर्ग–पञ्चदश–लिख डाला है। इस सर्ग में कहीं एकाक्षर पद्य है (श्लोक–14), कही दो अक्षर का पद्य है (5,38), कहीं पादादि यमक है (10), कहीं पाद के आदि अन्त में यमक है (8), कहीं गोमूत्रिका बन्ध है (12) तो कहीं सर्वतोभद्र है (25), कहीं पूर्वार्द्ध और उतरार्ध एक ही है (16,50), कहीं एक ही श्लोक सीधा–उल्टा एक समान है (18,20), कहीं चारों पादों की एकता से महायमक है (52), कहीं दो अर्थों वाले (16,50), कहीं तीन अर्थों वाले (42), और कहीं चार अर्थों वाले पद्य भी है (52). इस प्रकार भारवि ने प्रयत्नसाध्य चित्रालङ्कार का व्यापक रूप से इस सर्ग में प्रयोग किया है। यथा एकाक्षर का स्वरूप द्रष्टव्य है–

न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत्।

इसका अर्थ इस प्रकार है – (नानाननाः) हे अनेक मुख वाले सैनिकों, (ऊननुन्नः) निकृष्ट व्यक्ति के द्वारा आहत पुरुष (ना न) वास्तव में पुरुष नहीं है। (नुन्नोनः) जिसने न्यूनता को नष्ट कर दिया है, ऐसा (ना नु अना) पुरुष वस्तुतः पुरुष से भिन्न अर्थात् देवता है। (न–नुन्नेनः) जिसका स्वामी अनाहत या अक्षत है वह (नुन्नः अनुन्नः) आहत होने पर भी आहत नहीं है। (नुन्न नुन्ननुत्) अत्यधिक आहत व्यक्ति को क्षति पहुँचाने वाला (न अनेनाः) अपराधमुक्त नहीं हो सकता।

इस प्रकार के प्रयोगों के कारण भारवि का काव्य अनेकत्र अत्यन्त क्लिष्ट हो गया है,परन्तु यह भी ध्यातव्य है कि इसप्रकार के बौद्धिक व्यायाम के रूप में भारवि ने चित्रालङ्कार का प्रयोग करके संस्कृत–भाषा की उस क्षमता का प्रकर्ष दिखाया है जो सम्भवतः अन्य किसी भाषा में नहीं है। व्याकरणशास्त्र के प्रकाण्ड पाण्डित्य के द्वारा ऐसा सम्भव हो सका है। किरातार्जुनीय के पञ्चम सर्ग में द्रुतविलंबित छन्द का प्रयोग करते हुए कवि ने 'यमक' अलङ्कार का ऐसा प्रयोग किया है कि माघ इसके अनुकरण के लिए उत्सुक हो उठे। हिमालय का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है–

'पृथुकदम्ब–कदम्बक–राजितं ग्रथितमाल–तमाल-वनाकुलम्।
लघु–तुषार–तुषारजलश्च्युतं धृत–सदान–सदानन–दन्तिनम्।।''[1]

अर्थात् यह हिमालय बड़े–बड़े कदम्ब पुष्पों के समूह से सुशोभित है, पंक्तियों में निबद्ध तमाल वनों से भरा है, यहाँ बूँद–बूँद करके हिमजल चू रहा है और सुन्दर मुख वाले (सदानन) मतवाले (सदान) हाथियों को यह धारण करता है।

---

1. किरातार्जुनीय 5.9, तुलनीय शिशुपालवध6.2.

नवपलाश–पलाशवनं पुरः स्फुट–पराग–परागत–पङ्कजम्।
मृदुलतान्त–लतान्तमलोकयत् स सुरभिंसुरभिं सुमनोभरैः।।

अर्थालङ्कार वर्णन के प्रसङ्ग में भारवि का लक्ष्य चमत्कार प्रदर्शन नहीं होता है।

हिमालय वर्णन के प्रसङ्ग में 'रूपक' का निम्नांकित पद्य अत्यन्त सुन्दर है–

'श्रीमल्लताभवनमोषधयः प्रदीपाः
शय्या नवानि हरिचन्दन पल्लवानि।
अस्मिन् रतिश्रमनुदश्च सरोजवाताः
स्मर्तुं दिशन्ति न दिवः सुरसुन्दरीभ्यः॥

यहाँ शोभा सम्पन्न लताकुञ्ज ही भवन हैं, औषधियाँ (जड़ी –बूटियाँ) दीपक हैं, हरिचन्दन के नये–नये पल्लव शय्या हैं, रति के श्रम को दूर करने वाले कमल वन–जन्य समीरण सुरसुन्दरियों को स्वर्गका स्मरण करने ही नहीं दे रहे हैं। अर्थात् हिमालय में प्राप्त भोग सामग्री स्वर्ग से भी बढ़कर है। उत्प्रेक्षा का यह उदाहरण दर्शनीय है–

''प्रस्थानश्रमजनितां विहाय निन्द्रामामुक्ते गजपतिना सदानपङ्के।
शय्यान्ते कुलमलिनां क्षणं विलीनं संरम्भच्युतमिव श्रृङ्खलं चकाशे।''

मार्ग की थकान से एक हाथी को नींद आ गयी। नींद टूटने पर वह अपने सोने के स्थान को छोड़कर चला। वहाँ उसके गण्डस्थल से मद बहकर कीचड़ बन गया था। उस पर भौंरे बैठे हुए थे। हाथी उठा तो भ्रमर भी उड़ चले। उनकी पंक्ति भङ्ग हो गयी तो ऐसा प्रतीत हुआ मानों गजराज के वेगपूर्वक उठ खड़े होने के कारण उसको बाँधने की जंजीर टूट कर गिर पड़ी हो। कृष्णवर्ण भ्रमरों में लोहे के जंजीर की उत्प्रेक्षा कितनी उपयुक्त है।

दैनिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाली अनेक सरस सूक्तियाँ भारवि ने अर्थान्तरन्यास के द्वारा अपने काव्य में समाविष्ट कर दी हैं। यथा वनेचर दुर्योधन के सम्बन्ध में युधिष्ठिर से बता रहा है–

'तथाऽपि जिह्मः स भवज्जिगीषया तनोति शुभ्रं गुणसम्पदा यशः।
समुन्नयन्भूतिमनार्यसङ्गमात् वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः॥'

ऐश्वर्य का अभ्युत्थान करने वाला महात्माओं के साथ विरोध भी दुष्टों के संसर्ग की अपेक्षा श्रेष्ठ है, क्योंकि सज्जन संसर्ग किसी भी रूप में क्यों न हो वह गुणों का आधान कराता ही है।

1.13.4. प्रकृति–चित्रण में अलङ्कार प्रयोग–

उत्प्रेक्षा के माध्यम से प्रकृति का कितना सुन्दर शब्द–चित्र कवि ने उपस्थित किया है–

'मृणालिनीनामनुरञ्जितं त्विषा विभिन्नमम्भोजपलाशशोभया।
पयः स्फुरच्छालिशिखापिशङ्गितं द्रुतं धनुष्खण्डमिवाहिविद्विषः॥'

धान के खेतों में जल कितना सुन्दर मालूम पड़ता है। कमलिनी खिली है। कमललता के हरे रंग के कारण जल भी हरा हो गया है । कमल के पत्तों की शोभा के साथ जल की शोभा मिल रही है। खेत में धानों की पकी–पकी बालियाँ हिल रही है जिनसे जल भी पीला हो गया है। खेत का रञ्जित जल ऐसा मालूम पड़ता है मानों वृत्र के शत्रु इन्द्र का रंग–बिरंगा धनुष गल कर पानी के रूप में बह रहा है।

ऐसी ही एक अद्भुत कल्पना कवि ने आकाश में उड़ते हुए तोतों की पंक्ति को देखकर की है। उपमा अलङ्कार का सहज प्रयोग प्रकृत श्लोक में द्रष्टव्य है–

'मुखैरसौ विद्रुमभङ्गलोहितैः शिखाः पिशङ्गीः कलमस्य बिभ्रती।
शुकावलीर्व्यक्तशिरीषकोमला धनुःश्रियं गोत्रभिदोऽनुगच्छति॥'

शरद का सुहावना समय है। शिरीष के फल की तरह कोमल हरे शुकों की पंक्ति मूंगे के टुकड़े के समान लाल–लाल चोंचों में धान की पीली–पीली बालियों को लिए हुए आकाश में उड़ी जा रही है। मालूम पड़ता है जैसे इन्द्रधनुष आकाश में उगा हो। शुकों का शरीर हरा है, चोंच लाल है, उन चोचों में ली हुई धान

की बालियाँ पीली है। इन रंगों की मिलावट क्या इन्द्रधनुष से कम सुहावनी लगती है? भारवि ने शरद् के इस शोभन दृश्य को कितने सरल शब्दों में अङ्कित किया है। कल्पना एकदम नई है और वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक है।

1.13.5 रस-परिपोष में अलङ्कार-प्रयोग

भारवि के अर्थालङ्कार प्रायः रस परिपोष तथा विषयाभिव्यक्ति के लिए अनायास प्रयुक्त हुए है। यथा–

'विकसितकुसुमाधरं हसन्तीं कुरबकराजिवधूं विलोकयन्तम्।

ददृशुरिव सुराङ्गना निषण्णं सशरमनङ्गमशोकपल्लवेषु॥'

अर्थात् वसन्त ऋतु में सुरबालाओं ने देखा कि मानों बाण धारण करके अशोक के किसलयों पर बैठा हुआ कामदेव, हँसती हुई कुरबक पंक्तिरूपिणी वधू को देख रहा हो। उस समय प्रफुल्लित पुष्प उस कुरबक पंक्तिरूपिणी वधू के हास्य में अधर का काम कर रहे थे।

यहाँ पर कवि वसन्त ऋतु में विकसित कुरबक तथा अशोक वृक्षों का वर्णन कर रहा है; किन्तु कुरबक पंक्ति में वधू तथा उसके कुसुमों में हास्य एवम् अशोक पल्लवों में शय्या आदि की उत्प्रेक्षा करते हुए शृङ्गार का पूर्ण रूप उपस्थित किया है। यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार शृङ्गार का पोषक बन कर अपृथक्यत्ननिर्वर्त्यरूप में उपस्थित हुआ है। इसी प्रकार–

'श्वसनचलितपल्लवाधरोष्ठे नवनिहितेर्ष्यमिवावधूनयन्ती।

मधुसुरभिणि षट्पदेन पुष्पे मुख इव शाललतावधूश्चुचुम्बे।'

अर्थात् भ्रमर ने शाललतारूपिणी वधू के मुख सदृश पुष्पों का कृत्रिम कोप की प्रेरणा से इधर–उधर हिलते होने पर भी चुम्बन किया। वे मुख पुष्प उच्छ्वास के कारण कम्पित पल्लवाधर से युक्त थे तथा मधुर मदिरा और मकरन्द से सुरभित थे।

कवि की दृष्टि में यह शालवृक्ष की शाखा ही वधू है, पुष्प उसका मुख है, पल्लव उसके चंचल ओष्ठ है, पुष्प का मकरन्द मदिरा है, वायुवेग के कारण फूलों का हिलना ही उसके मुख की खींचातानी है, मदिरा का पान करने वाले भ्रमर ही नायक हैं। यहाँ प्रकृति वर्णन के माध्यम से शृङ्गार रस के उन्मीलन में उपमा अलङ्कार की अत्यन्त स्वाभाविक अभिव्यञ्जना किसी भी सहृदय पाठक के हृदयावर्जन के लिए पर्याप्त है।

इसी प्रकार विभिन्न रसों के पोषण के लिए स्वभावतः सहायक के रूप में प्रयुक्त विविध अलङ्कारों के अनेक उदाहरण भारवि के काव्य में प्राप्त होते हैं। इस प्रकार के अनायास साधित अलङ्कारों से चारुत्व के उत्कर्ष के साथ ही विषय में भी स्पष्टता आई है। आनन्दवर्धन का यह कथन–

'रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।

अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम्॥'

अर्थात् रसभावादि के तात्पर्य से अर्थात् रसभावादि को प्रधान मानकर उनके अङ्गरूप में अलङ्कारों की स्थिति ही सब अलङ्कारों के अलङ्कारत्व का साधक है। प्रथम सर्ग में भारवि ने प्रमुख रूप से चौदह अलङ्कारों का प्रयोग किया है, जो इस प्रकार हैं– वृत्यनुप्रास, अर्थान्तरन्यास, काव्यलिङ्ग, विषमालङ्कार, उपमा, उत्प्रेक्षा, एकावली, उदात्त, समासोक्ति, परिकर, संसृष्टि, सभङ्गश्लेष, यमक तथा सहोक्ति। भारवि ने सम्पूर्ण किरातार्जुनीय में साठ अर्थालङ्कार और तीन शब्दालङ्कार प्रयुक्त किये हैं।

1.14. छन्द

महाकवि भारवि ने अपने काव्य में पच्चीस छन्दों का प्रयोग किया है– वंशस्थ, उपेन्द्रवज्रा, मालिनी, ललिता, उपजाति, पुष्पिताग्रा, वसन्ततिलका, द्रुतविलंबित, प्रमिताक्षरा, प्रभा, रथोद्धता, जलधरमाला, प्रहर्षिणी, जलोद्धतगति, शालिनी, स्वागता, शिखरिणी, अनुष्टुप, उद्गता, औपच्छन्दसिक, इन्द्रवज्रा, अपरवक्त्र, प्रमुदितवदना,

मत्तमयूर आदि। यद्यपि महाकवि ने सर्गबन्ध लक्षण की दृष्टि से सर्ग के अन्त में छन्दों में परिवर्तन कर दिया हैं; किन्तु कई सर्गों में अन्तिम छन्दों को छोड़कर भी पूरे सर्ग में अनेक छन्दों का प्रयोग किया है। यथा पञ्चम सर्ग में कवि ने द्रुतविलंबित, औपच्छन्दसिक, क्षमा, प्रमिताक्षरा, प्रभा, रतोद्धता, जलधरमाला, प्रहर्षिणी, जलोद्धतगति, वसन्ततिलका, पुष्पिताग्रा, शालिनी, वंशपत्रपतित तथा मालिनी। छन्दों के वैविध्य का प्रदर्शन संस्कृत कवियों में सर्वप्रथम भारवि ने ही इतने परिमाण में किया है। यह उनके पाण्डित्य तथा विचित्रमार्ग के प्रवर्तन का परिचायक है। प्रथम सर्ग में पूरे सर्ग में वंशस्थ का प्रयोग है और सर्ग के अन्त में पुष्पिताग्रा तथा मालिनी का प्रयोग है। संख्या की दृष्टि से ही नहीं विषयवस्तु की दृष्टि से भी छन्दों का प्रयोग भारवि की सराहनीय विशेषता है। शृङ्गार के प्रसङ्ग में पुष्पिताग्रा, वीर के प्रसङ्ग में वंशस्थ, उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रा तथा उपजाति छन्द का इन्होंने बहुलता से प्रयोग किया है।

महाकवि क्षेमेन्द्र ने भी वीर रस के लिए वंशस्थ छन्दों को सर्वाधिक उपयुक्त माना है–

'षाड्गुण्यप्रगुणा नीतिर्वंशस्थेन विराजते।'।

किरातार्जुनीय में वीर रस के वर्णन में उपनिबद्ध वंशस्थ छन्दों की उत्कृष्टता को देखकर क्षेमेन्द्र ने 'सुवृत्ततिलक' में यहाँ तक कह दिया है–

'वृत्तच्छत्रस्य सा कापि वंशस्थस्य विचित्रता।
प्रतिभा भारवेर्येन सच्छायेनाधिकीकृता।।'

अर्थात् राजच्छत्र के समान वंशस्थवृत्त में भी एक अद्भुत विचित्रता है, जिसकी छाया ने भारवि की प्रतिभा को भी अत्यधिक समृद्ध बना दिया। इन सबसे यह ज्ञात होता है कि भारवि को छन्द का विस्तृत ज्ञान तो था ही उसकी प्रयोग पटुता भी उनमें कूट–कूट कर भरी थी।

1.15. रसाभिव्यञ्जना

किरातार्जुनीय में वीर रस अङ्गी अर्थात् प्रधान है तथा शृङ्गारादि अन्य रसों की योजना अङ्ग रूप में की गयी है। मल्लिनाथ ने भी इनके रस की चर्चा करते हुए कहा है–

'शृङ्गारादिरसोऽङ्गमत्र विजयी वीरप्रधानो रसः'। भारवि की दृष्टि अपने काव्य में अर्थ–गौरव का समावेश करने के साथ–साथ रसयोजना के प्रति भी उन्मुख रही है। उनके काव्य की इन्हीं विशेषताओं का उल्लेख कृष्ण कवि ने निम्नलिखित श्लोक में किया है–

'प्रदेशवृत्त्यापि महान्तमर्थं प्रदर्शयन्ती रसमादधाना।
सा भारवेः सत्पथदीपिकेव रम्याः कृतिः कैरिव नोपजीव्या।।'

महान् अर्थ को प्रकट करना और रसयुक्त होना भारवि के काव्य की ऐसी विशेषतायें है जो उसके चरमोत्कर्ष को प्रकट करती हैं। वस्तुतः अर्थगुरुता के अभाव में रसयुक्त भी काव्य अपना सामाजिक मूल्य खो देता है और महान् अर्थ से युक्त भी रसहीन काव्य केवल बुद्धि का विलास बनकर रह जाता है, और नीरस काव्य तो काव्यत्व का ही अधिकारी नहीं होता। कृष्ण कवि ने इन दोनों विशेष गुणों से अलङ्कृत भारवि की काव्यकृति को अन्य कवियों के लिए पथ–प्रदर्शिका के रूप में निरूपित किया है। प्रकृत महाकाव्य में आद्यन्त उत्साह, शौर्य एवं पराक्रम का स्वरूप दृष्टिगत होता है। 'अर्थ' इस महाकाव्य का अभिमत फल है अतः वीर रस का ही प्रभावातिशय है, परन्तु महाकवि ने इस 'वीर' को पुष्ट करने के लिए ग्रन्थ में अन्य रसों का भी प्रयोग किया है। अर्जुन के इन्द्रकीलशिखर प्रयाण में द्रौपदीगत विप्रलम्भ शृङ्गार तथा गन्धर्वोपभोग प्रसङ्ग में संयोग शृङ्गार, किरात और अर्जुन के युद्ध में रौद्र तथा भयानक रसों का परिपाक दृष्टिगत होता है। प्रसङ्गानुकूल रस–योजना भारवि का अनुपम वैशिष्ट्य है। अर्जुनकृत ईशस्तुति देवविषयक रति भावना का सर्वोत्तम निदर्शन है।

1.15.1 वीर रस

दशरूपककार के अनुसार वीर के तीन प्रकार होते हैं। वीर रस का लक्षण करते हुए दशरूपककार कहते हैं।-

'वीरः प्रतापविनयाध्यवसायसत्त्व–
मोहाविषादनयविस्मयविक्रमाद्यैः।
उत्साहभूः स च दयारणदानयोगात्
त्रेधा किलात्र मतिगर्वधृतिप्रहर्षाः॥'

अर्थात् प्रताप, विनय, अध्यवसाय, सत्व, मोह, अविषाद, नय, विस्मय, पराक्रम इत्यादि विभावों के द्वारा होने वाले उत्साह स्थायी भाव से वीर रस होता है। वह दया, युद्ध और दान के योग से तीन प्रकार का होता है। इसमें मति, गर्व, धृति तथा प्रहर्ष आदि व्यभिचारी भाव हुआ करते हैं।

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने 'स च वीरो दानवीरो धर्मवीरो युद्धवीरो दयावीरश्चेति चतुर्विधः' लिखकर तीन के स्थान पर चार प्रकार का वीर रस माना है। इसमें दानवीर बलि आदि, दयावीर जीमूतवाहन आदि और धर्मवीर युधिष्ठिर आदि प्रसिद्ध हैं। प्रकृत महाकाव्य में अर्जुन युद्धवीर के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि वीर पद का प्रयोग केवल युद्धवीर के लिए ही होता है । इसलिए वीररस के अन्य भेद नहीं करने चाहिए।

वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है और इस उत्साह का निर्वाह महाकाव्य में आद्यन्त हुआ है। भीम की उक्तियाँ प्रचण्ड उत्साह तथा गर्व से युक्त हैं। उन्हें युधिष्ठिर की शान्ति और सद्भावना की नीति पसन्द नहीं है। भीम का कहना है कि उत्तरोत्तर बढ़ने वाले द्वितीया के चन्द्रमा को जिस प्रकार लोग प्रणाम करते हैं उसी प्रकार क्षीण होने पर भी उत्साही राजा का स्वागत होता है–

'क्षययुक्तमपि स्वभावजं दधतं धाम शिवं समृद्धये।
प्रणमत्यनपायमुत्थितं प्रतिपच्चन्द्रमिव प्रजा नृपम्॥'

चतुर्दश सर्ग में अर्जुन के बाण-प्रहार-कौशल का अतिविस्तार से वर्णन किया गया है। शङ्कर की सेना के अनेक स्थलों में रहते हुए भी एक स्थान पर स्थित तपस्वी अर्जुन को, जो सूर्य की प्रखर किरणों के सदृश तीक्ष्ण बाणों के समूह को धारण कर रहे थे, प्रत्येक योद्धा ने अपने समक्ष रण नृत्य करते हुए इस प्रकार देखा, जिस प्रकार संसारी लोग उग्र बाण के सदृश प्रखर किरणपुञ्जधारी सूर्य को एक स्थान पर स्थित होने पर भी अपने–अपने सामने देखते हैं–

'शिवध्वजिन्यः प्रतियोधमग्रता स्फुरन्तमुग्रेषुमयूखमालिनम्।
तमेकदेशस्थमनेकदेशगा निदध्युरर्कं युगपत्प्रजा इव॥'

किरातवेशधारी शङ्कर के साथ अर्जुन का युद्ध वीररसपूर्ण है। अर्जुन अपने सभी शस्त्रों का प्रयोग करके थक गये यथा जब अर्जुन ने प्रस्वापनास्त्र खींचा तो शङ्कर ने ललाटस्थ चन्द्र से उसे निरस्त कर दिया, जब सर्परूप पाश का प्रहार किया तो शिव ने गरुड़ों के आविर्भाव से उन्हें भगा दिया, अर्जुन ने पावकास्त्र का प्रयोग किया तो शङ्कर ने वरुणास्त्र द्वारा उसे खण्डित कर दिया। इस तरह विविध शस्त्रो के प्रयोग के बाद भी जब अर्जुन शिव को पराजित नहीं कर सके तो उन्हें अपनी प्रचण्ड भुजाओं पर ही गर्व हुआ और–

'उन्मज्जन्मकरइवामरापगाया वेगेन प्रतिमुखमेत्य बाण नद्याः।
गाण्डीवी कनकशिलानिभं भुजाभ्यामाजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः॥'

गङ्गा के जल को चीर कर ऊपर निकले हुए घड़ियाल के समान अर्जुन ने बाणों की नदी के सामने डटकर त्रिलोचन के सोने की चट्टान जैसे कठोर वक्षःस्थल पर दोनों भुजाओं से प्रहार किया। बाणों के बौछार के सामने निर्भय डट कर शिव के कठोर वक्षःस्थल पर प्रहार करने वाले अर्जुन का यह रूप उनके अतुलनीय बल, अदम्य उत्साह तथा अद्वितीय शौर्य की सहज ही प्रतीति करा देता है।

शृङ्गार, रौद्र, अद्भुत आदि विविध रसों की सृष्टि कवि ने वीर रस के सहायक के रूप में की है। इस प्रकार भारवि ने अपने महाकाव्य में नायक अर्जुनगत वीर रस के स्थायीभाव उत्साह का वह रूप उन्मीलित किया है जिसके द्वारा वह अपने शक्तिशाली शत्रु दुर्योधन पर विजय प्राप्त कर सके।

इस प्रकार उक्त वर्णन से भारवि के काव्य में अलङ्कार–योजना, छन्द– प्रयोग तथा रसाभिव्यञ्जना की झलक मिल जाती है। प्रथम सर्ग में प्रयुक्त अलङ्कार–छन्दादि को व्याख्या के प्रसङ्ग में ही निदर्शित कर दिया है इसलिए उसकी यहाँ पुनरावृत्ति नहीं की है, उन्हें उन्हीं प्रसङ्गों में देख लिया जाना चाहिए तथा तद्–

तदलङ्कारों के लक्षण भी आत्मसात कर लिए जाने चाहिए।

1.16. किरातार्जुनीय के प्रथम सर्ग की कथा-

किरातार्जुनीय का प्रथम सर्ग महाकवि भारवि के अर्थगौरव, उनकी वर्णन क्षमता तथा राजनीतिक ज्ञान का सर्वोत्तम निदर्शन है। प्रथम सर्ग में कवि ने दो प्रमुख बिन्दुओं पर विचार किया है। वनेचर के द्वारा दुर्योधन के शासन प्रबन्ध का ज्ञान तथा युधिष्ठिर से वृत्तान्त जानने के बाद द्रौपदी की प्रतिक्रिया।

1.16.1. प्रथम सर्ग का आरम्भ महाराज युधिष्ठिर द्वारा दुर्योधन की प्रजाविषयक नीति को जानने के लिए भेजे गये गुप्तचर के आगमन के साथ होता है। द्यूतक्रीड़ा में पराजित होने के पश्चात् राज्य से भ्रष्ट युधिष्ठिर बारह वर्ष की वनवास की अवधि को व्यतीत करने के लिए द्रौपदी और अनुजों के साथ द्वैतवन में निवास कर रहे हैं। सर्वप्रथम भारवि ने वनेचर के माध्यम से 'चारचक्षु' राजाओं को सतर्क किया है कि वे गुप्तचरों से प्रिय और मनोहारी सुनने की अभिकांक्षा करने की अपेक्षा हितकर सत्य को सुनना अधिक श्रेयस्कर समझें। एक तो हितैषी व्यक्ति को स्वतः ही प्रिय मिथ्या कथन नहीं कहना चाहेगा, क्योंकि 'चारचक्षु' राजगण अपने सेवकों के द्वारा ठगे नहीं जाने चाहिए, परन्तु राजाओं को भी अप्रिय सत्य को सुनकर दूत के प्रति क्रोध कभी नहीं करना चाहिए, इसीलिए वनेचर 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः' कहने के पूर्व युधिष्ठिर से क्षमा याचना कर लेता है। राजाओं के 'निसर्गदुर्बोधचरित और निगूढतत्त्व नयवर्त्म' को वनेचर युधिष्ठिर के सम्पर्क में रहने के कारण समझ सका। सम्प्रति दुर्योधन कुरु प्रदेश पर राज्य कर रहा है और पाण्डव वन में वास कर रहे हैं ऐसा जानते हुए भी वह दिन–रात पाण्डवों से भयभीत रहता है। 'दुरोदर छद्मजित, पृथ्वी को वह सम्प्रति न्याय से जीतना चाहता है। इसके लिए अपने आन्तरिक शत्रुओं (काम, क्रोधादि षड् रिपु) को जीतकर रात–दिन के कार्यों का विभाजन करके योजनाबद्ध रीति से अपने पौरुष का विस्तार कर रहा है। अपनी इस अभिकांक्षा की पूर्ति के लिए दुर्योधन ने सारे कुरु प्रदेश में नहर आदि का सुन्दर प्रबन्ध करके 'अदेवमातृक' बना दिया है जिससे कुरु प्रदेश अनायास ही समृद्धि को प्राप्त कर रहा है। दुर्योधन अपने अनुजीवियों से मित्रवत्, मित्रों से बन्धुवत् और बन्धुओं के स्वामी सदृश व्यवहार कर रहा है। अपने नवयौवन सम्पन्न अनुज दुश्शासन को युवराज पद पर अभिषिक्त कर, स्वयं पुरोहित के आदेशानुसार यज्ञादि धार्मिक अनुष्ठानों में संलग्न है। समपक्षपात बुद्धि से धर्म, अर्थ, काम का सेवन करने के कारण उसके ये त्रिगुण परस्पर को बाधित नहीं करते। दुर्योधन प्रसन्न होने पर केवल मधुर वचनों का प्रयोग नहीं करता अपितु साथ में दान भी देता है, दान भी सत्कार के साथ देता है और सत्कार भी गुणी व्यक्ति का करता है। उसकी न्यायव्यवस्था सबसे लिए तुल्य है चाहे वह शत्रु हो अथवा उसका अपना पुत्र "रिपौ सुतेऽपि वा निहन्ति दण्डेन स धर्मविप्लवम्।" उसे यह भली–भाँति ज्ञात है कि किस कार्य की सिद्धि के लिए कौन से उपाय प्रयुक्त किये जाने चाहिए। उपायों के समुचित प्रयोग के कारण उसकी सम्पत्ति दिन–दूनी, रात चौगुनी बढ़ती जा रही है। उपहार देने वाले राजाओं से उसका आँगन भरा रहता है। सौंपे गये कार्य के पूर्ण होने पर वह सेवकों को प्रभूत धन प्रदान कर अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है- 'कृतज्ञतामस्य वदन्ति सम्पदः।' प्रजापालन में तत्पर दुर्योधन ने सिंचाई की समुचित व्यवस्था करके किसानों की दैव निर्भरता को समाप्त कर दिया है जिससे प्रभूत अन्न उत्पन्न हो रहा है, प्रजा सुखी और सन्तुष्ट है। उसने अपने और दूसरे के राज्यों में दूतों का जाल बिछा रखा है। वह दूसरे के रहस्यों को भली–भाँति जानता है, किन्तु उसकी योजनाओं का ज्ञान तभी होता है जब वे कार्यरूप में परिणत हो जाती है। न तो उसे क्रोध करने की आवश्यकता होती है न धनुष उठाने की, फिर भी अधीनस्थ नृपतिगण उसके इतने वशवर्ती हैं कि रात–दिन उसके आदेश के अनुपालन के लिए लालायित रहते हैं – 'उह्यते नराधिपैर्माल्यमिवानुशासनम्।" सैनिक उसे इतना मानते हैं कि अपने प्राण देकर भी उसकी सिद्धि चाहते हैं- 'प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम्।" भूमण्डल का शासन करता हुआ भी वह दुर्योधन आपसे आने वाली विपत्तियों की चिन्ता करता ही रहता है और वार्तालाप के प्रसङ्ग मे आपका नाम आ जाने पर अर्जुन के पराक्रम का स्मरण करता हुआ वह दुःखी हो जाता है। वह दूत कहता है कि कपट–परायण उस दुर्योधन के प्रति समुचित प्रतिकार कीजिये। इस प्रकार दुर्योधन के सुन्दर शासन–प्रबन्ध और वैभवोत्कर्ष का कथन कर वनेचर के पुरस्कार प्राप्त कर चले जाने के पश्चात् युधिष्ठिर ने द्रौपदी के भवन में प्रविष्ट हो भाईयों के समक्ष सम्पूर्ण वृत्तान्त को बताया।

1.16.2. द्रौपदी शत्रु दुर्योधन के अभ्युत्थान की कथा युधिष्ठिर से सुनकर सहन नहीं कर पाती है, स्त्रियोचित मर्यादा का बाँध टूट जाता है और वह उलाहना और व्यङ्ग्य बाणों का आश्रय लेकर अपनी अन्तर्वेदना युधिष्ठिर के समक्ष प्रस्तुत करती है । यद्यपि उसे अपनी विवशता और सीमा का बोध है, क्योंकि

युधिष्ठिर जैसे व्यक्ति को कर्त्तव्योपदेश की शिक्षा देना उनको अपमानित करने के तुल्य है– "भवादृशेषु प्रमदाजनोदितं भवत्यधिक्षेप इवानुशासनम्।" फिर भी उसकी मानसिक व्यथा उसे कहने के लिए बाध्य कर रही है–"तथापि वक्तुं व्यवसाययन्ति मां निरस्तनारीसमया दुराधयः।"

वह युधिष्ठिर को उलाहना देती है कि उन्होने अपनी मनोरमा, सुन्दरी, सद्वंशोत्पन्न प्रियतमा की भाँति ही साम्राज्य लक्ष्मी को भी गवाँ दिया और इस कुचक्र के वे स्वयम् उत्तरदायी हैं, क्योंकि यदि वे द्यूतव्यसनी न होते तो यह स्थिति आती ही क्यों?–

"गुणानुरक्तामनुरक्तसाधनः कुलाभिमानी कुलजां नराधिपः।
परैस्त्वदन्यः क इवापहारयेन्मनोरमामात्मवधूमिव श्रियम्॥"

संसार में निष्फल क्रोध वाले व्यक्ति की अनुकूलता या प्रतिकूलता का कोई मूल्य नहीं है, क्योंकि न मित्र उसका सम्मान करते हैं और न शत्रु उससे डरते हैं। वे मूर्ख व्यक्ति अवश्य ही पराभव को प्राप्त करते हैं जो शठ के साथ शठता का व्यवहार नहीं करते, क्योंकि जैसे तीखे बाण कञ्चुकविहीन योद्धा को बेंध डालते हैं वैसे ही सीधे–साधे व्यक्तियों का साहचर्य करके, उनके रहस्य को जानकर अन्ततः वे शठ उन्हें मार डालते हैं–

"व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः॥"

वह अपने पूर्व वैभव और इस समय की दुर्दशा की तुलना करते हुए कहती है– विशाल रथ पर चलने वाला महारथी भीम अब पैदल पर्वतों में भटक रहा है, इन्द्र के समान पराक्रमी अर्जुन की शक्ति का उपयोग वल्कल एकत्र करने में हो रहा है, वनभूमि पर सोने के कारण कठोर शरीर वाले तथा चारों ओर केशों से भरे हुए नकुल और सहदेव दो पहाड़ी हाथियों की तरह इधर–उधर घूम रहे हैं। वह युधिष्ठिर से कहती है कि इन सबकी दुर्दशा देखकर क्या शत्रु के प्रति आपकी क्रोधाग्नि नहीं भड़कती? आपकी विपत्ति को देखकर मेरा ह्रदय फटा जा रहा है। महाराजा युधिष्ठिर जो बहुमूल्य शय्या पर सोते थे और ब्राह्म बेला में चारणों की मङ्गल स्तुतियों से आँखें खोलते थे आज कुशों से परिव्याप्त भूमि पर शयन करके शृगालियों के अशुभ शब्द से जगाये जाते हैं। दानादि के अभाव में शरीर के साथ यश भी क्षीणता को प्राप्त हो रहा है। मणिमय पादपीठ पर विद्यमान रहने वाले जिन चरणों को सामन्त राजाओं के सिर पर स्थित पुष्पमालाओं का पराग रंग देता था, वे ही चरण कुश–काननों में भटकते रहते हैं। यह दुर्दशा दैवकृत होती तो सह्य होती किन्तु शत्रुकृत होने से यह सही नही जा रही है। वह युधिष्ठिर को प्रेरित करती है कि वे निरुपाय होकर शान्ति का आश्रय न लें अपितु शत्रु के विनाश के लिए क्षात्र तेज को पुनः धारण करें, क्योंकि मुनियों की सिद्धि शान्ति के अधीन है, राजाओं की नहीं। तेजस्वियों में अग्रणी और यश को ही सर्वस्व मानने वाले यदि युधिष्ठिर जैसे व्यक्ति भी शत्रुकृत असह्य अपमान को चुपचाप सह लेंगे तो आश्रयहीन होकर मनस्विता नष्ट हो जायेगी। वह कहती है कि यदि आप शान्ति को ही सुख का साधन मानते हैं तो राजाओं के चिह्न धनुष को त्याग कर जटा को धारण कर द्वैतवन में ही रहकर हवन कीजिये। विजयाभिलाषी राजा तो शत्रु के साथ की गयी सन्धि में दोष दिखाकर उसे तोड़ देते हैं। अतः शत्रुओं के अपकार में तत्पर रहने पर आपका प्रतिज्ञा पालन युक्त नहीं। इस प्रकार अपने अन्तस्ताप को युधिष्ठिर पर प्रकट करने के उपरान्त वह इस विपत्ति के लिए विधि और काल नियोग को कारण मानकर महाराज युधिष्ठिर के अभ्युदय की कामना करती है–

"रिपुतिमिरमुदस्योदीयमानं दिनादौ,
दिनकृतमिव लक्ष्मीस्त्वां समभ्येतु भूयः॥'

बोध प्रश्न

---

13. शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार का नियामक हेतु क्या है, एक वाक्य में उत्तर दीजिये।
14. किरातार्जुनीय के प्रथम सर्ग में किस छन्द का प्रयोग है? उसका लक्षण तथा उदाहरण लिखिये।
15. साहित्यदर्पणकार ने वीर के कितने भेद माने हैं? किरातार्जुनीय का नायक किस कोटि का वीर है।

16. वीर रस का स्थायी भाव है–

(क) रति ()

(ख) क्रोध ()

(ग) उत्साह ()

(घ) बीभत्स ()

17. निम्नलिखित स्थायी भाव का उचित रस से मिलान कीजिये–

(क) रति	(क) शान्त
(ख) हास	(ख) करुण
(ग) शोक	(ग) रौद्र
(घ) क्रोध	(घ) वीर
(ङ) उत्साह	(ङ) शृङ्गार
(च) भय	(च) अद्भुत्
(छ) जुगुप्सा	(छ) भयानक
(ज) विस्मय	(ज) बीभत्स
(झ) निर्वेद	(झ) हास्य

18. अलङ्कार के अलङ्कारत्व के नियामक तत्त्व क्या है, 150 शब्दों में संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।

अभ्यास

1. किरातार्जुनीय के प्रथम सर्ग की कथा अपने शब्दों में लिखिये।
2. भारवि ने शैली में किन गुणों को आवश्यक माना है, 250 शब्दों में टिप्पणी लिखिये।

1.17. किरातार्जुनीय के प्रथमसर्ग की सूक्तियाँ

(1) न हि प्रियं प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः

(2) हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः

(3) सदानुकूलेषु हि कुर्वते रतिं नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः

(4) वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः

(5) गुणानुरोधेन विना न सत्क्रिया

(6) अहो! दुरन्ता बलवद्विरोधिता

(7) व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।

(8) अबन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः।

(9) अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जात हार्देन न विद्विषादरः।

(10) विचित्ररूपा खलु चित्तवृत्तयः

(11) परैपर्य्यासितवीर्य्यसम्पदां पराभवोऽप्युत्सव एव मानिनाम

(12) शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः

(13) निराश्रया हन्त! हता मनस्विता।

व्याख्यात्मक अध्ययन से सम्बन्धित पाँच इकाइयाँ

1. उद्देश्य
2. प्रस्तावना
3. प्रथम सर्ग के सभी श्लोकों (1-46) की व्याख्या
4. उपयोगी पुस्तकें
5. बोध प्रश्नों के उत्तर

2.1 उद्देश्य–

किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के प्रथम सर्ग के सभी श्लोकों के अर्थ का ज्ञान प्राप्त करना, उनमें निगूहित अर्थ को सम्यक् प्रकार से समझना, तद्गत समास, व्याकरण, अलङ्कार, छन्द आदि का बोध प्राप्त करना।

2.2 प्रस्तावना

महाकवि भारवि प्रणीत किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के प्रथम सर्ग के सभी श्लोकों को व्याख्यायित किया गया है। किसी भी श्लोक की व्याख्या करने के पूर्व आपको निम्नलिखित क्रम ध्यान में रखना चाहिए। चूँकि आपके पाठ्यक्रम में अनेक पुस्तकें हैं, अतः प्रश्न-पत्र में पूर्व निर्धारित अलग-अलग पुस्तकों से श्लोक व्याख्या के लिए आयेंगे। अतः जिस श्लोक की आप व्याख्या करेंगे सर्वप्रथम आपको 'सन्दर्भ' देना चाहिए कि यह श्लोक किस पाठ्य पुस्तक से सम्बद्ध है और उसके रचयिता कौन हैं? यथा किरातार्जुनीयम् के श्लोक के लिए आप लिखेंगे–'प्रस्तुत श्लोक हमारी पाठ्य पुस्तक महाकवि भारवि द्वारा रचित 'किरातार्जुनीयम्' के प्रथम सर्ग से उद्धृत है।

इसके बाद आप प्रसङ्ग लिखेंगे अर्थात् प्रकृत श्लोक किस प्रसङ्ग में कहा गया है, किसने कहा है, किससे कहा है आदि। यदि किसी पूर्व विवरण के बीच में यह श्लोक आ रहा हो तो उस बात का स्पष्ट निर्देश करेंगे। उदाहरण के तौर पर प्रथम श्लोक के लिए प्रसङ्ग इस प्रकार देंगे–महाराज युधिष्ठिर द्यूतक्रीड़ा में कौरवों से पराजित होने के पश्चात्, शर्त के अनुरूप बारह वर्ष की वनवास की अवधि को व्यतीत करने के लिए अपने अनुजों (भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव) तथा पत्नी द्रौपदी के साथ द्वैतवन में निवास कर रहे थे। राज्यभ्रष्ट युधिष्ठिर ने पुनः राज्यप्राप्ति की अभिलाषा से प्रजाजनों के प्रति सिंहासनाधिरूढ़ दुर्योधन के व्यवहार को जानने के लिए गुप्तचर के रूप में एक वनेचर को कुरुप्रदेश भेजा था, क्योंकि प्रजापालन की नीति पर ही राजलक्ष्मी की प्रतिष्ठा है। इसीलिए महाराज युधिष्ठिर दुर्योधन की नीति जानने के लिए उत्सुक हैं। दुर्योधन के समस्त समाचार को जानकर वह वनेचर (गुप्तचर) द्वैतवन में वापस आया, इस तथ्य को ही प्रकृत श्लोक में वर्णित किया गया है। इसी आधार पर अन्य पद्यों को पढ़ने के उपरान्त पूछे गये श्लोकों के प्रसङ्ग आप स्वयं लिखेंगे।

प्रसङ्ग के पश्चात् आप अन्वय लिखेंगे। पद्य छन्दों में निबन्धित किया जाता है। छन्द के लिए निश्चित वर्ण नियम है, अतः गद्य के समान कर्ता, कर्म, क्रिया आदि तथा इनके विशेषणों का क्रमशः वाक्य संरचना के रूप में कथन नहीं होता, उन्हें ही आपको क्रमशः वाक्य संरचना के रूप में देना है जिसे आप अन्वय कहेंगे। अन्वय का अर्थ है सम्बन्ध, श्लोकस्थ पदों को इस रूप में नियोजित करें कि वाक्यार्थ सम्बद्ध हो जाये। अन्वय करने से आपको हर शब्द की सही स्थिति का ज्ञान हो जायेगा कि कौन किसका विशेषण है, कौन विशेष्य है, कौन सा पद क्रिया है, उस क्रिया के कौन से विशेषण हैं आदि।

अन्वय के अनन्तर आपको श्लोक का अनुवाद, फिर श्लोक की व्याख्या करनी है। प्रकृत पाठ्यक्रम में आपको प्रत्येक शब्द के अर्थ का ज्ञान हो जाये इसके लिए अन्वय के अनन्तर ही शब्दार्थ दिया गया है। परीक्षा में आपसे शब्दार्थ की अपेक्षा नहीं की जाती, क्योंकि अनुवाद में ही शब्दार्थ गतार्थ हो जाता है।

श्लोक की व्याख्या में कवि के विशिष्ट अभिप्राय वर्णित किये जाते हैं। कभी यह विशिष्ट अभिप्राय शब्द विशेष के माध्यम से अभिव्यक्त होता है, कभी क्रिया और उसके लकारों के माध्यम से, कभी विशेषणों के माध्यम से, कभी वक्ता और बोधव्य के सम्बन्ध के माध्यम से; कहने का तात्पर्य यह है कि कवि अपने अभिप्राय को व्यञ्जित करने के लिए कब, किस तथ्य का आश्रय लेगा यह पहले से निर्धारित नहीं होता, उस पद्य विशेष को ध्यान से पढ़कर ही समझा जा सकता है। बार-बार पढ़ने से संस्कार दृढ़ होते हैं और अर्थस्फुरण की सामर्थ्य आती है। इसी संस्कार सम्पन्न व्यक्ति को संस्कृत में 'सहृदय' शब्द से अभिहित किया गया है, जिनके लिए अभिनवगुप्त ने कहा है–"येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशात् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः।" प्रकृत व्याख्या में कवि के विशिष्ट अभिप्रायों को समझाने की चेष्टा की गयी है, उसे तद्-तद् व्याख्याओं में आप समझेंगे।

पद्य की व्याख्या के बाद श्लोक में प्रयुक्त समस्त पदों का विग्रह दिया गया है, व्याकरणात्मक टिप्पणी में शब्दों के प्रकृति, प्रत्यय आदि का निर्देश दिया गया है और उस विशिष्ट श्लोक में प्रयुक्त अलङ्कार, उसका लक्षण, छन्द तथा उसका लक्षण दिया गया है। यदि किसी अलङ्कार का या छन्द का बार-बार प्रयोग है तो लक्षण एक ही जगह दिया गया है। आप वहीं से उसे हृदयङ्गम करेंगे। प्रत्येक श्लोक के अन्त में कोश दिया गया है जिससे श्लोक में प्रयुक्त शब्द के पर्याय का आपको ज्ञान हो सकेगा।

1. **श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीं**
प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम्।
स वर्णिलिङ्गी विदितः समाययौ
युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः॥1॥

1.1 अन्वय–कुरूणाम् अधिपस्य श्रियः पालनीं प्रजासु वृत्तिं वेदितुम् यम् अयुङ्क्त, वर्णिलिङ्गी विदितः स वनेचरः द्वैतवने युधिष्ठिरं समाययौ।

1.2 शब्दार्थ–कुरूणाम्=कुरु देश के। अधिपस्य= राजा की (अर्थात् दुर्योधन) की; श्रियः=राजलक्ष्मी का, पालनीम्=पालन करने वाली, (प्रतिष्ठित करने वाली); प्रजासु वृत्तिम्=प्रजा के प्रति किये जाने वाले व्यवहार को, वेदितुम्=जानने के लिए, यम्=जिसको, अयुङ्क्त=नियुक्त किया था, वर्णिलिङ्गी=ब्रह्मचारी के वेष को धारण करने वाला, सः=वह, वनेचरः=वन में विचरण करने वाला (किरात), विदितः (सन्)=जानकर, युधिष्ठिरं=युधिष्ठिर के पास, समाययौ=आया।

1.3 अनुवाद–कुरु देश के अधिपति (दुर्योधन) की राजलक्ष्मी को पालन करने वाली प्रजा विषयक व्यापारं को जानने के लिए (युधिष्ठिर ने) जिसे नियुक्त किया था, ब्रह्मचारी वेष को धारण करने वाला (समस्त शत्रुविषयक) वृत्तान्त का ज्ञाता वह किरात द्वैववन में युधिष्ठिर के पास आया।

1.4 व्याख्या–कौरवों के साथ बारह वर्ष के वनवास की शर्त पर खेले गये द्यूतक्रीड़ा में पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर दुर्योधन के मामा शकुनि के द्वारा छलपूर्वक पराजित कर दिये गये। खेल की शर्त के अनुसार पराजित होने के कारण अपनी प्रतिज्ञा का पालन करते हुए भीमसेन आदि अपने अनुजों और पत्नी द्रौपदी के साथ द्वैत नामक वन में निवास करने लगे। महाभारत में उल्लिखित इसी कथा के सन्दर्भ का आश्रय लेकर महाकवि भारवि ने अपने महाकाव्य का आरम्भ किया है।

राज्यभ्रष्ट युधिष्ठिर ने पुनः राज्य-प्राप्ति की अभिलाषा से प्रजा के प्रति अचिराधिष्ठित दुर्योधन के व्यवहार को जानने के लिए ब्रह्मचारी के वेष को धारण करने वाले किरात को कुरुप्रदेश भेजा था। राजलक्ष्मी

की स्थिरता, प्रजा के प्रति राजा के व्यवहार पर आश्रित है। यदि राजा का प्रजा के प्रति व्यवहार युक्त नहीं है तो वह अधिक समय तक प्रजा पर शासन नहीं कर सकता। इसी भाव को 'श्रियः पालनीं प्रजासु वृत्तिम्' के द्वारा भारवि ने अभिव्यक्त किया है। सम्प्रति कुरुप्रदेश के अधिप (अधि पाति इति अधिपः) प्रजा की रक्षा में नियुक्त दुर्योधन की राजलक्ष्मी को योगक्षेम प्रदान करने वाले प्रजाविषयक व्यवहार को जानने के लिए युधिष्ठिर ने गुप्तचर को नियुक्त किया था। योग का तात्पर्य है–'अप्राप्तस्य प्राप्तिर्योगः।' क्षेम का तात्पर्य है–'प्राप्तस्य रक्षणं क्षेमः'। इसी भाव को यहाँ 'पालनीम्' पद के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। दुर्योधन की प्रजा पालन-सम्बन्धी नीति और प्रजा का दुर्योधन के प्रति कितना अनुराग है–इन तथ्यों को जानने के बाद ही युधिष्ठिर पुनः राज्य-प्राप्ति की दिशा में अपेक्षित प्रयत्न कर सकते थे।

वर्णिलिङ्गी=ब्रह्मचारी के वेष को धारण किया हुआ। वर्ण का अर्थ है प्रशस्ति, यह वर्ण या प्रशस्ति जिसके पास हो उसे वर्णी कहेंगे अर्थात् कामविकारों के अभाव से युक्त ब्रह्मचारी। 'वर्णः प्रशस्तिरस्यास्तीति वर्णी ब्रह्मचारी'। वस्तुतः मैथुन के अष्टविध भेद हैं–स्मरण, कीर्तन, केलि, प्रेक्षण, गुह्यभाषण, सङ्कल्प, अध्यवसाय और क्रियानिवृत्ति। ब्रह्मचारी में इसका विपर्यय (अभाव) पाया जाता है। अतः इन अष्टविध मैथुन का अभाव ही प्रशस्ति है। जैसा कि कहा गया है–

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च।।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्।।

वर्णी अर्थात् कामभावनाओं से दूर रहने वाले ब्रह्मचारी के चिह्न (लिङ्ग) को धारण करने वाला। ब्रह्मचारी के चिह्न से तात्पर्य है–वेष, जटा-जूट, मृगचर्म, कमण्डलु, वल्कलादि को धारण करने से; जिसका बाह्यरूप ब्रह्मचारी सा लग रहा हो अर्थात् बटुवेष को धारण किया हुआ व्यक्ति। इस तरह के उस वन में विचरण करने वाले किरात को जानने योग्य शत्रुविषयक वृत्तान्त ज्ञात हो गया। तब द्वैत नामक वन में द्वि अर्थात् शोक और मोह, इत अर्थात् गत, विलीन हो जहाँ उसे द्वीत कहेंगे द्वीतम् एवं द्वैतम्। ऐसे उस द्वैतवन में जहाँ युधिष्ठिर अपनी पत्नी और बन्धुओं के साथ स्थित थे ब्रह्मचारी वेशधारी वनेचर आया।

1.5 समास–वर्णोऽस्यास्तीति वर्णी, वर्णिनः लिङ्गमिति=वर्णिलिङ्गम्, वर्णिलिङ्गमस्यास्तीति वर्णिलिङ्गी। वने चरतीति वनेचरः। युधि स्थिरः इति युधिष्ठिरः। द्वैतं च तद्वनं इति द्वैतवनं तस्मिन् (कर्मधारय)।

1.6 व्याकरण–कुरूणाम् का तात्पर्य है कुरु संज्ञक राजा के निवास का स्थल। शब्दकल्पद्रुम के अनुसार "कुरुः धार्त्तराष्ट्रपाण्डवानां पूर्वपुरुषः। कुरु शब्द से षष्ठी बहुवचन का रूप कुरूणाम् बनता है। कुरु शब्द से 'तस्य निवासः' इस पाणिनीय सूत्र से अण् प्रत्यय कुरु+अण्, परन्तु इस अण् प्रत्यय का 'जनपदे लुप्' नियम से (निवास क्षेत्र यदि जनपद अर्थ में हो तो) अण् का लोप हो जाता है और 'लुपि युक्तवत् व्यक्तिवचने' से कुरु शब्द बहुवचन हो जाता है।

अधिपस्य=अधि+पा+कर्त्तरि क+षष्ठी एकवचन; श्रियः=श्री+क्विप्+षष्ठी एकवचन; पालनीम्=पाल्+ल्युट्+ङीप्+द्वितीया एकवचन; प्रजा=प्र+जन्+ड+टाप्; वृत्तिम्=वृत्+क्तिन् द्वितीया एकवचन; वेदितुम्=विद्+तुमुन्, अयुङ्क्त=युज्+लङ्+प्रथम पुरुष एकवचन; वर्णिलिङ्गी=वर्ण+इनि, लिङ्ग+इनि; विदितः=विद्+क्त+अच्; वनेचरः=वने+चर्+ट।

वनेचर शब्द की सिद्धि इस प्रकार होगी=वन ङि चर्+ट='चरेष्टः' सूत्र से ट प्रत्यय आया 'चुटू' सूत्र से (ट्+अ) टकार का लोप=वन ङि चर्+अ='कृत्तद्धितसमासाश्च' से यह कृदन्त प्रत्यय का स्थल है अतः इसकी प्रातिपदिक संज्ञा और 'सुपोधातुप्रातिपदिकयोः' से प्रातिपदिक के अवयव सुप्=ङि के लोप की प्राप्ति होती है, जैसे कुरुषु चरति इति कुरुचरः बनता है वैसे ही यहाँ पर भी वनचरः रूप बनता; किन्तु कृत्प्रत्ययान्त

शब्द यदि परे हो (यथा यहाँ कृत् चर परे है) तो 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' सूत्र से विकल्पतः सप्तमी विभक्ति 'ङि' का लोप नहीं होता। प्रकृत में तत्पुरुष समास का स्थल होने से विकल्पतः सप्तमी विभक्ति का लोप न होने के कारण वनेचरः रूप बना।

द्वि+इतम् (इ+क्त=इत)=द्वीतम्, द्वीतम् एव द्वैतम्=द्वीत+अण्+द्वैतम्

युध्+ङि+स्थिर+सु=यहाँ पर भी पूर्ववत् प्रातिपदिक के अवयव सुप् के लोप की प्राप्ति होने पर 'हलन्तात् सप्तम्याः अलुक्' सूत्र से यहाँ भी हलन्त से परे सप्तमी का लोप नहीं हुआ। युध् ङि स्थिर='गवियुधिभ्यां स्थिरः' सूत्र से स्थिर के सकार को षत्व हो गया और षकार के योग से थकार को ठकार होकर युधिष्ठिरः रूप बना। सम्+आ+या+लिट्=समाययौ।

1.7 अलङ्कार–प्रस्तुत श्लोक में 'पालनीम्' एवं 'प्रजासु' में प की, 'वृत्तिम्' एवं 'वेदितुम्' में व की, वर्णिलिङ्गी और विदितः में व की तथा वने-वनेचरः में 'वने' की आवृत्ति होने से वृत्यनुप्रास अलङ्कार है। अनुप्रास अलङ्कार का लक्षण है–'अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्' अनुप्रास अलङ्कार वहां होता है जहाँ स्वरों की सदृशता न होने पर भी व्यञ्जन का सादृश्य हो। अनुप्रास के साहित्यदर्पण के अनुसार पाँच भेद हैं, उनमें से वृत्त्यनुप्रास का लक्षण इस प्रकार है–

अनेकस्येकधा साम्यमसकृद्वाप्यनेकधा।
एकस्य सकृदप्येष वृत्त्यनुप्रास उच्यते।।

जहाँ अनेक व्यञ्जनों की एक प्रकार की अर्थात् स्वरूपतः समानता हो अथवा अनेक व्यञ्जनों की अनेक बार अर्थात् स्वरूपतः और क्रमतः आवृत्ति हो या एक वर्ण की एक बार किंवा अनेक बार आवृत्ति हो उसे वृत्त्यनुप्रास कहेंगे।

1.8 छन्द–किरातार्जुनीयम् के प्रथम सर्ग के प्रथम से 44वें श्लोक तक वंशस्थ छन्द है। वंशस्थ छन्द का लक्षण है–'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' अर्थात् जिस छन्द में जगण, तगण, जगण और रगण क्रमशः आये उसे वंशस्थ कहते हैं।

छन्द के प्रकरण में आपने दो प्रकार के छन्द पढ़े हैं वर्णिक एवं मात्रिक। वंशस्थ वर्णिक छन्द है। वर्णिक छन्द में वर्णों का निर्धारण गणों के आधार पर होता है, तीन-तीन अक्षरों के समूह से गण बनते हैं। ये गण आठ हैं जिन्हें इस प्रकार समझा जा सकता है।

आदिमध्यावसानेषु भजसा यान्ति गौरवम्।
यरता लाघवं यान्ति मनौ तु गुरुलाघवम्।।

आदि, मध्य और अन्त में भगण, जगण और सगण क्रमशः गुरु होते हैं, ऐसे ही आदि, मध्य और अन्त में यगण, रगण और तगण क्रमशः लघु होते हैं, मगण में सभी वर्ण गुरु होते हैं और नगण में सभी वर्ण लघु होते हैं। अब इसे प्रक्रिया में ऐसे देखा जा सकता, गुरु का चिह्न=ऽ, लघु का=। चिह्न होता है।

आदि गुरु भगण है = ऽ।।

मध्य गुरु जगण है = ।ऽ।

अन्त्य गुरु सगण है = ।।ऽ

आदि लघु यगण है = ।ऽऽ

मध्य लघु रगण है = ऽ।ऽ

अन्त्य लघु तगण है = ऽऽ।

सभी वर्णों के गुरु होने पर मगण = ऽऽऽ

सभी वर्णों के लघु होने पर नगण = ।।।

छन्द के सन्दर्भ में ह्रस्व के लिए लघु (।) और दीर्घ के लिए गुरु (ऽ) का चिह्न लगाया जाता है; किन्तु दीर्घ के अतिरिक्त भी कुछ वर्णों को गुरु माना गया है, जिसे यहाँ जान लेना अपेक्षित है, तभी श्लोकों में सही ढंग से गुरु, लघु का नियोजन हो सकेगा।

सानुस्वारश्च दीर्घश्च विसर्गश्च गुरुर्भवेत्।
वर्णः संयोगपूर्वश्च तथा पदान्तगोऽपि वा।।

दीर्घ तो गुरु होता ही है, अनुस्वारयुक्त (जैसे रामं में 'मं' गुरु है) विसर्गयुक्त (जैसे विष्णुः में 'ष्णुः' ह्रस्व उकार के होने के बाद भी गुरु है विसर्ग के कारण) तथा संयुक्ताक्षर से पूर्ववर्ती वर्ण भी गुरु होता है (जैसे विष्णुः में संयुक्ताक्षर ष्णु से पहले स्थित 'वि' ह्रस्व होने पर भी गुरु है)। यदि एक मात्रा की हानि (कमी) हो रही हो तो पदान्त वर्ण को विकल्पतः गुरु मानकर पादपूर्ति कर ली जाती है। अब उक्त छन्द के नियमों को ध्यान में रखकर प्रस्तुत श्लोक के प्रथम चरण में पहले लघु-गुरु के चिह्न लगायेंगे, तदनन्तर उस पर गण नाम लिखकर छन्द का लक्षण घटित करेंगे।

जगण	त	ज	र
।ऽ।	ऽऽ।	।ऽ।	ऽ।ऽ
श्रियः	कुरूणामधिपस्य		पालनीं=12

वंशस्थ छन्द के प्रत्येक चरण में 12 अक्षर होते हैं। यतः यह समवर्ण वृत्त है, इसलिए इसके प्रत्येक चरण में वर्णों का क्रम यही रहेगा।

1.9 **विशेष**–(i) यह श्लोक किरातार्जुनीयम् महाकाव्य का प्रथम श्लोक है। अतः कवि ने ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए मङ्गलवाचक 'श्री' पद का प्रयोग किया है। यह मङ्गल तीन प्रकार का माना गया है– "आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्।" अर्थात् (1) आशीर्वादात्मक (जैसे अभिज्ञानशाकुन्तल में), 2. नमस्कारात्मक (जैसे रघुवंश में) तथा 3. वस्तुनिर्देशात्मक (जिसमें कथावस्तु का निर्देश विद्यमान रहता है जैसे किरातार्जुनीय तथा शिशुपालवध आदि में है।) महाकवि भारवि द्वारा इस प्रथम लोक में कथावस्तु का सङ्केत होने से यह महाकाव्य का वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण है। आचार्यों द्वारा कथित है कि मङ्गल पाठ ग्रन्थ के आदि, मध्य और अन्त में होना भी आवश्यक है–"मङ्गलादीनि, मङ्गलमध्यानि, मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते।" इसी मङ्गलान्तता के निर्वहन के लिये भारवि ने प्रत्येक सर्ग के अन्त में 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग किया है। (ii) इस ग्रन्थ का प्रारम्भ जगण (।ऽ।) से हुआ है। जगण का देवता 'अर्क' तथा फल 'रोग' माना गया है। अतः ग्रन्थ के आरम्भ में इसका प्रयोग उचित न था। इस शङ्का का समाधान इस प्रकार हो जाता है कि यहाँ 'श्री शब्द राजलक्ष्मी का वाचक होने से मङ्गलवाचक है, अतः निर्दोष है। जैसा कि कहा भी गया है–

देवतावाचकाः शब्दाः ये च भद्रादिवाचकाः।
ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिपितो गणतोऽपि वा।।

1.10 **कोश**–लक्ष्मीः पद्मलया पद्मा कमला श्रीर्हरिप्रिया इत्यमरः। 'कुरुवर्षकुरुश्चन्द्र वंशीयोऽपि नृपः कुरुः।' 'अधिभूर्नायको नेता प्रभुः परिवृढोऽधिपः' इत्यमरः। 'प्रजा स्यात्सन्ततौ जने' इत्यमरः।

2. **कृतप्रणामस्य महीं महीभुजे**
जितां सपत्नेन निवेदयिष्यतः।
न विव्यथे तस्य मनो न हि प्रियं
प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः॥2॥

अन्वय–कृतप्रणानस्य, सपत्नेन जितां महीं महीभुजे निवेदयिष्यतः तस्य मनः न विव्यथे। हि हितैषिणः मृषा प्रियं प्रवक्तुं न इच्छन्ति।

शब्दार्थ–कृतप्रणामस्य=कर लिया है प्रणाम जिसने। सपत्नेन=शत्रु द्वारा। जितां महीम्=जीती हुई पृथ्वी को। महीभुजे=महाराज (युधिष्ठिर के लिए) को। निवेदयिष्यतः=निवेदन करते हुए। तस्य मनः=उसका मन। न विव्यथे=व्यथित (दुःखित) नहीं हुआ। हि=क्योंकि। हितैषिणः=हित (कल्याण) की अभिलाषा करने वाले। मृषा=असत्य। प्रियम्=प्रिय या अच्छी लगने वाली (वाणी) को। प्रवक्तुम्=कहने के लिए। न इच्छन्ति=इच्छा नहीं करते हैं।

अनुवाद–प्रणाम क्रिया से निवृत्त, शत्रु (दुर्योधन) द्वारा जीत ली गयी पृथ्वी (राज्य) के वृत्तान्त को राजा (युधिष्ठिर) से कहते हुए उस (वनेचर) का मन व्यथित नहीं हुआ, क्योंकि कल्याण की अभिलाषा करने वाले लोग असत्य मधुर वचन बोलने की इच्छा नहीं करते हैं।

व्याख्या–युधिष्ठिर के द्वारा यह वनेचर दुर्योधन की राजलक्ष्मी का पालन करने वाली प्रजाविषयक नीति को जानने के लिए कुरुप्रदेश भेजा गया था और वटु वेष में गुप्त रूप से विचरण करते हुए उसने उन तथ्यों को सम्यक् रूप से जान लिया, यह बात पूर्व श्लोक में 'विदितः' के द्वारा कही जा चुकी है। अतः दुर्योधन के द्वारा समस्त प्रजा के हित के लिए या सुख के लिए जो भी शोभन या अशोभन व्यवहार किये गये हैं उन सबको जानकर यह वनेचर द्वैतवन में आया है। आने के उपरान्त उसके द्वारा सर्वप्रथम महाराज युधिष्ठिर के प्रति शिष्टाचार का निर्वाह करते हुए प्रणाम किया गया। इस प्रकार उपचार से युक्त विनयशील उस वनेचर ने (पहले द्यूतक्रीड़ा रूप कपट द्वारा और सम्प्रति नीति से) शत्रु द्वारा जीती गयी पृथ्वी के सम्बन्ध में राजा युधिष्ठिर से निवेदित किया। निवेदन करते हुए उसका मन व्यथित नहीं हुआ। वस्तुतः शत्रु का उत्कर्ष कथन आत्मीय जन के मन को दुःखित कर देता है, परन्तु ऐसा नहीं है कि यह वनेचर युधिष्ठिर का आत्मीय नहीं है; किन्तु वह जिस कार्य के लिए नियुक्त किया गया था उस कार्य का सम्यक् रीति से परिपालन ही उसका प्रथम कर्त्तव्य है। इसीलिए कवि भारवि मन के व्यथित न होने के हेतु को आगे बताते हैं कि हित चाहने वाले लोग असत्य प्रिय लगने वाली बात को प्रकृष्ट रूप से कहने के लिए इच्छा नहीं करते। हितैषी व्यक्ति यथार्थ कहता है, वह यथार्थ बात अप्रिय लगेगी यह सोचकर असत्य नहीं बोलता, क्योंकि यदि बात प्रिय हो; किन्तु असत्य हो तो वह उपकारक नहीं होगी, इसलिए हितैषी प्रिय असत्य नहीं बोलते। यह वनेचर युधिष्ठिर का हितैषी है अतः सभी प्रकार से स्वामी के हित की सिद्धि ही उसका परम प्रयोजन है।

नीतिवाक्यामृत में गुप्तचर के निम्नलिखित गुण कहे गये हैं–'अमौढ्यामान्द्यममृषाभाषित्वमभ्यूहकत्वं चेति चारगुणाः' अर्थात् (मूढ़ता का अभाव) चतुरता, (मन्द्यता का अभाव) स्फूर्ति, सत्यवादिता और तर्क–ये गुप्तचर में अवश्य होने चाहिए। यहाँ उसके सत्यवादित्य का ज्ञान हो रहा है। वस्तुतः हितकर और मनोहारी इन दोनों चीजों का युगपद् होना अत्यन्त दुष्कर है 'हितं मनोहरि च दुर्लभं वचः' (किरात, 1.4)। किन्तु यहां वनेचर ने मनोहारित्व की अपेक्षा बात हितकर हो इस तथ्य पर अधिक ध्यान दिया है।

समास–कृतप्रणामस्य=कृतः प्रणामः येन सः तस्य (बहुव्रीहि); महीभुजे=महीं भुनक्ति इति महीभुक्, तस्मै (चतुर्थी एकवचन); हितैषिणः = हितम् इच्छन्ति तच्छीलाः इति।

व्याकरण–कृतः = कृ+क्त; प्रणामः=प्र+नम्+घञ्; महीभुजे=मही+भुज्+क्विप्+च.वि.ए.व., निवेदयिष्यतः=नि+विद्+णिच्+लृट्+शतृ प्रत्यय, षष्ठी एकवचन; विव्यथे=व्यथ्+लिट् प्र.पु.ए.व. हितैषिणः=हित+इष्+णिनि प्र.वि. बहुवचन; प्रवक्तुम्=प्र+वच्+तुमुन्; इच्छन्ति=इष्+लट् प्र.पु. बहुवचन।

अलङ्कार–प्रस्तुत श्लोक में प्रथम तीन पंक्तियों में एक विशेष कथन का उपन्यास किया गया है और चौथी पंक्ति में विद्यमान एक सामान्य कथन से उसका समर्थन किया गया है, फलतः यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है। जिसका लक्षण इस प्रकार है–

सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा।।

महीं महीभुजे में व्यञ्जनसमूह की एक बार आवृत्ति होने से छेकानुप्रास है।

छन्द–वंशस्थ है।

कोश–गोत्रा कुः पृथिवी पृथ्वी क्ष्माऽवनिर्मेदिनी मही इत्यमरः। पार्थिवो भूपतिर्भूपो महीभुक् क्ष्मापतिर्नृपः इत्यमरः। 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' इत्यमरः। चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः इत्यमरः। मृषा मिथ्या तु वितथे इत्यमरः। हि हेतौ अवधारणे।

3. **द्विषां विघाताय विधातुमिच्छतो**
रहस्यनुज्ञामधिगम्य भूभृतः।
स सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीं
विनिश्चितार्थामिति वाचमाददे॥3॥

अन्वय–द्विषां विघाताय विधातुम् इच्छतः भूभृतः अनुज्ञाम् अधिगम्य स रहसि सौष्ठवौदार्य- विशेषशालिनी विनिश्चितार्थाम् इति वाचम् आददे।

शब्दार्थ–द्विषां = शत्रुओं के (दुर्योधनादि कौरवों के), विघाताय=विनाश के लिए, विधातुम्=प्रयत्न करने के लिए। इच्छतः=इच्छा करते हुए, भूभृतः=राजा (युधिष्ठिर) की, अनुज्ञाम्=आज्ञा को, अधिगम्य=प्राप्त करके, सः=वह (वनेचर), रहसि=एकान्त में, सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीम्=सौष्ठव (शब्द के सौन्दर्य), औदार्य (अर्थगाम्भीर्य) के अतिशय से विभूषित (वाणी) को, विनिश्चितार्थाम्=विशेष रूप से निश्चित अभिप्राय वाली, वाचम्=वाणी को, इति आददे=इस प्रकार बोला।

अनुवाद–शत्रुओं (दुर्योधनादि) का विनाश करने के लिए उद्योग (प्रयत्न) करने की इच्छा वाले महाराज (युधिष्ठिर) की अनुमति प्राप्त करके उस वनेचर ने एकान्त में सौष्ठव (शब्द सौन्दर्य) एवं औदार्य (अर्थगाम्भीर्य) के अतिशय से विभूषित तथा विनिश्चित अर्थ वाली वाणी को इस प्रकार कहा।

व्याख्या–दुर्योधन ने द्यूतक्रीड़ा के द्वारा जिस राज्य को छल से प्राप्त किया था, अधुना उसे नीति के द्वारा दृढ़ मूल् करना चाह रहा है। दुर्योधन की उन्हीं प्रजा विषयक नीतियों के ज्ञान के लिए युधिष्ठिर ने वनेचर को नियुक्त किया था। ऐसा करने के पीछे युधिष्ठिर का मन्तव्य है दुर्योधनादि शत्रुओं का विनाश करने के लिए प्रयत्न करने की अभिलाषा। भूभृत् शब्द का प्रयोग युधिष्ठिर के लिए किया गया है 'भुवं पृथ्वीं बिभर्ति पलायति इति भूभृत् तस्य भूभृतः' भूमि का पालन करने वाले अर्थात् राजा। वस्तुतः युधिष्ठिर वर्तमान में राजा नहीं है, वे तो बारह वर्ष की वनवास की अवधि व्यतीत कर रहे हैं; किन्तु उपचारतः उन्हें राजपद से सम्बोधित किया जा रहा है। यदि छल से उनका राज्य नहीं लिया गया होता तो वास्तविक राजा वे ही होते, इसीलिए छल करने वालों को शत्रुपद से अभिहित किया गया है। यहाँ 'भूभृतः' का विशेषण है–''द्विषां विघाताय विधातुमिच्छतः'। शत्रुओं का विनाश करने के लिए उद्योग की इच्छा वाले राजा से आज्ञा प्राप्त करके। 'अनुज्ञां अधिगम्य' के द्वारा पुनः दूत के शिष्टाचार को व्यञ्जित किया जा रहा है। 'अधिगम्य' में 'अधि' उपसर्ग के कारण 'क्त्वा' को ल्यप् हुआ है। 'क्त्वा' प्रत्यय के सम्बन्ध में नियम है कि 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले 'क्त्वा' अर्थात् यदि एकाधिक क्रियाओं को करने वाला एक ही कर्ता हो तो उसमें पूर्वकालवर्तिनी क्रियाओं से 'क्त्वा' प्रत्यय होगा। यहाँ 'क्त्वा' के द्वारा यह बताया जा रहा है कि वनेचर ने पहले आज्ञा ली तदनन्तर वचन कहा। 'वाचम्' का विशेषण है–''सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीं विनिश्चितार्थाम्'' सौष्ठव का अभिप्राय है–शब्दों की सुन्दरता, शब्द सामर्थ्य तथा औदार्य का अर्थ है अर्थ का गाम्भीर्य–इन दोनों विशेषताओं से युक्त तथा विशेष रूप से प्रमाणादि के द्वारा निर्णीत अर्थ वाली वाणी को कहा। पहले कहा जा चुका है कि 'प्रवक्तुमिच्छन्ति न मृषा हितैषिणः'। यदि वचन मृषा नहीं है, सत्य है तो उसे अवश्य प्रमाणपुरस्सर होना होगा इसे ही 'विनिश्चितार्थाम्' के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। प्रकृत स्थल पर भाषण के तीन गुणों का निदर्शन किया गया है–1. शब्दसौन्दर्य, 2. अर्थगाम्भीर्य, 3. अर्थविनिश्चय। वस्तुतः ये तीनों ही गुण भारवि के काव्य में भी प्रतिफलित हुए हैं।

समास–भुवं बिभर्ति इति भूभृत्, तस्य भूभृतः (उपपद समास); सुष्ठु भावः सौष्ठवम्; उदारस्य भावः औदार्यम्; सौष्ठवञ्च औदार्यञ्च इति सौष्ठवौदार्ये (इतरेतर द्वन्द्व समास); ताभ्यां विशेषेण; शालते तच्छीला इति सौष्ठवौदार्यशालिनी; ताम्=सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीम्।

यहाँ औदार्य शब्द के अजादि होने के कारण 'अजाद्यदन्तम्' सूत्र से उसके द्वन्द्व समास में पूर्व निपात की प्राप्ति होती है; किन्तु इस नियम का सर्वत्र व्यवहार नहीं होता यह काशिकाकार के इस कथन से स्पष्ट है –''अयमेव लक्षणहेत्वोरिति निर्देशः पूर्वनिपातव्यभिचार चिह्नम्' इति, जैसा कि मल्लिनाथ ने निर्देश किया है।

विशेषेण निश्चितः इति=विनिश्चितः, विनिश्चितः अर्थः यस्याः सा, विनिश्चितार्था, ताम्=विनिश्चितार्थाम्।

व्याकरण–द्विषां=द्विष्+क्विप्+षष्ठी बहुवचन (यहाँ द्विष् शब्द वस्तुतः विघात का कर्म है, किन्तु विघात शब्द कृदन्त है, अतः 'कर्तृकर्मणोः कृति' इस सूत्र से कृदन्त क्रिया का कर्त्ता या कृदन्तक्रिया का कर्म, कृदन्त क्रिया के साथ षष्ठी विभक्ति में होता है, इस नियम से कर्म 'द्विष्' में षष्ठी विभक्ति हुई।

विघाताय=वि+हन्+घञ् च. वि. ए.व., (प्रकृत स्थल में विघाताय का अभिप्रेतार्थ है ''विहन्तुम्' किन्तु 'भाववचनाश्च' सूत्र से, जिसका अर्थ है कि तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में भाववाच्य में धातु से घञ् प्रत्यय संयुक्त हो, तुमुन् के स्थान पर घञ् प्रत्यय हुआ है, और 'तुमर्थाच्च भाववचनात् (किसी धातु में तुमुन् प्रत्यय जोड़ने से जो अर्थ निकलता है, उसी अर्थ को प्रकट करने के लिए, उसी धातु से निष्पन्न भाववाचक संज्ञा का प्रयोग करने पर उससे चतुर्थी विभक्ति होती है) सूत्र से विघाताय में चतुर्थी विभक्ति हुई है।

विधातुम्=वि+धा+तुमुन्; इच्छतः=इष्+शतृ ष.वि.ए.व., भूभृतः = भू+भृञ्+क्विप्, ष.वि.ए.व., अनुज्ञाम्+अनु+ज्ञा+अङ् द्वितीया वि.ए.व., अधिगम्य=अधि+गम्+(क्त्वा) ल्यप्; रहसि=रम्+असुन् (रहस्) स. वि. ए. व.; सौष्ठवम्=सुष्ठु+घञ्; औदार्यम्=उदार+ष्यञ्; शालिनीम्=शाल्+णिनि+ङीप्।

आददे=आङ्+दा+लिट् प्र.पु.ए. व. ('आङो दोऽनास्य विहरणे' सूत्र से आङ् उपसर्ग के साथ दा धातु आत्मनेपदी तभी होती है जब उसका अर्थ मुँह फैलाना न हो। यहाँ आददे का तात्पर्य ग्रहण करने (लक्षणया कहने) से है।

छन्द–वंशस्थ।

अलङ्कार–तकार और वकार की आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास है।

कोश–रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः।

द्विड्विपक्षाहितामित्रदस्युशात्रवशत्रवः इत्यमरः।

'विविक्तविजनच्छन्ननिःशलाकास्तथा रहः' इत्यमरः। 'भूभृद्भूमिधरे नृपे' इत्यमरः।

4. **क्रियासु युक्तैर्नृप चारचक्षुषो**
न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः।
अतोऽर्हसि क्षन्तुमसाधु साधु वा
हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः॥4॥

अन्वय–नृप! क्रियासु युक्तैः अनुजीविभिः चारचक्षुषः प्रभवः न वञ्चनीयाः। अतः असाधु साधु वा क्षन्तुम् अर्हसि। हितं मनोहारि च वचः दुर्लभम्।

शब्दार्थ–नृप=हे राजन्, क्रियासु युक्तैः=कार्यों में नियोजित किये गये; अनुजीविभिः = सेवकों (अनुचरों) द्वारा; चारचक्षुषः=गुप्तचररूपी नेत्रों वाले; प्रभवः=स्वामी; न वञ्चनीयाः=नहीं ठगे जाने चाहिए। अतः=इस कारण से, असाधु=अप्रिय, असमीचीन; साधु=प्रिय, समीचीन; वा=अथवा, क्षन्तुम्=क्षमा करने के लिए, अर्हसि=योग्य हो। हितम्=कल्याणकर, मनोहारि=मन से अच्छा लगने वाला, चित्ताकर्षक; वचः=कथन, दुर्लभम्=कठिनता से मिलने वाला है।

अनुवाद–हे राजन्! कार्यों में नियोजित किये सेवकों के द्वारा, गुप्तचररूपी नेत्रों वाले स्वामी ठगे जाने के योग्य नहीं हैं। इस कारण से अप्रिय अथवा प्रिय (कथन) को (आप) सहन कर सकने के लिए समर्थ हो, क्योंकि कल्याणकर और चित्ताकर्षक कथन कठिनाई से प्राप्त होता है।

व्याख्या–युधिष्ठिर के द्वारा वनेचर दुर्योधन की राज्यलक्ष्मी का पालन करने वाली प्रजाविषयक नीति को जानने के लिए नियुक्त किया गया था। सम्प्रति समस्त वृत्तान्त को जानकर वह युधिष्ठिर से एकान्त में दुर्योधन की नीतियों के सम्बन्ध में कहना चाहता है। शत्रु की प्रशंसा किसी भी व्यक्ति को प्रिय नहीं लग सकती, परन्तु शत्रु के द्वारा अपनायी जाने वाली उत्कर्षाधायक नीतियों को यदि गुप्तचर यथार्थ रूप में युधिष्ठिर को नहीं बताता है तो ''द्विषां विघाताय विधातुमिच्छतः''–शत्रुओं के विनाश के लिए (उद्योग) प्रयत्न करने की इच्छा वाले राजा युधिष्ठिर अपनी योजना को सही रूप नहीं दे सकेंगे। इसीलिए वनेचर कह रहा है कि कार्यों में नियुक्त सेवकों के द्वारा गुप्तचररूपी नेत्रों वाले स्वामी नहीं ठगे जाने चाहिए। नेत्र प्रत्यक्ष ज्ञान का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन है। राज्य की व्यवस्था और नियमन के लिए राजा को अपने राज्य का वास्तविकज्ञान होना चाहिए। चूँकि वह शासन क्षेत्र में सर्वत्र गमन नहीं कर सकता, इस व्यावहारिक असमर्थता की पूर्ति गुप्तचरों के माध्यम से हो जाती है। इसीलिए गुप्तचर का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह यथार्थ (यथा+अर्थ) कथन करे, जैसा देख रहा है वैसा ही राजा से निवेदन करे। 'चारचक्षुषः'–प्रभवः का विशेषण है। 'प्रभु' कहते हैं–समर्थ को। (यदि व्यक्ति के पास आँख न हो तो जैसे अन्य सब कुछ के होने पर भी वह स्वयं को सामर्थ्यहीन समझने लगता है वैसे ही) यहाँ पर एक यह भी भाव व्यञ्जित है कि राजा का सामर्थ्य भी गुप्तचररूपी नेत्रों पर अवलम्बित है। जैसा कि नीतिवाक्यामृत में कहा गया है–'स्वपरमण्डले कार्याकार्यावलोकने चाराश्चक्षूंषि क्षितिपतीनाम्।' इसलिए विशेष उद्देश्य से विशेष कार्य में नियोजित सेवकों के द्वारा स्वामी को ठगा नहीं जाना चाहिए। सत्य वचन बोलने वाले भृत्य से ही स्वामी नयन वाला हो सकेगा। असत्य वचन वाले दूत से स्वामी अन्ध तुल्य ही होगा। जैसें अन्धा कूयें में गिर सकता है जैसे ही गुप्तचर के मिथ्या कथन से सेवित भूप शत्रुप्रपञ्चरूप कूप में गिर जायेगा। स्वामी की क्षणिक प्रसन्नता के लिए हितविमुख प्रिय बात नहीं बोलनी चाहिए। ठगा जाना युक्त नहीं है इस कारण से मेरे द्वारा (गुप्तचर किरात) प्रिय अथवा अप्रिय जो भी वचन कहा जा रहा है उसे आपके (युधिष्ठिर) द्वारा सहन किया जाना चाहिए। यदि वह अप्रिय भी लग रहा है तो भी सहना चाहिए, क्योंकि हितकारी तथा मनोहारी दोनों का एक साथ किसी कथन में रहना कठिन है। राज्य शासकों को केवल प्रिय सुनने का अभ्यास नहीं होना चाहिए। अर्थात् बात सुनने में भी अच्छी लगे और कल्याणप्रद भी हो, ऐसा दुर्लभ है।

वनेचर के कथन का अभिप्राय यह है कि कुरुप्रदेश में दुर्योधन के सन्दर्भ में उसने जो देखा है वह ज्यों का त्यों उसे युधिष्ठिर के समक्ष प्रस्तुत करेगा, चाहे वह बात युधिष्ठिर को प्रिय लगे या अप्रिय और उन कथनों के कारण वनेचर पर वे क्रोध न करें। इसीलिए कहा गया है–'अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः।

समास–चरन्तीति चराः, चराः एव चाराः, चाराः एवं चक्षूंषिः,येषां ते चारचक्षुषः (बहु); मनो हर्तुं शीलमस्त्येति मनोहारि (उपपद समास); नॄन् पाति इति नृप, अनुजीवितुं शीलम् एषाम् इति अनुजीविनः तैः अनुजीविभिः, प्रभवन्ति प्रकर्षेण वर्तन्ते इति प्रभवः, दुःखेन लभ्यते इति दुर्लभम्।

व्याकरण–नृप=नृ+पा+कः, युक्तैः=युज्+क्त+तृ.वि. बहुवचन; अनुजीविभिः=अनु+जीव्+णिनि+तृ.वि. बहुवचन; वञ्चनीयाः=वञ्च +णिच्+अनीयर्; चर्+अच्=चरः, चर+अण्=चारः प्रभवः=प्र+भू+ड प्र.वि. बहुवचन; अतः=एतत्=ङसि+तसिल्; क्षन्तुम्=क्षम्+तुमुन्;, अर्हसि=अर्ह्+लट् म.पु.ए.व. हितम्=धा+क्त; मनोहारि=मनस्+हृ+णिनि; वचः=वच्+अच्; दुर्लभम्=दुर्+लभ्+खल्।

अलङ्कार–'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः' इस सूक्ति से पूर्ववर्ती कथन का हेतुनिर्देशपूर्वक समर्थन होने से काव्यलिङ्ग अलङ्कार। काव्यलिङ्ग का लक्षण है–काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता। हेतु का वाक्यार्थ अथवा

पदार्थ रूप में कथन करना काव्यलिङ्ग अलङ्कार होता है।

छन्द–वंशस्थ।

कोश–राजा राट् पार्थिवक्ष्माभृन्नृपभूपमहीक्षितः। राजा तु प्रणताशेषसामन्तः स्यादधीश्वरः। चक्रवर्ती सार्वभौमो नृपोऽन्यो मण्डलेश्वरः' इत्यमरः। 'अधिभूर्नायको नेता प्रभुः परिवृढोऽधिपः इत्यमरः। 'सेवकार्थ्यनुजीविनः' इत्यमरः।

5. स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिपं
हितान्न यः संश्रृणुते स किम्प्रभुः।
सदानुऽकूलेषु हि कुर्वते रतिं
नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्मदः॥5॥

अन्वय–यः अधिपं साधु न शास्ति स किंसखा? यः हितात् न संश्रृणुते स किंप्रभुः? हि नृपेषु अमात्येषु च अनुकूलेषु सर्वसम्पदः सदा रतिं कुर्वते।

शब्दार्थ–यः=जो, अधिपं=राजा को, साधु=कल्याणप्रद, न शास्ति=उपदेश नहीं करता है। सः=वह, किंसखा=कुत्सित मित्र, यः=जो, हितात्=हितकारक, हितैषी से; न संश्रृणुते=नहीं सुनता, सः=वह, किंप्रभु=कुत्सित स्वामी है। हि=क्योंकि, नृपेषु अमात्येषु च=राजाओं और मन्त्रियों में, अनुकूलेषु=(परस्पर) अनुकूल (एक मत वाले) होने पर, सर्वसम्पदः=सभी सम्पत्तियाँ, सदा=सर्वदा, रतिं कुर्वते=अनुराग करती है।

अनुवाद–जो राजा को (कल्याणप्रद) समुचित उपदेश नहीं देता वह कुत्सित मित्र है। (इसी प्रकार) जो हित की अभिलाषा करने वाले व्यक्ति से (सदुपदेश) नहीं सुनता है वह कुत्सित स्वामी है। (यदि किम् को प्रश्नवाचक के रूप में मानें तो किं सखा का अनुवाद होगा, क्या वह मित्र है? किं प्रभुः, क्या वह स्वामी है? प्रश्नवाचक के काकु से ध्वनित होगा यह मित्र का लक्षण नहीं है, अतः ऐसा व्यक्ति मित्र नहीं हो सकता। प्रभुता सम्पन्न या प्रभुत्व के अभिकांक्षी व्यक्ति का यह लक्षण नहीं हो सकता। ऐसे अर्थ की भी कुछ लोग कल्पना करते हैं; किन्तु वह सङ्गत नहीं है, क्योंकि कवि ने 'किंसखा' को समस्त पद के रूप में ही निरूपित किया है और समस्त पद होने पर 'किम्' जुगुप्सा अर्थ में ही आयेगा, क्योंकि राजाओं और मन्त्रियों के परस्पर अनुकूल रहने पर ही सभी सम्पत्तियाँ सदैव अनुराग करती हैं।

व्याख्या–परिणाम में हितकर उपदेश को न देने वाला, असम्यगुपदेष्टा कुत्सित मित्र है, निन्दित मित्र है। अमरकोश में 'किमु पृच्छायां जुगुप्सने' से किम् पद पृच्छा और जुगुप्सा दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। पृच्छा रूप अर्थ को अनुवाद में स्पष्ट किया जा चुका है। मल्लिनाथ ने किंसखा शब्द का अर्थ दुर्मन्त्री किया है। मन्त्री का कार्य राजा को उचित मन्त्रणा, परामर्श देना है, यदि वह ऐसा नहीं करता तो दुर्मन्त्री है। जो स्वामी हितकर उपदेश देने वाले को (जिस उपदेश के श्रवण से कभी भी पराभव की सम्भावना नहीं होती) नहीं सुनता है, कटु या अप्रिय होने से उपेक्षा कर देता है वह कुत्सित स्वामी है, अविवेकी है। मैं (वनेचर) दुर्मन्त्रीत्व को न प्राप्त होऊँ और आप कुत्सित स्वामित्व को न प्राप्त करें इसके लिए हम दोनों को ही परस्पर यथार्थ वचन कहना और सुनना चाहिए। इससे केवल शिष्टाचार का ही पालन नहीं होगा अपितु वैभव की स्थिरता रूप महान् लाभ की भी प्राप्ति होगी, क्योंकि यदि राजा और अमात्य में परस्पर अविरोध होता है, एक दूसरे के प्रति अनुरक्ति होती है तो सम्पूर्ण सम्पत्तियाँ सदैव अनुराग करती हैं अर्थात् राजलक्ष्मी कभी भी नहीं छोड़ती। केवल सम्पत्तियाँ रहती ही नहीं हैं, अनुराग करती हैं, प्रेम करती हैं। 'रतिं कुर्वते' में कृ धातु में आत्मनेपद का प्रयोग है। आत्मनेपद के सन्दर्भ में नियम है–''स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले'' यदि क्रियाफल की प्राप्ति कर्त्ता को हो रही हो तो स्वरितेत् और ञित् धातुयें आत्मनेपदी हो जाती हैं। यहाँ चूँकि रतिफल (अनुरागरूपी फल) की प्राप्ति कर्त्ता को रही है अतः आत्मनेपद प्रयुक्त हुआ। इस प्रकार राज्य की स्थिरता और समृद्धि के लिए राजा और अमात्य की परस्पर अनुकूलता अत्यन्त आवश्यक है, इस तथ्य का प्रतिपादन किया गया है।

समास–किंसखा=कुत्सितः सखाः, किंप्रभु=कुत्सितः प्रभुः, सर्वसम्पदः=सर्वाः सम्पदः, हितात्=हितम् अस्यास्तीति हितः तस्मात्; अमा सह भवाः=अमात्याः

व्याकरण–शास्ति=शास् +लट्+प्र.पु.ए.व., शास् धातु द्विकर्मक है, परिगणित द्विकर्मक धातुयें इस प्रकार हैं–(दुह्याच्पचदण्ड्रुधिप्रच्छिचिब्रूशासुजिमथ्मुषाम्। कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नीहृकृष्वहाम्।।) द्विकर्मक का तात्पर्य होता है जिसके दो कर्म हों, एक कर्म प्रधान होता है, प्रधान कर्म में 'कर्तुरीप्सितमं कर्म' से कर्म संज्ञा और 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया विभक्ति होती है। प्रकृत श्लोक में साधु=हित, प्रधान कर्म है। दूसरा कर्म गौण होता है, गौण का तात्पर्य अप्रधान से है। वस्तुतः द्विकर्मक धातुओं के योग में अपादानादि की अविवक्षा करके उन्हें कर्म रूप से कहने की इच्छा ही उनका गौण कर्मत्व है। प्रस्तुत स्थल में 'अधिपम्' गौण कर्म है, शास् धातु से योग के कारण 'अकथितं च' सूत्र से जिसकी,कर्म संज्ञा हुई और 'कर्मणि द्वितीया' से द्वितीया विभक्ति हुई। यदि कर्म की अविवक्षा कर दी जाती तो चतुर्थी का रूप होता। किंसखा=कुत्सितः सखा। तत्पुरुष समास में यदि राजन्, अहन् और सखि शब्द समास के अन्त में आये तो उससे समासान्त टच् प्रत्यय होता है, 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' सूत्र से। यदि यहाँ टच् प्रत्यय किया जाता तो किम्+सखि+टच्=किंसखः रूप बनता, किन्तु 'किमः क्षेपे' सूत्र से किम् शब्द के कुत्सावाची होने से समासान्त टच् का निषेध हो जाता है जिसे मल्लिनाथ ने 'किमः क्षेपे' इति समासान्तप्रतिषेधः' के द्वारा निर्देश किया है। यहाँ 'हितं न यः संश्रृणुते' प्रयोग हो सकता था, संश्रृणुते का कर्म है 'हित', अतः उसमें द्वितीया होती किन्तु उसकी अविवक्षा करके पञ्चमी का प्रयोग किया गया है। हितम्=धा+क्त, हितात् = हित + अच्='आर्शादिभ्योऽच्' सूत्र से, तस्मात्; अमात्येषु=अमा+त्यप्+सुप्; सम्पदः=सम्+पद+क्विप् प्र. वि. बहुवचन; रतिः=रम्+क्तिन्।

अलङ्कार– प्रस्तुत श्लोक में 'सकलसम्पत्तिलाभ' कार्य है और 'नृप और अमात्य की परस्पर अनुकूलता' कारण है। कारण का समर्थन कार्य से किया गया है अतः अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

छन्द– वंशस्थ।

कोश– वयस्यः स्निग्धः सवया अथ मित्रं सखा सुहृत् इत्यमरः। किं पृच्छायां जुगुप्सने इत्यमरः। सुन्दरं रुचिचारु सुषमं साधु शोभनम्। कान्तं मनोरमं रुच्यं मनोज्ञं मञ्जु मञ्जुलम्। हि हेतावधारणे' इत्यमरः। अथ सम्पदि । सम्पत्तिः श्रीश्च' इत्यमरः।

6. **निसर्गदुर्बोधमबोधविक्लवाः**
क्व भूपतीनां चरितं क्व जन्तवः?
तवानुभावोऽयमवेदि यन्मया
निगूढतत्त्वं नयवर्त्म विद्विषाम्।।6।।

अन्वय– निसर्गदुर्बोधं भूपतीनां चरितं क्व? अबोधविक्लवाः जन्तवः क्व? विद्विषां निगूढतत्त्वं नयवर्त्म यन्मया अवेदि, अयं तव अनुभावः।

शब्दार्थ– निसर्गदुर्बोधम्=स्वभाव से ही दुर्बोध, भूपतीनां=राजाओं का, चरितम्,=चरित्र, क्व=कहाँ, अज्ञानविक्लवाः=अज्ञान से नष्ट हुई बुद्धि वाले, जन्तवः क्व=प्राणी कहाँ, विद्विषाम्=शत्रुओं का, निगूढतत्त्वम्=अत्यन्त गुप्त तत्व, नयवर्त्म=नीतिमार्ग, यत्=जो, मया=मेरे द्वारा, अवेदि=जाना गया, अयम्=यह, तव=आपका (युधिष्ठिर); अनुभावः=प्रभाव (है)।

अनुवाद–स्वभाव से ही अत्यन्त कष्टपूर्वक समझ में आ सकने वाला राजाओं का चरित्र कहाँ? अज्ञान से नष्ट हुई बुद्धि वाले (मेरे जैसे) पुरुष कहाँ? (दुर्योधनादि) शत्रुओं के अत्यन्त रहस्यपूर्ण नीतिमार्ग को जो मेरे द्वारा जाना गया (मैंने जाना), वह आप (ही) का प्रभाव है।

व्याख्या– स्वभाव से ही दुर्बोध, कठिनता से समझ में आ सकने वाला राजाओं का चरित्र कहाँ? अज्ञान के कारण विकलीभूत बुद्धि वाले (मुझ जैसे) प्राणी कहाँ? राजाओं के चरित्र की दुर्बोधता और वनेचर 43

की अबोध विक्लव बुद्धि इन दोनों में महदन्तर है। इस महदन्तर को ही दो 'क्व' शब्द के द्वारा सूचित किया गया है (द्वौ क्वौ महदन्तरं सूचयतः)। इसी महदन्तर को कालिदास ने रघुवंश के वर्णन प्रसङ्ग में दिखाया है– 'क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः'। राजाओं के चरित्र को समझ पाना तो तीक्ष्ण मति वालों के लिए भी दुष्कर है तो (वनेचर जैसे) सरल बुद्धि वाले की तो बात ही बहुत दूर है। इसीलिए कहावत है कि 'नृपस्य चित्तं कृपणस्य वित्तं देवो न जानाति कुतो मनुष्यः' यहाँ मल्लिनाथ का कथन है कि 'अयम्' शब्द का अर्थ='' इदं वेदनमित्यर्थः'' से वेदन अर्थ में होने से 'इदम्' होना चाहिए था; किन्तु विधेय (अनुभाव) प्राधान्य के कारण पुलिङ्ग 'अयम्' यह प्रयोग हुआ है। मेरे द्वारा (वनेचर के द्वारा) आपके शत्रु (दुर्योधनादि) के अत्यन्त गूढ़ तत्त्व वाले नीति के मार्ग को जान लिया गया है, उस ज्ञान के प्रति आप (युधिष्ठिर) का ही प्रभाव है। नयवर्त्म के लिए मल्लिनाथ ने 'षाड्गुण्य' शब्द का प्रयोग किया है। सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव तथा संश्रय को षाड्गुण्य कहा गया है–

सन्धिविग्रहयानानि संस्थाप्यासनमेव च।
द्वैधीभावश्च विज्ञेयाः षड्गुणा नीतिवेदिनाम्।।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में इनको इस प्रकार समझाया है– ''पणबन्धः सन्धिः, अपकारो विग्रहः, उपेक्षणमासनम्, अभ्युच्चयो यानं, परार्पणं संश्रयः, सन्धिविग्रहोपादानं द्वैधीभाव इति षड्गुणाः।'' वस्तुतः जब प्रतिज्ञापूर्वक किसी अन्य राज्य से कोई सम्बन्ध स्थापित किया जाये तो उसे सन्धि कहते हैं, दूसरे राज्य पर आक्रमण का नाम विग्रह है, उदासीनवृत्ति को आसन कहते हैं, शत्रु के विरुद्ध तैयारी की संज्ञा यान है। अपने को दूसरे अधिक शक्तिशाली राजा को अर्पण कर देने का नाम संश्रय है, एक के साथ सन्धि और दूसरे के साथ विग्रह की नीति को द्वैधीभाव कहते हैं।

उक्त अत्यन्त संक्षिप्त विवेचन से भी 'नयवर्त्म'– नीतिमार्ग की दुरूहता समझ में आ रही है, किन्तु आपके शत्रुओं से इस दुरूह रहस्य से भरे हुए नीतिमार्ग को भी जो मैं जान सका, इसमें स्वामी (युधिष्ठिर) का ही अनुभाव है, मेरा (वनेचर का) कोई बुद्धि वैलक्षण्य नहीं। यह संसर्गज महिमा है जैसा कि कहा गया है– ''काचः काञ्चनसंसर्गाद्धत्ते मारकतीं द्युतिम्'। आपके साथ रहने का ही यह प्रभाव है कि मैं दुर्बोध चीजों को भी समझ सका।

गुप्तचर का निगूढ़ तत्त्वों को जान पाना उसकी बुद्धिमत्ता का परिचायक है और अपनी इस योग्यता का श्रेय उसके द्वारा युधिष्ठिर को प्रदान करना उसकी विनम्रता का परिचायक है।

समास– दुर्बोधम्=दुःखेन काठिन्येन बुध्यते ज्ञायते इति दुर्बोधम्; निसर्गदुर्बोधम्=निसर्गात् दुर्बोधम् (पञ्चमी तत्पुरुष); अबोधविक्लवाः=अबोधेन विक्लवाः (तृतीया तत्पुरुष); विक्लवाः=विगतः क्लवः (शक्तिः) येषां ते (बहुब्रीहि समास); भूपतीनाम्=भुवः पतिः इति भूपतिः तेषाम्, निगूढतत्त्वम्=निश्चयेन गूढं तत्त्वं यस्य तद्; नयवर्त्म=नयस्य वर्त्म; अनुभावः=अनुगतो भावः (प्रादि समास)।

व्याकरण – निसर्ग=नि+सृज्+घञ्; दुर्बोधम्=दुर्+बुध्+खल्; पतिः= पा + डति, निगूढ नि +गुह्+क्त; नयः=नी+अच्; अवेदि=विद्+लुङ् (कर्मणि), अनुभावः=अनु+भू+घञ्।

अलङ्कार – दो पदार्थों में अत्यधिक विषमता का प्रतिपादन होने से विषमालङ्कार है।

छन्द– वंशस्थ।

कोश– 'स्वरूपं च स्वाभवश्च निसर्गश्च' इत्यमरः। 'विक्लवो विह्वलः स्यात्तु विवसोऽरिष्टदुष्टधीः' इत्यमरः। 'प्राणी तु चेतनो जन्मी जन्तुजन्युशरीरिणः' इत्यमरः। 'अनुभावः प्रभावे च सतां च मतिनिश्चये' इत्यमरः।

7. **विशङ्कमानो भवतः पराभवं**
नृपासनस्थोऽपि वनाधिवासिनः।

दुरोदरच्छद्मजितां समीहते

नयेन जेतुं जगतीं सुयोधनः॥7॥

अन्वय– नृपासनस्थः अपि सुयोधनः वनाधिवासिनः भवतः पराभवं विशङ्कमानः दुरोदरच्छद्मजितां जगतीं नयेन जेतुं समीहते।

शब्दार्थ– नृपासनस्थः=राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित, अपि=भी, सुयोधनः=दुर्योधन, वनाधिवासिनः=वन में निवास करने वाले, भवतः=आप (युधिष्ठिर) से, पराभवं=पराजय की, विशङ्कमानः=शङ्का करता हुआ, दुरोदरच्छद्मजिताम्=द्यूतक्रीड़ा (जुए) के कपट से जीती हुई, जगतीम्=पृथ्वी (राज्य) को, नयेन=नीति द्वारा, जेतुम्=जीतने के लिए, वशीभूत करने के लिए; समीहते=अभिलाषा करता है।

अनुवाद–सिंहासन पर आसीन भी (वह) दुर्योधन, वनवास में स्थित आप (युधिष्ठिर) से पराजय की आशङ्का करता हुआ द्यूतक्रीड़ा के कपट से जीती हुई पृथ्वी को (अब) नीति से जीतने की अभिलाषा कर रहा है।

व्याख्या – इस राजसिंहासन पर आसीन भी सुयोधन, वनवास में स्थित आपसे पराजय की आशङ्का करता हुआ, यहाँ 'अपि' शब्द का प्रयोग निन्दा अर्थ में किया गया है। दुर्योधन नृपासनस्थ है, अत; प्रभूत सामर्थ्यशाली है और युधिष्ठिर वन में निवास करने के कारण साधनहीन विपन्न हैं, परन्तु वनवासी विपन्न युधिष्ठिर से पराभव की आशङ्का करता हुआ, वह राज्य–प्राप्त करके भी निश्चिन्त नहीं है, जिस राज्य को उसने छल से प्राप्त किया था। 'दुरोदर' जुए को कहते है। मल्लिनाथ ने इसका विग्रह इस प्रकार किया है– 'दुष्टमुदरमस्येति दुरोदरम् द्यूतम्'। जिसका उदर (पेट) दुष्ट हो उसे दुरोदर कहेंगे। जुआ (अपने पेट में) बड़े–बड़े राज्यों को क्षण में विलीन कर लेता है, हजम कर जाता है, उनका अस्तित्व समाप्त कर देता है इसलिए वह दुष्ट उदर वाला कहा गया है। उसी दुष्ट उदर वाले जुए के शिकार युधिष्ठिर भी बने थे। अतः पूर्व में छल से प्राप्त की हुई पृथ्वी को नीति से जीतना चाहता है। अपने सद्व्यवहार से प्रजा को वशीभूत करना चाहता है। अपनी प्रजा पर न्यायपूर्वक शासन करके, प्रजा को प्रसन्न करके, प्रजा के हृदय को जीतकर वह अपने शासन की नींव सुदृढ़ (बद्धमूल) करना चाहता है, क्योंकि जिस राजा से उसकी प्रजा प्रसन्न रहती है उस राजा को अपदस्थ करना सरल नहीं होता।

ज्येष्ठ धृतराष्ट्र के पुत्र का नाम दुर्योधन इसलिए पड़ा, क्योंकि वह प्रभूत बलाशाली और युद्ध में अप्रतिम था, उससे युद्ध में कठिनता से ही जीता जा सकता था "दुर्योधन (शत्रुभिः) दुःखेन युध्यते (येन सह) असौ दुर्योधनः। परन्तु प्रकृत श्लोक में भारवि ने गुप्तचर के मुख से उसे 'सुयोधन' कहलाया है, सुखेन युध्यते इति सुयोधनः=अर्थात् जिससे आसानी से (सुखपूर्वक) युद्ध किया जा सके। भीमसेन तो दुर्योधन को सुयोधन कहते ही थे, यहाँ वनेचर के कहने से यह ध्वनि निकल रही है कि यद्यपि वह नीति से पृथ्वी को जीतने की चेष्टा कर रहा है फिर भी अविचलित धर्मात्मा युधिष्ठिर (युधि+स्थिर=युद्ध में स्थिर रहने वाले, अविचिलित और अडिग रहने वाले) के द्वारा वह आसानी से जीता जा सकेगा। अतः निराश होने की बात नहीं है, विजय प्रयत्न साध्य है।

समास–सुयोधनः=सुखेन युध्यते इति सुयोधनः, नृपासनस्थः=नॄन् पाति इति नृपः, नृपस्य आसनं=नृपासनम्, नृपासने तिष्ठति इति, वनाधिवासिनः=वनम् अधिवसतीति वनाधिवासी, तस्मात्; दुरोदरच्छद्मजिताम्=दुष्टमुदरं यस्य तत्=दुरोदरम् (बहुव्रीहि) तस्य छद्म=दुरोदच्छद्म, तेन दुरोदरच्छद्मना जिता इति दुरोदरच्छद्मजिता, तां दूरोदाच्छद्मजिताम्।

व्याकरण– नृपः=नृ+पा+क; आसनम्=आस्+ल्युट; सुयोधनम्=सु+युध्+युच; वनाधिवासिनः=वन+अधि+वस्+णिनि; पराभवम्=परा+भू+अप् द्वि.वि.ए.व.; विशङ्कमानः=वि+शङ्क+शानच् प्र. वि. ए. व.; जेतुम्= जि+तुमुन्; समीहते=सम्+ईह्+लट् प्र.पु.ए.व.।

अलङ्कार– काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। काव्यलिङ्ग का लक्षण है– 'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्ग–

मुपाहृतम्'– जब वाक्य या पद के अर्थ से किसी कारण (हेतु) का उपन्यास किया जाये तो वहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार होता है। प्रकृत श्लोक में 'दुरोदरच्छद्मजिताम्' इस विशेषण पद का अर्थ 'नयेन जेतुम्' के अर्थज्ञान का कारण प्रस्तुत कर रहा है, अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार है।

छन्द– वंशस्थ।

कोश– 'पराभवः पराभूतः परिभूतः पराजयः'। 'अटव्यरण्यं विपिनं गहनं काननं वनम्' इत्यमरः। 'दुरोदरो द्यूतकारे पणे द्युते दुरोदरम्' इत्यमरः। 'कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे कुसृतिर्निकृतिः शाठ्यम्' इत्यमरः। नयो न्याये' इत्यमरः।

8. **तथापि जिह्मः स भवज्जिगीषया**
तनोति शुभ्रं गुणसम्पदा यशः।
समुन्नयन्भूतिमनार्यसङ्गमा–
द्वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः॥8॥

अन्वय– तथापि जिह्मः स भवज्जिगीषया गुणसम्पदा शुभ्रं यशः तनोति। भूतिं समुन्नयन् महात्मभिः समं विरोधः अपि अनार्यसङ्गमात् वरम्।

शब्दार्थ– तथापि=वैसा (पराजय की आशङ्का करता हुआ भी) होते हुए भी, जिह्मः=कुटिल, सः=वह, भवज्जिगीषया=आपको जीतने की इच्छा से, गुणसम्पदा=गुणसम्पत्ति से (दानदाक्षिण्यादि गुणों के वैभव से), शुभ्रम्=धवल, निर्मल, यशः=कीर्ति को, तनोति=फैला रहा है। भूतिं समुन्नयन्=ऐश्वर्य का अभ्युत्थान करने वाला, (ऐश्वर्य को बढ़ाने वाला) महात्मभिः समम् = महात्माओं के साथ,विरोध=शत्रुता,अपि= भी अनार्यसङ्गमात् वरम् =दुर्जन के संसर्ग से अच्छा (है)।

अनुवाद– फिर भी (आपसे पराजय की आशङ्का से युक्त होते हुए भी) कुटिल वह (दुर्योधन) आपको जीतने की इच्छा से गुणसम्पत्ति से धवल यश का विस्तार कर रहा है। ऐश्वर्य का अभ्युत्थान करने वाला महात्माओं के साथ विरोध भी दुष्टों के संसर्ग की अपेक्षा अच्छा है।

व्याख्या– वस्तुतः दुर्योधन छल से राजसिंहासन पर अधिष्ठित हो गया है; किन्तु सिंहासनाधिरूढ़ होने पर भी उसके मन में धर्मराज युधिष्ठिर से पराजय की आशङ्का है। वह इस तथ्य से अवगत है कि न तो वह इस राजसिंहासन का युधिष्ठिर के समान न्यायतः अधिकारी है और न ही प्रजा जिस प्रकार धर्मराज युधिष्ठिर में अनुरक्त थी, उतनी इसमें अनुरक्त ही है। प्रजा का अनुराग जिसे प्राप्त है ऐसे युधिष्ठिर को तिरस्कृत करने में कैसे समर्थ होऊँ, यह अहर्निश उसकी चिन्ता का विषय है। आपके गुणों की चमक मन्द करने के लिए विविध प्रकार से प्रजा का उपकार करता हुआ वह अपना निर्मल यश चतुर्दिक् फैला रहा है। 'शुभ्र' अर्थात् धवल में कालिमा का लेश भी नहीं है, शुभ्र, यश का विशेषण है। शुभ्र विशेषण के द्वारा दोषरहित यश के विस्तार की बात कही गयी है। इस तरह दया, दान, दाक्षिण्य, शील, शौच, ऋजुता, उदारता आदि मात्र गुणसम्पदा के माध्यम से, (रञ्चमात्र भी दोष संस्पर्श से रहित) कीर्ति को फैला रहा है यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि गुणी होते हुए भी सज्जन के साथ विरोध भी तो एक महान् दोष है, परन्तु यह दोष भी दुर्योधन के लिए भूषण स्वरूप हो गया है, क्योंकि वह दुर्योधन वास्तव में (जिह्म) है– कुटिल है, जहाति सरलमार्गम् इति जिह्मः' किन्तु आपको (युधिष्ठिर को) जीतने की अभिलाषा से उसने गुणसम्पदा का विस्तार किया है। इस तरह इस विरोध के माध्यम से भी उसने महान् ऐश्वर्य को समधिगत कर लिया है। अतः ऐश्वर्य को बढ़ाता हुआ महात्माओं के साथ हुआ विरोध भी दुष्टों के साहचर्य की अपेक्षा प्रिय है। जो आचार से पूत होता है– वही आर्य होता है। महाभारत में कहा गया है– 'वृत्तेन हि भवत्यार्यः न विद्या न धनेन च'। व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ की दृष्टि से आर्य उसे कहेंगे जिसके समीप जाना चाहिये या जो जाने के योग्य हो, वही आर्य है। ऋ+ण्यत्=आर्य (ऋ धातु का अर्थ गमन है और ण्यत् प्रत्यय 'चाहिए' अर्थ में होता है) अन्यत्र भी आर्य का लक्षण इस प्रकार

है– कर्तव्यमाचरन् काममकर्तव्यमनाचरन्। तिष्ठति प्रकृताचारे स वै आर्य इति स्मृतः।। जो आर्य नहीं है, उसे ही अनार्य कहेंगे। अनार्य के साथ की अपेक्षा महात्मा का विरोध भी अच्छा है, क्योंकि वह गुणाधान में प्रवृत्त कराता है।

समास– जेतुमिच्छा जिगीषा, भवतः जिगीषा भवज्जिगीषा, तया=भवज्जिगीषया; गुणसम्पदा=गुणानां सम्पद्=गुणसम्पत् तया; अनार्यसङ्गमात्=न आर्याः=अनार्याः, अनार्याणां सङ्गमः इति अनार्यसङ्गमः तस्मात् महात्मभिः=महान् आत्मा येषां ते महात्मानः, तैः सह।

व्याकरण – तथा=तत्+थाल् 'प्रकारवचने थाल्' सूत्र से थाल् प्रत्यय हुआ (तेन प्रकारेण=तथा); जिह्मः=जिह्+मन्: जिगीषा=जि+सन्+अ+टाप्; शुभ्रम्=शुभ्+रक्; भूतिम्=भू+क्तिन् द्वि. वि. ए. व.; समुन्नयन्=सम्+उत्+नी+शतृ प्र. वि. ए. व.।

महात्मभिः में तृतीया विभक्ति 'सहयुक्तेऽप्रधाने' सूत्र से सह, साकं, सार्धं, समं के योग में अप्रधान में तृतीया विभक्ति हुई। महत् के तकार को 'आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः' सूत्र से (कर्मधारय एवं बहुव्रीहि समास में समानाधिकरण उत्तर पद अथवा जातीय शब्द परे रहने पर 'महत्' के स्थान पर महा आदेश हो जाता है।) आकार अन्तादेश होने पर मह+आ=महा रूप की सिद्धि होती है।

विरोधः=वि+रुध्+घञ्, आर्य=ऋ+ण्यत्, सङ्गमः=सम्+गम्+अप्।

अलङ्कार– प्रस्तुत श्लोक में 'सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है। साथ ही 'वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः रूप कार्य का हेतु 'भूतिं समुन्नयन्' पद से व्यक्त होने के कारण अर्थान्तरन्यास काव्यलिङ्ग से अनुप्राणित है।

छन्द–वंशस्थ।

कोश – अरालं वृजिनं जिह्ममूर्मिमत्कुञ्चितं नतम्।
आविद्धं कुटिलं भुग्नं वेल्लितं वक्रमित्यपि।। इत्यमरः
'शुक्ल शुभ्रशिचिश्वेतविशदश्येत पाण्डराः'
अवदातः सितो गौरो वलक्षो धवलोऽर्जुनः।। इत्यमरः

'यशः कीर्तिः समज्ञा च' इत्यमरः। 'विभूतिर्भूतिरैश्वर्यमणिमादिकमष्टधा' इत्यमरः। 'नीचोऽनार्योऽकुलीनोऽपि शठो दुर्वृत्त' इत्यमरः। 'संसर्गः सङ्गमः सम्पर्क इति प्रोच्यते सम' इति। 'देवाद् वृत्ते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीवं मनाक्प्रिये' इत्यमरः। विरोधो वैरं विद्वेषो इत्यमरः।

9. **कृतारिषड्वर्गजयेन मानवी-**
मगम्यरूपां पदवीं प्रपित्सुना।
विभज्य नक्तन्दिवमस्ततन्द्रिणा
वितन्यते तेन नयेन पौरुषम्।।9।।

अन्वय–कृतारिषड्वर्गजयेन अगम्यरूपां मानवीं पदवीं प्रपित्सुना अस्ततन्द्रिणा तेन नक्तन्दिवं विभज्य नयेन पौरुषं वितन्यते।

शब्दार्थ–कृतारिषड्वर्गजयेन=(काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य इन आन्तरिक) छः शत्रु वर्ग के ऊपर विजय प्राप्त कर लेने वाले; अगम्यरूपाम्=अलभ्य है स्वरूप जिसका, ऐसी दुर्गम; मानवीम्=स्मृतिकार मनु द्वारा उपदिष्ट; पदवीम्=(प्रजापालन की) पद्धति (विधि, रीति) की, प्रपित्सुना=प्राप्त करने की इच्छा करने वाले, अस्ततन्द्रिणा=समाप्त हो गयी है तन्द्रा (आलस्य) जिसकी ऐसे; तेन=उस (दुर्योधन) के द्वारा, नक्तं दिवं विभज्य=रात और दिन का विभाजन करके, (किस कार्य को किस समय करना है, ऐसा समय का विभाग), नयेन=नीति से, पौरुषं=पुरुषार्थ का, वितन्यते=विस्तार किया जा रहा है।

अनुवाद–(अन्तः) शत्रुओं के षड्वर्ग पर विजय प्राप्त करने वाले, अगम्य स्वरूप वाली, मनु द्वारा उपदिष्ट प्रजापालन की पद्धति को प्राप्त करने की इच्छा वाले आलस्यरहित उस दुर्योधन के द्वारा रात और दिन (समय) का विभाजन करके नीति से पुरुषार्थ का विस्तार किया जा रहा है।

व्याख्या–'कातर्यं केवला नीतिः'–केवल नीति कायरता है अतः वह दुर्योधन नीति के साथ पौरुष को संयोजित करता हुआ प्रजापालन में तत्पर है–वनेचर के द्वारा इस तथ्य का प्रतिपादन किया जा रहा है। अरिषड्वर्ग का अर्थ मल्लिनाथ ने आन्तरिक शत्रु किया है। काम क्रोधादि मानव में विद्यमान विघ्नकारी प्रवृत्तियाँ हैं, जिन्हें दुर्योधन ने विवेक से जीत लिया है। यहाँ 'कृत' में कृ+क्त प्रत्यय है, क्त प्रत्यय भूतकाल के अर्थ में प्रयुक्त होता है, अतः स्पष्ट है कि इन छः शत्रुओं पर दुर्योधन ने विजय प्राप्त कर ली है। वस्तुतः बाह्य शत्रु तो सदैव होते नहीं है, अन्दर स्थित ये छः शत्रु मनुष्य को विघटित करते रहते हैं, इन पर विजय विवेक के द्वारा ही सम्भव है; किन्तु 'जिह्म' उस दुर्योधन ने युधिष्ठिर पर गुणतः विजय प्राप्त करने की अभीप्सा से अन्तस्थ षडरियों को वशीकृत करके, साधारण जनों के लिए दुर्विज्ञेय मनूपदिष्ट प्रजापालन पद्धति को चरितार्थ करने की आकांक्षा वाला दुर्योधन आलस्यरहति होकर अर्थात् अत्यन्त दक्षता के साथ समय का विभाग करके अपने पौरुष का विस्तार कर रहा है। 'नक्तन्दिवं विभज्य' के द्वारा योजनाबद्ध रीति से कार्य कर रहा है–यह भाव ध्वनित किया गया है। पहले से योजना बना कर कार्य करने से कोई कार्य उपेक्षित नहीं होता है और प्रत्येक कार्य को अपेक्षित अवधान प्राप्त हो जाता है। मनुस्मृति के टीकाकार श्री कुल्लूकभट्ट मनु शब्द का व्याख्यान करते हुए कहते हैं–'सकलवेदार्थमननात् मनुः।' इसीलिए भारवि ने उसे 'अगम्यरूपां' कहा है। मनूपदिष्ट मार्ग से प्रजापालन करने पर, प्रजा में इसके प्रति यह भाव उदित होगा कि 'यह भी' धर्मात्मा है, यह' युधिष्ठिर से किसी अर्थ में हीन नहीं। यदि इसका अपने बन्धु पाण्डवों से विरोध है, तो अपनी उन्नति के लिए बन्धु विरोध प्रायः संसार में पाया जाता है। बन्धु-विरोध के कारण इसे कुनृपति नहीं कहा जा सकता। यदि यह भी हमारा अधिप हो जाये तो इसमें कोई क्षति नहीं है। ऐसा विचार करके प्रजा आपके (युधिष्ठिर) प्रति उदासीन हो जाये और उसके प्रति अनुरक्त हो–यही इसकी सम्प्रति नीति है। पुरुष के कर्म को पौरुष कहते हैं अर्थात् वह अपने उद्योग का विस्तार नीतिपूर्वक कर रहा है।

समास–षड्वर्गः=षण्णां वर्गः (षष्ठी तत्पुरुष), अरीणां षड्वर्गोऽरिषड्वर्गः। (षष्ठी तत्पुरुष); कृतारिषड्वर्गजयेन=कृतः अरिषड्वर्गस्य जयो येन सः तेन (बहुब्रीहि); अगम्यरूपाम्=न गम्यं रूपं यस्याः साऽगम्यरूपा, ताम्; मानवीम्=मनोरियम् मानवी ताम्; अस्ततन्द्रिणा=अस्ता तन्द्रिः यस्य तेन; पौरुषम्=पुरुषस्येदम्, नक्तन्दिवम्=नक्तञ्च दिवा च; प्रपित्सुना=प्रपत्तुमिच्छुना।

व्याकरण–अगम्यरूपाम्=अगम्य+रूपम्+टाप् (प्रशंसायां रूपम्); मानवीम्=मनु+अण्+ङीप्; प्रपित्सुना=प्र+पद्+सन्+उ+तृ.वि.ए.व; विभज्य=वि+भज्+(क्त्वा) ल्यप्; पौरुषम्=पुरुष+अण्; वितन्यते=वि+तन्+लट् (कर्मणि)।

अलङ्कार–द्वितीय चरण में पकार की और चतुर्थ चरण में नकार की आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास है।

छन्द–वंशस्थ।

कोश–'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' इत्यमरः। 'वृन्दभेदाः समैर्वर्गः सङ्घसार्थौ तु जन्तुभिः' इत्यमरः। 'विजयो जयः' इत्यमरः। 'अयनं वर्त्ममार्गाध्वपन्थानः पदवी सृतिः। सरणिः पद्धतिः पद्या वर्तन्येकपदीति च' इत्यमरः। 'नयो नाये' इत्यमरः। 'पुम्भावे तत्क्रियायां च पौरुषम्' इत्यमरः। 'स्यान्निद्रा शयनं स्वापः स्वप्नः संवेश इत्यपि। तन्द्री प्रमीला' इत्यमरः।

10. सखीनिव प्रीतियुजोऽनुजीविनः
समानमानान् सुहृदश्च बन्धुभिः।
स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः

कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुताम्॥10॥

अन्वय–गतस्मयः सः सन्ततं साधु अनुजीविनः प्रीतियुजः सखीनिव सुहृदश्च बन्धुभिः समानमानान् इव, बन्धुतां कृताधिपत्यामिव दर्शयते।

शब्दार्थ–गतस्मयः=नष्ट हो गया (चला गया) है अभिमान जिसका, सः=वह (दुर्योधन), अनुजीविनः=सेवकों को, प्रीतियुजः=प्रेम से युक्त, सखीन् इव=मित्रों की तरह, सुहृदः=मित्रों का, बन्धुभिः=बन्धुओं के साथ, समानमानाम् इव=समान आदर वाले के समान, बन्धुतां च=बन्धुसमूह को; कृताधिपत्याम् इव=राज्यग्रहण किये हुए अधिपति के समान, सन्ततं=निरन्तर, साधु=अच्छी प्रकार, दर्शयते=दिखलाता है।

अनुवाद–अभिमान रहित वह (दुर्योधन) निरन्तर सहजभाव से सेवकों को प्रीति से युक्त मित्रों की भाँति, मित्रों को बन्धुओं के समान आदर वाले के समान और स्वजन समूह को (अपने) अधिपतियों के समान प्रदर्शित करता है।

व्याख्या–वनेचर प्रकृत श्लोक में दुर्योधन के व्यवहार नैपुण्य को दिखाते हुए कह रहा है कि अहङ्कार रहित दुर्योधन अर्थात् नम्रभावापन्न वह दुर्योधन अपने किङ्करों के साथ छोटे के प्रति जैसा आदेशात्मक व्यवहार किया जाता है वैसा नहीं करता अपितु उनसे मित्र के समान व्यवहार करता है। "प्रीतियुजः" विशेषण है 'सखीनिव' का अर्थात् प्रीति से युक्त मित्र के तुल्य व्यवहार करता है। प्रश्न उठता है कि जब सेवकों के साथ ही प्रीतियुक्त मित्र तुल्य व्यवहार है तो मित्र के साथ कैसा व्यवहार होगा? मित्रों को, जैसा अपने बन्धु-बान्धवों को सम्मान देना चाहिये, वैसा बान्धवतुल्य आदर प्रदान करता है। 'बध्नन्ति प्रेम्णा इति बन्धवः' जो प्रेम से बाँध ले उन्हें बन्धु कहते हैं। उन बन्धुओं के तुल्य सत्कार वह अपने सुहृदों को (मित्रों) प्रदान करता है। 'बन्धूनां समूहो, बन्धुता ताम्=बन्धुताम् ,बन्धुजनों के समूह को बन्धुता कहते हैं। बन्धुओं के समुदाय के साथ (अर्थात् सारे बन्धुओं के साथ, किसी एक पर बिना पक्षपात किये) अपने अधिपतियों के समान व्यवहार करता है, मानों वह उनका अधिपति नहीं है अपितु उसके बन्धु जन ही उसके स्वामी हैं, ऐसा व्यवहार दिखाता है। स्थान की अपेक्षा, समय की अपेक्षा और पात्र की अपेक्षा किये बिना दुर्योधन का यह व्यवहार निरन्तर (सन्ततं साधु) सहज भाव से प्रकट होता रहता है। लोग उसे इस रूप में नहीं देखते वह स्वयं को इस रूप में दिखाता है। 'दर्शयते' में णिच् प्रत्यय और आत्मनेपद का प्रयोग है। (दृश+णिच्+लट् (त))। 'दर्शयते' पद दुर्योधन की चतुरता और बनावटीपन को ख्यापित कर रहा है। प्रजा को प्रसन्न करने के लिए जो जितने सम्मान के योग्य है, उससे अधिक सम्मान उन्हें प्रदान करता है। प्रीतिभाजन बनने के लिए सभी का विशेष सत्कार करता है।

समास–गतस्मयः=गतः स्मयो यस्य सः। प्रीतियुजः=प्रीत्या युज्यन्ते ये ते प्रीतियुजः तान्। अनुजीविनः=अनु पश्चात् (धावनेन) जीवनं येषां ते अनुजीविनः, तान्। समानमानान्=समानः मानो येषां ते समानमानाः, तान्। बन्धुताम्=बन्धूनां समूहो, बन्धुता, ताम्। आधिपत्याम्=अधिपतेः कर्म आधिपत्यम्, कृतमाधिपत्यं यया, ताम्। सुहृद्=शोभनं हृदयं येषां ते सुहृदः, तान्।

व्याकरण–स्मयः=स्मि+अच्; सन्ततम्=सम्+तन्+क्त; अनुजीविनः=अनु+जीव्+णिनि; प्रीतिः=प्री+क्तिन्; प्रीतियुजः=प्रीति+युज्+क्विन्; बन्धुभिः=बन्ध्+उण्+तृ.वि. बहुवचन; मानः=मन्+घञ्; बन्धुताम्=बन्धु+तल्+टाप्; अधिपति=अधि+पा+डति; आधिपत्यम्=अधिपति+यक्; दर्शयते=दृश्+णिच्+लट् (त)।

अलङ्कार–उपमा अलङ्कार (सखीनिव प्रीतियुजोऽनुजीविनः में उपमा) तथा 'कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुताम्' में उत्प्रेक्षा अलङ्कार, सकार, नकार आदि की आवृत्ति से अनुप्रासालङ्कार भी है।

छन्द–वंशस्थ।

कोश–'वयस्यः स्निग्धः सवया अथ मित्रं सखा सुहृत्' इत्यमरः। 'सेवकार्थ्यनुजीविनः' इत्यमरः। 'सगोत्रबान्धवज्ञातिबन्धुस्वस्वजनाः समाः' इत्यमरः। सततानारताश्रान्तसन्तताविरतानिशम्' इत्यमरः। 'दर्पोऽवलेपोऽवष्टम्भश्चित्तोद्रेकः स्मयो मदः इत्यमरः। 'सगोत्रबान्धवज्ञातिबन्धुस्वस्वजनाः समाः। ज्ञातेयं बन्धुता तेषां क्रमाद्भावसमूहयोः' इत्यमरः।

बोध प्रश्न

1. किरातार्जुनीयम् का मंगलाचरण किस प्रकार का है, सही उत्तर पर (√) लगाइये और गलत पर (x) तथा अपने उत्तर का हेतु अत्यन्त संक्षेप में बताइये।

(क) आशीर्वादात्मक ( )

(ख) वस्तुनिर्देशात्मक ( )

(ग) नमस्कारात्मक ( )

2. 'श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीम्' में प पर गुरु का चिह्न क्यों लगाया गया है। किन-किन वर्णों को गुरु कहते हैं बताइये।

3. सखीनिव प्रीतियुजोऽनुजीविनः

समानमानान् सुहृदश्च बन्धुभिः।

स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः

कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुताम्।

प्रकृत पद्य में दुर्योधन के चरित्र की किस विशेषता का प्रतिपादन किया गया है।

4. 'चारचक्षुषः' किसके लिये प्रयुक्त है और क्यों?

5. 'नयवर्त्म' का अर्थ स्पष्ट कीजिये।

6. 'नयेन जेतुं जगतीं समीहते' कौन नीति के द्वारा पृथ्वी को जीतना चाहता है और क्यों? भाव स्पष्ट कीजिये।

11. **असक्तमाराधयतो यथायथं**

विभज्य भक्त्या समपक्षपातया।

गुणानुरागादिव सख्यमीयिवान्

न बाधतेऽस्य त्रिगणाः परस्परम्॥11॥

अन्वय–यथायथं विभज्य समपक्षपातया भक्त्या असक्तम् आराधयतः अस्य त्रिगणः गुणानुरागात् सख्यम् ईयिवानिव परस्परं न बाधते।

शब्दार्थ–यथायथम्=ठीक-ठीक, समुचित रूप से; विभज्य=विभाजन करके, समपक्षपातया=समान पक्षपातवाली, भक्त्या=भक्ति से, अनुराग से; असक्तम्=बिना किसी आसक्ति के, निःसङ्ग भाव से; आराधयतः=सेवन करते हुए, अस्य=इस (दुर्योधन) का; त्रिगणः=त्रिवर्ग, तीन (धर्म, अर्थ, काम) का समूह; गुणानुरागात्=(दुर्योधन के) गुणों के प्रति अनुराग होने के कारण, सख्यम्=मित्रता को, ईयिवान् इव=प्राप्त हुआ जैसा, परम्परम्=एक दूसरे को, न बाधते=बाधा नहीं पहुँचाता, व्यवधान पैदा नहीं करता।

अनुवाद–समुचित रूप से विभाजन करके, समान पक्षपात वाले अनुराग से निस्सङ्गभाव से सेवन करते हुए इस (दुर्योधन) के (धर्म, अर्थ, कामरूप) त्रिवर्ग (मानों दुर्योधन के) गुणों के प्रति अनुराग के कारण मित्रता को प्राप्त हुए (परस्पर) एक दूसरे को व्यवधान नहीं डालते।

व्याख्या–वस्तुतः धर्म, अर्थ, काम परस्पर अनुपमर्दन से वृद्धि को प्राप्त होते हैं। इसीलिए कहा गया है कि धर्म, अर्थ, काम सबका समान भाव से सेवन करना चाहिए, इनमें से एक में ही आसक्त रहने वाला जन जघन्य होता है–''धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः यो ह्येकसक्तः स जनो जघन्यः''। किन्तु दुर्योधन का यही वैशिष्ट्य है कि उसके द्वारा यथोचित रूप से विवेचन करके बिना किसी पक्षपात के (पक्षे पातः=पक्षपातः) अर्थात् किसी एक के प्रति अपना अनुरागातिशय न दिखाते हुए त्रिवर्ग का सेवन किया जाता है। इस प्रकार समदृष्टि के द्वारा सेवित त्रिवर्ग मानों दुर्योधन के गुणों (दया, दाक्षिण्य, औदार्य, शौर्य, गाम्भीर्य प्रभृति) में आसक्त होने

के कारण परस्पर एक दूसरे को बाधित नहीं करते। तात्पर्य यह है कि धर्माचरण के समय अर्थ और काम उसके मन को भ्रमित नहीं करते, अर्थसञ्चय के समय धर्म और काम उसके चित्त में चञ्चलता का आधान नहीं करते, इसी प्रकार धर्म और अर्थ उसके काम में बाधा नहीं डालते। धर्म, अर्थ, काम की प्रकृति भिन्न है, इसलिए एक के सेवनावसर में अन्य के द्वारा व्यवधान उपपादित हो जाता है, किन्तु दुर्योधन के साथ ऐसा नहीं हुआ। इसका हेतु उसका (दुर्योधन का) यथायथ विभाजन, समपक्षपात तथा निस्सङ्गभाव से सेवन है। इसीलिए कवि उत्प्रेक्षा कर रहा है कि त्रिवर्ग के पस्पर अविरोध का हेतु उसका (त्रिवर्ग का) दुर्योधन के गुणों में अनुरक्त होना है। सभी (तीनों ही) दुर्योधन के गुणों में आसक्त हैं ...तः परस्पर के विरोध को त्याग कर एकस्थ रहने की अभिलाषा से मानों वे मैत्रीभाव को प्राप्त किये हुए से एक दूसरे का विरोध नहीं करते।

समास–समपक्षपाततया=पक्षे पातः=पक्षपातः (सुप् सुपा समास), समः पक्षपातः यस्यां सा=समपक्षपाता तया (बहुव्रीहि समास), असक्तम्=न सक्तम् (नञ् तत्पुरुष), त्रिगणः=त्रयाणां गणः (षष्ठी तत्पुरुष), गुणानुरागाद्=गुणेषु अनुरागः तस्मात् (हेतौ पञ्चमी से यहाँ पञ्चमी विभक्ति आयी), सख्युर्भावः=सख्यम्, यथायथम्=यथा का वीप्सा अर्थ में द्वित्व, यथायथा–'यथास्वे यथायथम्' नियम से नपुंसक लिङ्ग तथा 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' से अन्तिम यथा के आकार को ह्रस्व=यथायथ+सु, सु को अम् हो, यथायथम् रूप बना (अव्ययीभाव समास)।

व्याकरण–विभज्य =वि+भज्+ (क्त्वा) ल्यप्, असक्तम्=न सञ्ज्+क्त, आराधयतः = आ + राध् + लट् + शतृ + ष.वि.ए. व., अनुराग=अनु+रञ्ज्+घञ्, सख्यम्=सखि+ (सख्युर्यः सूत्र से य प्रत्यय), ईयिवान्=इण्+लिट्, क्वसु प्र.वि.ए.व., परः परम् इति परस्परम्, बाधते=बाध्+लट् प्र.पु.ए.व.।

अलङ्कार–प्रकृत श्लोक में 'ईयिवान् इव' के द्वारा एक सम्भावना व्यक्त की गयी है, अतः उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। उत्प्रेक्षा का लक्षण है–सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्।' अर्थात् उपमेय की उपमान के साथ सम्भावना उत्प्रेक्षा कहलाती है।

छन्द–वंशस्थ।

कोश–'यथास्वं तु यथायथम्' इत्यमरः। 'मिथोऽन्योन्यं परस्परम्' इति कोषः। 'मिथोऽन्योन्यं रहस्यपि' इत्यमरः।

12. **निरत्ययं साम न दानवर्जितं**
न भूरिदानं विरहय्य सत्क्रियाम्।
प्रवर्तते तस्य विशेषशालिनी
गुणानुरोधेन विना न सत्क्रिया॥12॥

अन्वय–तस्य निरत्ययं साम दानवर्जितं न, भूरिदानं सत्क्रिया विरहय्य न, विशेषशालिनी सत्क्रिया गुणानुरोधेन विना न प्रवर्तते।

शब्दार्थ–तस्य=उस (दुर्योधन) का, निरत्ययम्=निर्बाध, निष्कपट; साम=सान्त्ववचन, मधुरवचन, दानवर्जितं न=दान से रहित नहीं, भूरिदानम्=प्रचुर दान, सत्क्रिया=आदर को, विरहय्य न=छोड़कर नहीं, विशेषशालिनी=वैशिष्ट्युक्त, (विशेष रूप से सुशोभित होने वाली), गुणानुरोधेन विना=गुणों के अनुराग के बिना, न प्रवर्तते=नहीं प्रवृत्त होता है।

अनुवाद–उस (दुर्योधन) का निष्कपट सान्त्व वचन बिना दान के और प्रचुर दान बिना सत्कार के और वैशिष्ट से युक्त सत्कार गुणानुरोध के बिना प्रवृत्त नहीं होता है।

व्याख्या–प्रकृत श्लोक में दुर्योधन की साम, दानरूपी नीतिनैपुण्य पर प्रकाश डाला जा रहा है। दुर्योधन का कपटादि दोष से रहित सान्त्वनापूर्ण वचन दानादि से समलंकृत था। किसी अर्थी (अभिलाषी जन) को मात्र मधुर वचन कहकर छलता नहीं था अपितु उसकी आवश्यकता की पूर्ति दानादि से करता था। (दान

में पुनर्ग्रहण का भाव नहीं होता है)। आचार्य मल्लिनाथ ने लिखा है कि यदि दुर्योधन मात्र मीठी बातों से ही सबका सत्कार करता तो सफल न होता, क्योंकि मनुष्य को मात्र शुष्क प्रिय वचनों से वशीभूत नहीं किया जा सकता है। कहा भी गया है कि–

लुब्धमर्थेन गृह्णीयात्साधुमञ्जलिकर्मणा।
मूर्खं छन्दानुरोधेन तत्त्वार्थेन च पण्डितम्।।

उसका दान भी उपेक्षा, अवहेलना, अपमान पुरस्सर नहीं होता है अपितु सत्कार के साथ दान देता है। वस्तुतः यहाँ अनादार से दिया दान निष्फल हो जायेगा–यह भाव ही नहीं है, क्योंकि ऐसे में यह भी आशङ्का हो सकती है कि वह अविवेकपूर्ण प्रभूत दान से कोश की हानि भी कर सकता है। परन्तु चूँकि उसका प्रभूत दान गुणों के अनुरोध से होता था इसलिए गुणियों को आदर से प्रभूत दान देने में उक्त दोष के लिए अवकाश नहीं है। इस तरह नीतिज्ञ यह दुर्योधन गुणशाली जनों का ही आदर करता है, आदर करके उपहारादि के द्वारा उन्हें परितुष्ट करता है, उन्हें सन्तुष्ट कर मधुर वचनों से उनका अभिवादन करता है। इस प्रकार यह दुर्योधन अत्यन्त समीक्षा के साथ कार्य करने वाला है, यह सूचित होता है। प्रकृत श्लोक में दुर्योधन की साम और दान नीति (साम, दान, दण्ड, भेद इन चार नीतियों में से) का प्रतिपादन किया गया है।

समास–निरत्ययम्=निर्गतः अत्ययः यस्मात् तत्; दानवर्जितम्=दानेन वर्जितम्; सत्क्रियाम्=सत् (आदरः) तस्य क्रियाम्, मल्लिनाथ ने सत् को आदरार्थक अव्यय माना है 'सदित्यादरार्थेऽव्ययम्'; विशेषशालिनी=विशेषेण शालते इति; गुणानुरोधेन=गुणानाम् अनुरोधः तेन।

व्याकरण–निरत्ययम्=निर् अति+ई+अच्; वर्जितम्=वृज्+णिच्+क्त; दानेन=दा+ल्युट्+तृ.वि.ए.व., सत्=अस्+(लट्) शतृ; विरहय्य=वि+रह्+णिच्+ल्यप्; विशेष=वि+शिष्+घञ् तृ.वि.ए.व. विशेषशालिनी=विशेष+शाल्+णिनि; गुणानुरोधेन=गुण+अनु+रुध्+घञ्+तृ.वि.ए.व. (विना के योग में तृतीया विभक्ति हुई है–'पृथग्विनानानाभिस्तृतीयान्यतरस्याम्' अर्थात् पृथक्, बिना, नाना के योग में विकल्पतः तृतीया विभक्ति होती है।

अलङ्कार–प्रस्तुत श्लोक में एकावली अलङ्कार है। जहाँ पूर्व-पूर्व कथन के विशेषण के रूप में उत्तर-उत्तर कथन का विधान हो वहाँ एकावली होती है, जिसका लक्षण है–

स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परं परम्।
विशेषणतया वस्तु यत्र सैकावली द्विधा।।

जैसे प्रकृत श्लोक में साम, दान के बिना नहीं होता, दान सत्कार के बिना नहीं होता, सत्कार गुणानुरोध के बिना नहीं होता।

कोश–'अत्ययोऽतिक्रमे कृच्छ्रे दोषे दण्डेऽप्ययापदि' इत्यमरः। 'अत्यर्थमधुरं सान्त्वं सङ्गतं हृदयङ्गमम्' इत्यमरः। 'त्यागो विहापितं दानमुत्सर्जनविसर्जने विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं प्रतिपादनम्। प्रादेशनं–निर्वपण-मपवर्जनमंहतिः' इत्यमरः। 'पुरुहुः पुरु भूयिष्ठं स्फारं भूयश्च भूरि च' इत्यमरः।

13. वसूनि वाञ्छन्न वशी न मन्युना
स्वधर्म इत्येव निवृत्तकारणः।
गुरुपदिष्टेन रिपौ सुतेऽपि वा
निहन्ति दण्डेन स धर्मविप्लवम्॥13॥

अन्वय–वशी सः वसूनि वाञ्छन् न, मन्युना न, (किन्तु) निवृत्तकारणः स्वधर्म इत्येव गुरूपदिष्टेन दण्डेन रिपौ सुतेऽपि वा धर्मविप्लवं निहन्ति।

शब्दार्थ–वशी=जितेन्द्रिय, इन्द्रियों को अपने वश में रखने वाला; सः=वह (दुर्योधन), वसूनि=धन

को, वाञ्छन् न= न चाहता हुआ, मन्युना न=क्रोध के द्वारा नहीं, निवृत्तकारणः=(लोभ, क्रोध आदि) कारणों से रहित होकर, स्वधर्म इति एव=अपना धर्म है ऐसा मानकर ही; गुरूपदिष्टेन=गुरु (मनु आदि धर्माचार्यों) के द्वारा उपदेश दिया गया, दण्डेन=(राज्य) दण्ड के द्वारा, रिपौ=शत्रु में, सुते अपि=पुत्र में भी, वा=अथवा, धर्मविप्लवम्=धर्म (कर्तव्य) के उल्लंघन को, निहन्ति=नष्ट करता है।

अनुवाद–जितेन्द्रिय वह दुर्योधन न धन की आकांक्षा करता हुआ और न क्रोध से (दण्ड देता है) किन्तु (लोभ और क्रोध आदि) कारणों से रहित होकर 'यह मेरा धर्म है' ऐसा मान कर गुरुओं (मनु आदि) के द्वारा उपदिष्ट दण्ड के द्वारा शत्रु में अथवा पुत्र में धर्म के उल्लंघन का निवारण करता है।

व्याख्या–अपनी इन्द्रियों को नियन्त्रण मे रखने वाला वह दुर्योधन धन की इच्छा न करता हुआ अर्थात् लोभरहित होकर और न क्रोध के कारण अपनी प्रजा को दण्ड देता है। धर्मशास्त्र के अनुसार राजा को क्रोध और लोभ से रहित होना चाहिए 'क्रोधलोभविवर्जितः', अतः वह उसी मार्ग का आश्रयण कर, लोभक्रोधादि कारणों से रहित होकर मात्र अपने धर्म के पालन की तत्परता के कारण, मनु आदि के द्वारा निर्दिष्ट दण्ड विधान से पुत्र और शत्रु में भेद नहीं करता है। वस्तुतः यदि राजा अदण्डनीय को दण्ड देता है और दण्डनीय को दण्ड नहीं देता तो वह महान् अपयश को प्राप्त करता है जैसा कि कहा गया है–

अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति।।

इसीलिए महर्षि नारद के अनुसार जैसा कि मल्लिनाथ ने उल्लेख किया है–

धर्मशास्त्रं पुरस्कृत्य प्राड्विवाकमते स्थितः।
समाहितमतिः पश्येत् व्यवहाराननुक्रमात्।।

शत्रु और पुत्र दोनों में ही धर्म के अनतिक्रमण से उसका समदर्शित्व ध्वनित हो रहा है। यदि पुत्र भी अपराधी है तो वह उतना ही दण्ड का पात्र है जितना अपराधी होने पर शत्रु । इस तरह सम्बन्धियों के प्रति पक्षपात रहित है। राजा की बहुत बड़ी कसौटी है 'यथापराधदण्डानाम्' (रघुवंश) अपराध के अनुरूप दण्ड देना। दण्ड के प्रति लोभ क्रोधादि कारणों से रहित होकर वह 'स्वधर्म' के कारण प्रवृत्त होता है। वस्तुतः महाभारत में धर्म को परिभाषित करते हुए कहा गया है–'धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजा' अर्थात् धारण करने की सामर्थ्य के कारण ही 'धर्म' धर्म कहा जाता है। यदि धर्मविरुद्ध कार्य किया जायेगा तो निश्चित रूप से समाज में अराजकता एवं पतन की स्थिति व्याप्त होगी। धर्म समाज की स्थिरता का कारक है। इस तरह दुर्योधन धर्म मार्ग का अनुसरण कर अपने शासन को स्थिर कर रहा है यह भाव यहाँ ध्वनित है। कालिदास ने भी राजा दिलीप के सन्दर्भ में ऐसा ही भाव व्यक्त किया है–

द्वेष्योऽपि संमतः शिष्टस्तस्यार्तस्य यथौषधम्।
त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता।। रघुवंश, 1.28।

प्रस्तुत श्लोक में दुर्योधन की दण्ड नीति के नैपुण्य को प्रदर्शित किया गया है।

समास–स्वधर्मः=स्वस्य धर्मः, निवृत्तकारणः=निवृत्तानि कारणानि यस्मात्; गुरूपदिष्टेन=गुरुणा उपदिष्टः तेन; धर्मविप्लवम्=धर्मस्य विप्लवस्तम्, धर्मः=ध्रियतेऽनेन इति।

व्याकरण–वशी=वश्+इनि, वशः अस्यास्तीति। वाञ्छन्=वाञ्छ्+लट्+शतृ प्र.वि.ए.व.; मन्युना में तृतीया विभक्ति 'हेतौ तृतीया' से आयी। निवृत्तम्=नि+वृत्+क्त; उपदिष्टेन=उप+दिश्+क्त तृ.वि.ए.व.; धर्मः=धृ+मन्; विप्लव=वि+प्लु+अप्; निहन्ति=नि+हन्+लट् प्र.पु.ए.व.

छन्द–वंशस्थ।

अलङ्कार–अनुप्रास।

कोश–'द्रव्यं वित्तं स्वापतेयं रिक्थमृक्थं धनं वसु। हिरण्यं द्रविणं द्युम्नमर्थरैविभवा अपि' इत्यमरः। 'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इत्यमरः। 'हेतुनाकारणं बीजं निदानं त्वादिकारणम्' इत्यमरः। 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद् द्वेषणदुर्हृदः' इत्यमरः। 'आत्मजस्तनयः सूनुः सुतः पुत्रः, इत्यमरः। 'साहसं तु दमो दण्डः' इत्यमरः।

14. विधाय रक्षान् परितः परेतरा-
नशङ्किताकारमुपैति शङ्कितः।
क्रियाऽपवर्गेष्वनुजीविसात्कृताः
कृतज्ञतामस्य वदन्ति सम्पदः॥14॥

अन्वय–शङ्कितः परितः परेतरान् रक्षान् विधाय अशङ्किताकारम् उपैति। क्रियापवर्गेषु अनुजीविसात्कृताः सम्पदः अस्य कृतज्ञतां वदन्ति।

शब्दार्थ–शङ्कितः=संदेहग्रस्त, परितः=चारों ओर, सर्वत्र; परेतरान्=पर अर्थात् दूसरे उनसे (इतर) भिन्न अर्थात् आत्मीय जनों को, रक्षान् विधाय=रक्षक नियुक्त करके, अशङ्किताकारम्= शङ्कारहित आकार को, उपैति=प्राप्त करता है, धारण करता है। क्रियापवर्गेषु=कार्य के समाप्त (पूर्ण) होने पर, अनुजीविसात्कृताः=अनुजीवियों (सेवकों) द्वारा प्राप्त की गयी, सम्पदः=सम्पत्तियाँ, अस्य=इस दुर्योधन की, कृतज्ञताम्=उपकार भावना को (कृतज्ञ=किये हुए उपकार को जानने वाला, आभार का भाव), वदन्ति=कहती हैं।

अनुवाद–(आप लोगों से) भयभीत या सन्देहग्रस्त वह (दुर्योधन) सर्वत्र आत्मीय रक्षकों को नियुक्त करके, शङ्कारहित आकार को प्राप्त करता है। कार्य के पूर्ण होने पर सेवकों द्वारा प्राप्त की गयी सम्पत्तियाँ इस दुर्योधन की कृतज्ञता (आभार भाव) को कहती हैं।

व्याख्या–वस्तुतः दुर्योधन अत्यन्त शङ्कालु है, इसके मन में निरन्तर युधिष्ठिरादि से पराभाव की आशङ्का बनी रहती है; किन्तु नीतिज्ञ वह दुर्योधन सभी दिशाओं में अपने विश्वस्त सेवकों को नियुक्त करके स्वयं को चिन्तारहित प्रदर्शित करता है। 'परेतरान्' शब्द की जगह कवि आत्मीय आदि किसी अन्य विध्यात्मक शब्द का भी प्रयोग कर सकता था; किन्तु जैसे 'शिवेतर' शब्द का अर्थ निकलता है शिव (मङ्गल) से जो इतर (भिन्न) है अर्थात् अमङ्गल, शिवेतर में मङ्गलत्व का थोड़ा भी भाव नहीं है वैसे ही पर अर्थात् शत्रु से जो इतर हैं अर्थात् पूर्णतया स्वजन, आत्मीय जन, जिनकी विश्वसनीयता पर रञ्चमात्र भी सन्देह नहीं किया जा सकता ऐसे रक्षकों को चारों ओर (स्वराष्ट्र, परराष्ट्र आदि में) नियुक्त करके वह स्वभावतः शङ्कालु होते हुए भी अचिन्तित चेष्टा वाला स्वयं को प्रदर्शित करता है। यहाँ 'अशङ्किताकारम् उपैति' कह कर कवि यह कहना चाह रहा है कि वास्तव में वह अशङ्कित नहीं रहता, (क्योंकि उसको पहले ही 'शङ्कित;' (1.7 किरातार्जुनीय) पद से निरूपित कर चुके हैं); किन्तु अशङ्कित जैसी आकृति को धारण कर लेता है, दूसरे उसे अशङ्कालु जैसा समझते हैं। आकृति को धारण करता है (आकारमुपैति) कहकर उसके दोहरे चरित्र पर कटाक्ष किया गया है। यह कवि की अत्यन्त अल्प शब्दों में चरित्र-चित्रण की महनीय कुशलता है। जिसे मल्लिनाथ ने इन शब्दों में स्पष्ट किया है–'स्वयमविश्वस्तोऽपि विश्वस्तवदेव व्यवहरन्।'

कार्य की समाप्ति पर सेवकों द्वारा प्राप्त की गयी सम्पत्तियाँ दुर्योधन की कृतज्ञता को, आभारभाव को अभिव्यक्त करती हैं। यहाँ दुर्योधन स्वयम् उस कृतज्ञता के भाव को नहीं कहता, कहने का कार्य कौन कर रहा है? दुर्योधन के द्वारा प्रदत्त और सेवकों के द्वारा सात्कृत अर्थात् स्वायत्तीकृत सम्पत्तियाँ ही कहती हैं। मल्लिनाथ ने 'परेतरान्' पद के दो अर्थ किये हैं (1) आत्मीयान्=आत्मीयजनों को, विश्वासपात्र लोगों को रक्षक नियुक्त करके अर्थात् जो ठगने वाले नहीं हैं, (2) परान् इतरयन्ति भेदेनात्मसात्कुर्वन्ति इति परेतरान्' अर्थात् दूसरे (शत्रुओं) में भेद डालकर अपने पक्ष में कर लेने वाले। 'वदन्ति' (बोलती हैं) क्रिया चेतन सापेक्ष है, सम्पत्ति अचेतन होने से बोल नहीं सकती, इस तरह यहाँ मुख्यार्थ का बाध हो गया। तब लक्षणा द्वारा यह अर्थ निकलता है कि सम्पत्ति के द्वारा अभिव्यक्त होता है, ज्ञापित होता है। इस लाक्षणिक प्रयोग का हेतु है सम्पत्ति की प्रभूतता

को बतलाना। रहस्य को गुप्त रखने वाले रक्षक वृन्द को कार्य की समाप्ति पर पारितोषिक के रूप में प्रभूत सम्पत्ति देकर वह सम्पत्ति के माध्यम से अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है। पूर्व श्लोकों में दुर्योधन के साम, दान, दण्ड नीतियों का निरूपण किया जा चुका है, यहाँ उसकी भेद नीति को सम्यक्रूपेण ख्यापित किया जा रहा है।

समास–परेतरान्=(1) परेभ्यः इतरे इति परेतरे, तान् परेतरान् (पञ्चमी तत्पु); (2) परः इतरः येभ्यः ते परेतराः, तान् (बहुव्रीहि) विशेष=परेतर में जब पञ्चमी तत्पुरुष समास होगा तब 'इतर' शब्द सर्वनाम होगा; किन्तु बहुव्रीहि में 'न बहुव्रीहौ' सूत्र से उसका निषेध हो जाने से 'इतर' अकारान्त संज्ञा शब्द की भाँति होगा। अशङ्किताकारम्=अशङ्कितस्य आकारः, (षष्ठी तत्पुरुष) तम्; क्रियापवर्गेषु=क्रियाणाम् अपवर्गः, तेषु (षष्ठी तत्पुरुष); कृतज्ञताम्=कृतं जानाति इति कृतज्ञः, कृतज्ञस्य भावः=कृतज्ञता, ताम्।

व्याकरण–शङ्कित=शङ्का+इतच्; शङ्का सञ्जाता अस्य इति।

परितः के योग में 'रक्षान्' में (अभितःपरितः समयानिकषा हा प्रतियोगेऽपि) वार्तिक से द्वितीया विभक्ति हुई। रक्षान् का विशेषण परेतरान् है, चूँकि विशेषण में विशेष्य के अनुरूप ही विभक्ति होती है, अतः उसमें भी द्वितीया विभक्ति हुई।

रक्षान्=रक्ष्+अच् द्वि.वि. बहुवचन; विधाय=वि+धा+ (क्त्वा) ल्यप्; आकार=आ+कृ+घञ्; उपैति=उप+इ+लट् प्र.पु.ए.व.; अनुजीविसात्कृताः=अनुजीविन्+ साति = अनुजीविसात्+कृ+क्त+टाप्; सम्पदः=सम्+पद्+क्विप् प्र.वि. बहुवचन; कृतज्ञताम्=कृ+क्त+ज्ञा+क=कृतज्ञ+तल्+टाप्=कृतज्ञताम् द्वि.वि.ए.व.; वदन्ति=वद्+लट् प्र.पु. बहुवचन।

कोश–'समन्ततस्तु परितः सर्वतो विष्वगित्यपि' इत्यमरः। 'अपवर्गोऽवसानन्तुमोक्षोऽपि च निगद्यते' इति। 'अथ सम्पदि सम्पत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च' इत्यमरः।

अलङ्कार–रेफ और तकार की अनेक बार आवृत्ति होने से वृत्यनुप्रास।

छन्द–वंशस्थ।

15. **अनारतं तेन पदेषु लम्भिता**
विभज्य सम्यग् विनियोगसत्क्रियाः।
फलन्त्युपायाः परिबृंहितायती–
रुपेत्य सङ्घर्षमिवार्थसम्पदः॥15॥

अन्वय–तेन पदेषु सम्यक् विभज्य विनियोगसत्क्रियाः लम्भिताः उपायाः सङ्घर्षम् उपेत्य इव परिबृंहितायतीः अर्थसम्पदः अनारतं फलन्ति।

शब्दार्थ–तेन=उस दुर्योधन के द्वारा, पदेषु=उचित स्थानों में, उपादेय वस्तुओं में; विभज्य=विभाजन करके, लम्भिताः=प्राप्त कराये गये, सम्यग्विनियोगसत्क्रियाः=उचित प्रयोग के द्वारा जिनका सत्कार किया गया है, वे उपायाः=(राजनीति के) उपाय (साम, दान, दण्ड, भेद रूप चार उपाय) संघर्षम् उपेत्य इव=मानो परस्पर स्पर्धाभाव को प्राप्त हुए से, परिबृंहितायतीः=जिनकी कालक्षमता (अवधि) वृद्धियुक्त हो, स्थिर भविष्यवाली; अर्थसम्पदः=धन सम्पत्तियों को, अनारतम्=निरन्तर, फलन्ति=उत्पन्न करते हैं।

अनुवाद–उस राजा दुर्योधन के द्वारा उपादेय वस्तुओं में यथोचित विभाग करके (यथास्थान प्रयुक्त) उचित प्रयोग के द्वारा समादृत हुए उपाय (साम, दान, दण्ड, भेद) मानों परस्पर स्पर्धाभाव को प्राप्त हुए से, स्थिर भविष्य वाली सम्पत्तियों को निरन्तर उत्पन्न करते हैं।

व्याख्या–प्रस्तुत श्लोक में महाकवि भारवि ने साम, दान, दण्ड, भेद रूप उपायों के सम्यक् प्रयोग की फलवत्ता को प्रदर्शित किया है। दुर्योधन अच्छी प्रकार से विवेचन करके सामादि उपायों का प्रयोग करता

है। सामादि उपाय तभी सफल होते हैं, जब इनका उचित प्रयोग हो अन्यथा ये प्रयोक्ता को ही नष्ट कर देते हैं। यथोचित स्थल में सामादि उपायों का विनियोग ही वस्तुतः उनका सत्कार है। इस तरह उचित प्रयोग से सत्कृत ये उपाय मानों परस्पर स्पर्धा को प्राप्त होकर, स्थिर भविष्य वाली अर्थसम्पत्तियों को निरन्तर उत्पन्न करते हैं।

प्रकृत प्रसंग में दुर्योधन की नीतिज्ञता को ख्यापित किया जा रहा है। वह विवेकी है, इसलिए अपने कार्य को योजनाबद्ध रीति से करता है, 'सम्यक् विभज्य' पद उसकी इस विवेचन क्षमता को इंगित कर रहा है। यहाँ उपायों का मानवीकरण किया गया है। कोई भी व्यक्ति सत्कार से सत्त्वोत्कर्ष को प्राप्त करता है। परिणामतः अहम् अहम् पूर्विकया (पहले हम, पहले हम–ऐसे परस्पर में होड़ लगाते हुए ये चारों उपाय) स्थिर भविष्य वाली सम्पत्तियों को उत्पन्न करते हैं। वस्तुतः स्पर्धा के माध्यम से कवि यह दिखाना चाहते हैं कि यह नहीं कहा जा सकता कि सम्पत्ति के परिबृंहण में मात्र साम का योगदान है, या मात्र दान का या मात्र दण्ड का या मात्र भेद का। सभी का योगदान एक से बढ़कर एक है और इस स्पर्धाभाव के माध्यम से इन चारों ही उपायों में दुर्योधन की समान गति का भी आभास होता है।

वनेचर यहाँ निरन्तर बढ़ती हुई सम्पत्ति के माध्यम से यह द्योतित करना चाह रहा है कि दुर्योधन शक्तिशाली होता जा रहा है उसकी उपेक्षा अब उचित नहीं, अन्यथा उसे पराजित करना अत्यन्त दुष्कर हो जायेगा। किरातार्जुनीय के सोलहवें सर्ग में स्वयं भारवि ने कहा है कि रोग के सदृश कार्य है जिसका ऐसी अल्प भी शत्रु की वृद्धि महान् अपकार करने वाली होती है–'अल्पीयसोऽप्यामयतुल्यवृत्तेर्महापकाराय रिपोर्विवृद्धिः' अतः अल्प भी रोग और अल्प भी शत्रु अनुपेक्षणीय है।

समास–विनियोगसत्क्रियाः=विनियोगः एव सत्क्रियाः ताः (द्वि.वि. बहुवचन, कर्मधारय समास), उपायाः=उपैति उपायते वा एभिः, परिबृंहितायतीः=परिबृंहिता आयतिः यासां ताः (द्वि.वि. बहुवचन), अर्थसम्पदः=अर्थानां सम्पत् इति अर्थसम्पत्, ताः (द्वितीया वि. बहुवचन), अनारतम्=न आरतम् (नञ् तत्पुरुष)।

व्याकरण–विभज्य=वि+भज्+(क्त्वा)+ल्यप्; विनियोगः=वि+नि+युज्+घञ्; लम्भिताः=लम्भ्+णिच्+क्त; उपायाः=उप+इण्+अच्; सङ्घर्षम्=सम्+घृष्+घञ्; उपेत्य=उप+इण्+(क्त्वा) ल्यप्; परिबृंहिता=परि+बृह्+णिच्+क्त+टाप्; आयति=आ+यम्+क्तिन्; आरतम्=आ+रम्+क्त; फलन्ति=फल+लट्।

अलङ्कार–प्रकृत श्लोक में 'उपेत्य इव' प्रयोग के कारण उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। वास्तव में सामादि उपाय प्रतिस्पर्धा नहीं करते; किन्तु यहाँ सभी के उत्कर्षाधायक योगदान के कारण प्रतिस्पर्धा की सम्भावना की जा रही है।

छन्द–वंशस्थ।

कोश–'सततानारताश्रान्तसन्तताविरतानिशम्' इत्यमरः। 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः।' 'उत्तर; कालः आयतिः' इत्यमरः।

16. अनेकराजन्यरथाश्वसङ्कुलं
तदीयमास्थाननिकेतनाजिरम्।
नयत्ययुग्मच्छदगन्धिरार्द्रतां
भृशं नृपोपायनदन्तिनां मदः॥16॥

अन्वय–नृपोपायनदन्तिनां अयुग्मच्छदगन्धिः मदः अनेकराजन्यरथाश्वसंकुलं तदीयम् आस्थाननिकेतनाजिरं भृशम् आर्द्रतां नयति।

शब्दार्थ–अयुग्मच्छदगन्धिः=सप्तपर्णनामक वृक्ष के पुष्प के समान गन्ध वाला, नृपोपायन-दन्तिनाम्=राजाओं के द्वारा भेंट में दिये गये हाथियों का, मदः=मदजल (हाथियों के गण्डस्थल से निकलने वाला द्रवविशेष), अनेकराजन्यरथाश्वसंकुलम्=अनेक राजाओं के रथों और अश्वों से भरे हुए, तदीयम्=उस (दुर्योधन) के,

आस्थाननिकेतनाजिरम्=सभाभवन के आँगन को, भृशम्=अत्यधिक, आर्द्रताम्=गीलेपन को, नयति=प्राप्त कराता है।

अनुवाद–राजाओं के द्वारा उपहार में दिये हाथियों का सप्तपर्णपुष्प के समान गन्ध वाला मदजल, अनेक क्षत्रिय-राजपुत्रों (राजन्यः) के रथों एवम् अश्वों के सङ्कुल उस (दुर्योधन) के सभामण्डप के आँगन को अत्यन्त कीचड़ युक्त (पंकिल) बनाये रहते हैं।

व्याख्या–इस श्लोक के द्वारा वनेचर दुर्योधन की प्रभूत अर्थ सम्पत्ति का प्रतिपादन कर रहा है। इस श्लोक में 'मदः' मदजल कर्त्ता है, आर्द्रतां=पङ्किलता कर्म है, नयति क्रिया है। 'मद' के विशेषण हैं 'अयुग्मच्छदगन्धिः नृपोपायनदन्तिनां' ये पद। राजाओं के द्वारा उपहार में दिये गये हाथियों के मदजल। प्रकृत में उपायन का अर्थ उपहार या भेंट से है। 'उपयनानि एव दन्तिनः इति उपायनदन्तिनः' उपहार और दन्ती में रूपक है, अभेद है, जो उपहार है वही दन्ती है। दन्तिनः ऐसे हाथियों को कहते हैं जो प्रशस्त दाँतों से युक्त हों 'प्रशस्तौ दन्तौ येषां स्तः इति दन्तिनः। नृपोपायनदन्तिनां पद का अर्थ हुआ=राजाओं के द्वारा उपहारस्वरूप दिये हाथियों के। युग्म कहते हैं जोड़े को, दो-दो का समूह जिसे सम भी कह सकते हैं। जैसे–दो, चार, छः ये युग्म (सम संख्या) को सूचित करने वाली संख्या है जिसमें युग्म न हो उसे ही अयुग्म कहा गया है जैसे तीन, पाँच, सात आदि की संख्यायें अयुग्म हैं। चूँकि सप्तपर्ण वृक्ष की प्रत्येक टहनी में सात पत्ते होते हैं, अतः उसे अयुग्मच्छद (छद=पत्ता) कहा गया है। इसे ही अमरकोश में 'विषमच्छद' पद से कहा गया है। अयुग्मच्छद का विकार अर्थात् उसके पुष्प अर्थ में 'तस्य विकारः' सूत्र से अण् प्रत्यय होगा, किन्तु 'पुष्पमूलेषु बहुलम्' वार्तिक से उस अण् प्रत्यय का लोप हो जाता है और 'द्विहीनं प्रसवं सर्वम्' इस नियम से पुष्प और फल सूचक शब्दों के सदैव नपुंसकलिङ्ग में प्राप्ति के कारण, पुष्प अर्थ में 'सप्तच्छदम्' भी नपुंसकलिङ्ग में प्राप्त होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'अयुग्मच्छदगन्धिः' पद में 'अयुग्मच्छद' पद पुष्प अर्थ में प्रयुक्त है। फलतः अर्थ होगा सप्तपर्ण के पुष्प के गन्ध के समान गन्ध है जिसका ऐसा मदजल। यहाँ मदजल के गन्ध की उत्कटता को द्योतित करने के लिए सप्तपर्ण के पुष्प से उपमा दी गयी है। अतः इस पूरे वाक्य का अर्थ इस प्रकार हुआ कि (अधीनस्थ) राजाओं के द्वारा उपहारस्वरूप दिये गये प्रशस्त दाँतों वाले हाथियों के, सप्तपर्ण के पुष्प के गन्ध के समान गन्ध वाले मदजल, दुर्योधन के सभामण्डप के प्राङ्गण को अत्यधिक आर्द्रता को प्राप्त कराता है। 'आस्थाननिकेतनाजिरम्' का विशेषण है–'अनेकराजन्यरथाश्वसंकुलम्' पद। राजन् शब्द से अपत्यार्थक यत् प्रत्यय लगने पर 'राजन्यः' पद बनता है जिसका अर्थ है राजाओं की क्षत्रिय सन्तान। अगणित क्षत्रिय राजपुत्रों के रथों और अश्वों के समूह से युक्त उस दुर्योधन के सभामण्डप का प्राङ्गण । वस्तुतः 'आस्थाननिकेतनाजिरम्' में तीन शब्द हैं। जिसमें स्थित हुआ जाये उसे आस्थान कहते हैं, जिसमें निवास किया जाये वह निकेतन है और अजिर का तात्पर्य आँगन है। राजाओं के उपहार में दिये गये हाथियों के मदजल से आँगन का पंकिल होना और राजाओं के रथों और घोड़ों से आँगन का भरा होना–यह दुर्योधन के प्रभुत्व और ऐश्वर्य दोनों का द्योतक है। उपहार और कर देने वाले राजाओं से आँगन का भरा होना–जहाँ उसके सम्पत्ति के एकत्रीकरण को सूचित कर रहा है, वहीं (राजन्य) क्षत्रिय राज्यपुत्रों का इकट्ठा होना उसके शक्ति के पुंजीकरण को और लोकप्रियता की ओर अग्रसर होने की बात को भी सूचित कर रहा है।

समास–नृपोपायदन्तिनां=उपायनानि एव दन्तिनः इति उपायनदन्तिनः (कर्मधारय), नृपाणाम् उपायनदन्तिनः इति नृपोपायनदन्तिनः (षष्ठी तत्पु), तेषां मदः।

अयुग्मच्छदगन्धि=न युग्मः=अयुग्मः (नञ् तत्पु), अयुग्माः छदाः (पत्राणि) यस्य सः अयुग्मच्छदः (बहुव्रीहि समास); तस्य विकारः पुष्पम् इति=अयुग्मच्छदम्; अयुग्मच्छदस्य गन्धः इव गन्धः अस्य इति=यहाँ (सप्तम्युपमानपूर्वस्योत्तरपदलोपश्च वक्तव्यः) वार्तिक से विग्रह में पूर्वपद 'अयुग्मच्छदगन्धः' उपमान है अतः बहुव्रीहि समास हुआ और उत्तर पद अर्थात् द्वितीय 'गन्ध' शब्द का लोप हो गया तो शब्द बना अयुग्मच्छदगन्ध=(उपमानाच्च) इस नियम से (सूत्र का अर्थ है उपमान पद के बाद अन्त में आने वाले शब्द

को इकार अन्तादेश हो) 'गन्ध' शब्द के अन्त में 'इ' आदेश हो गया और शब्द बना=अयुग्मच्छदगन्धिः। इसी तथ्य को टीकाकार मल्लिनाथ ने इन शब्दों में संक्षेप में अभिव्यक्त किया है–अयुग्मच्छदस्य सप्तपर्णपुष्पस्य गन्ध इव गन्धो यस्यासावयुग्मच्छदगन्धिः। 'सप्तम्युपमान'–इत्यादिना बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च। 'उपमानाच्च' इति समासान्त इकारः। अनेक राजन्यरथाश्वसङ्कुलम्=न एके इति अनेके (नञ्तत्पुरुष) अनेके राजन्या इति अनेक राजन्याः (कर्मधारय) अनेक राजन्यानां रथाश्वम् इति=अनेकराजन्यरथाश्वम् (षष्ठी तत्पु.) अनेकराजन्यरथाश्वेन सङ्कुलम् इति=अनेकराजन्यरथाश्व सङ्कुलम् (तृतीया तत्पु.) रथाश्वम्=रथाश्च अश्वाश्च तेषां समाहारः इति रथाश्वम् (द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्) सूत्र से समाहारद्वन्द्व; एकवचन और नपुंसकलिङ्गता)। आस्थाननिकेतनाजिरम्=आस्थानस्य निकेतनम् इति आस्थाननिकेतनम् (षष्ठी तत्पु.) तस्य अजिरम् (षषठी तत्पु.) तत्।

व्याकरण–उपायन=उप+इ+ल्युट्। दन्तिनः=दन्त+इनि; राजन्यः=राजन्+यत्; सङ्कुलम्=सम्+कुल्+क; तदीयम्=(तस्य इदम्) तद्+छ>ईय=तदीय+सु>अम्; आस्थान=आ+स्था+ल्युट्; निकेतनम्=नि+कित्+ल्युट्, आर्द्रताम्=आर्द+तल्+टाप्, आर्द्रस्य भावः आर्द्रता, ताम्; नयाते=नी+लट्।

अलङ्कार–प्रस्तुत श्लोक में दुर्योधन के लोकातिशय वैभव का वर्णन होने से 'उदात्त' अलङ्कार है। जिसका लक्षण मल्लिनाथ ने अलङ्कारसूत्र से इस प्रकार किया है–'समृद्धिमद्वस्तुवर्णनमुदात्तः'। नकार की अनेक बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास अलङ्कार है।

छन्द–वंशस्थ।

कोश–'सप्तपर्णो विशालत्वक् शारदो विषमच्छदः' इत्यमरः। 'उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा' इत्यमरः। 'अङ्गनं चत्वराजिरे' इत्यमरः। 'घोटकेवीतितुरगतुरङ्गाश्चतुरङ्गमाः' वाजिवाहार्वगन्धर्वहयसैन्धवसप्तयः। इत्यमरः। 'गण्डः कटो मदो दानम्' इत्यमरः।

17. सुखेन लभ्या दधतः कृषीवलै-
रकृष्टपच्या इव सस्यसम्पदः।
वितन्वति क्षेममदेवमातृका-
श्चिराय तस्मिन् कुरवश्चकासति॥17॥

अन्वय–चिराय तस्मिन् क्षेमं वितन्वति अदेवमातृकाः कुरवः अकृष्टपच्या इव कृषीवलैः सुखेन लभ्याः सस्यसंपदः दधतः चकासति।

शब्दार्थ–चिराय=बहुत समय से (यहाँ यह अव्यय शब्द है), तस्मिन्=उस (दुर्योधन) में, क्षेमम्=कल्याण को, वितन्वति (सति)=फैलाते (सम्पादन करते) रहने पर, अदेवमातृकाः= वर्षा के जल (बादल) पर आश्रित न रहने वाला, कुरवः=कुरुप्रदेश, अकृष्टपच्या इव=बिना जोती हुई भूमि में ही पकी हुई सी, कृषीवलैः=कृषकों के द्वारा, सुखेन=आसानी से, बिना परिश्रम के; लभ्य=प्राप्त होने वाली, सस्यसम्पदः=फसलों की समृद्धि को, दधतः=धारण करते हुए, चकासति=सुशोभित हो रहा है।

अनुवाद–बहुत समय से उस दुर्योधन के (प्रजा के) कल्याण का विस्तारक होने से वर्षा के जल पर आश्रित न रहने वाला कुरु प्रदेश बिना जोती हुई भूमि में ही पकी हुई सी (तथा) कृषकों के द्वारा आसानी से प्राप्त होने वाली फसलों की समृद्धि को धारण करता हुआ सुशोभित हो रहा है।

व्याख्या–प्रकृत श्लोक में दुर्योधन के द्वारा प्रजा के उपकार के लिए की गयी कल्याणप्रद योजनाओं का निर्देश किया गया है। बहुत समय से दुर्योधन के प्रजा के कल्याण का विस्तारक बने रहने पर कुरुप्रदेश वर्षा के जल के अधीन नहीं है। 'अदेवमातृकाः' में देव शब्द का अर्थ मल्लिनाथ ने पर्जन्य किया है। पर्जन्य कहते हैं बरसने वाले बादलों को। देवः माता येषां ते=देवमातृकाः, पर्जन्य या बरसने वाले बादल ही जिनकी माता हो ऐसे किसानों को 'देवमातृकाः' कहेंगे। जिस तरह माँ शिशु का पोषण करती है वैसे ही ये कृषक अपने

पोषण (अन्नोत्पादन) के निमित्त वर्षा पर आश्रित रहते हैं; किन्तु जो कृषक वर्षा के जल के आश्रित नहीं होते, उनके पास क्षेत्रसिंचन के अन्य साधन उपलब्ध होते हैं उन्हें अदेवमातृकाः कहते हैं। इन्हें ही अमरकोश में नदीमातृका कहा गया है। यथा–"देशो नद्यम्बुवृष्ट्यम्बुसम्पन्नव्रीहिपालितः। स्यान्नदीमातृको देवमातृकश्च यथाक्रमम्।"

इस तरह दुर्योधन ने अपने कृषकों को 'अदेवमातृक' अर्थात् पर्जन्य पर आश्रित न करके उनके लिए सिंचाई के साधन के रूप में कुओं, नहरों, जलाशयों आदि का निर्माण करा दिया है। सिंचाई के सुखद प्रबन्ध के कारण कुरुप्रदेश के कृषकों को कोई कष्ट नहीं है। अत्यन्त सहजता से, अत्यल्प श्रमसाध्य कृषि कार्य को कवि ने 'अकृष्टपच्याः' शब्द से अभिव्यक्त करने की चेष्टा की है। खेत की जुताई आदि के उपरान्त जो फसल पकाई जाती है उसे 'कृष्टपच्या' कहते हैं। कवि उत्प्रेक्षा कर रहे हैं कि कुरुप्रदेश मानों बिना जुताई के ही पकी हुई; किसानों के द्वारा बिना किसी आयास के प्राप्त होने योग्य कृषि की समृद्धियों को धारण करते हुए सुशोभित हो रहा है।

कृषि कार्य के दैवाधीन न होने से, सुख साध्य होने से और अन्न की विपुलता से प्रजा का सुख सम्भावित किया जा सकता है। प्रजा के सुख, सन्तोष से दुर्योधन की स्थिरता और इन सबका प्रतिफल यह होगा कि युधिष्ठिरादि के लिए दुर्योधन को पराजित कर सकना दुष्कर हो जायेगा। सम्पन्न जनपद और प्रजा के लिए अकष्टकारक होने से यह दुर्योधन दुःसाध्य हो रहा है।

समास–अकृष्टपच्याः=कर्षणेन पच्यन्ते इति कृष्टपच्याः, न कृष्टपच्याः इति (नञ् तत्पुरुष); सस्यसम्पदः=सस्यानां सम्पदः इति ताः (षष्ठी तत्पु.); अदेवमातृकाः=देवः माता येषां ते=देवमातृकाः (बहुव्रीहि समास, समासान्त कप् प्रत्यय), न देवमातृकाः इति अदेवमातृकाः (नञ् तत्पु.)।

व्याकरण–चिराय=यह द्वितीया के अर्थ में सुबन्त प्रतिरूपक अव्यय है। तस्मिन् क्षेमं वितन्वति के अर्थ को स्पष्ट करते हुए मल्लिनाथ ने यहाँ सति-सप्तमी का प्रयोग माना है। इस वाक्य का अर्थ होगा 'दुर्योधने क्षेमकरे सति=अर्थात् दुर्योधन के कल्याणसाधक बने रहने पर (यस्य च भावेन भावलक्षणम्) सूत्र से सती-सप्तमी होगी।

वितन्वति=वि+तन्+शतृ+सप्तमी वि. एकवचन; कुरवः=कुरु+अण्+जनपदे लुप्; कृष्टेन=कृष्+क्त तृ.वि.ए.व.; कृष्टपच्याः=कृष्ट + पच् +क्यप्, कृषीवलैः=कृषि+वलच् (वले) सूत्र से वलच् प्रत्यय परे रहने पर पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ हो जाता है, अतः 'कृषि' के ह्रस्व इकार को दीर्घ हो गया है।

लभ्याः=लभ्+यत्; सुखेन=इस पद में तृतीया विभक्ति 'प्रकृत्यादिभ्यः उपसंख्यानाम्' सूत्र से हुई है; दधतः=धा+लट्+शतृ प्र.वि. बहुवचन; चकासति=चकास+लट्।

अलङ्कार–'अकृष्टपच्या इव' में उत्प्रेक्षा।

छन्द–वंशस्थ।

कोश–'चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः' इत्यमरः।

'श्वः श्रेयसं शिवं भद्रं कल्याणं मङ्गलं शुभम्।

'भावुकं भाविकं भव्यं कुशलं क्षेममस्त्रियाम्' इत्यमरः।

'क्षेत्राजीवः कर्षकश्च कृषिकश्च कृषीवलः' इत्यमरः।

18. **उदारकीर्तेरुदयं दयावतः**
प्रशान्तबाधं दिशतोऽभिरक्षया।
स्वयं प्रदुग्धेऽस्य गुणैरुपस्नुता
वसूपमानस्य वसूनि मेदिनी॥18॥

अन्वय–उदारकीर्तेः दयावतः प्रशान्तबाधम् अभिरक्षया उदयं दिशतः वसूपमानस्य अस्य गुणैः

उपस्नुता मेदिनी वसूनि स्वयं प्रदुग्धे।

शब्दार्थ–उदारकीर्तेः=अति यशस्वी, महान् यश वाले; दयावतः=दयालु, प्रशान्तबाधम्=निर्विघ्न रूप से अथवा शान्त हो गयी हैं बाधायें जिनमें ऐसे, अभिरक्षया=रक्षा से, सार्वत्रिक सुरक्षा के द्वारा; उदयम्=अभ्युदय (उन्नति) को, दिशतः=सम्पन्न करते हुए, वसूपमानस्य=वसु अर्थात् कुबेर जिसके उपमान हों, कुबेर सदृश; अस्य=इस (दुर्योधन) के, गुणैः=(दया, दान, दाक्षिण्यादि) गुणों के द्वारा, उपस्नुता=द्रवीभूत हुई, समाकृष्ट की गयी; मेदिनी=पृथ्वी, वसूनि=सम्पत्तियों को, धनों को; स्वयम्=अपने आप, प्रदुग्धे=दुह देती है अर्थात् प्रदान कर देती है।

अनुवाद–महायशस्वी, दयावान् निर्विघ्न संरक्षण से (प्रजा की) उन्नति को सम्पादित करते हुए, कुबेर के समान इस (दुर्योधन) के गुणों से द्रवीभूत पृथ्वी स्वयं (सम्पदाओं को प्रस्तुत कर देती है) ही धन को दुह रही है।

व्याख्या–प्रस्तुत श्लोक में दुर्योधन को 'वसूपमानस्य' के द्वारा कुबेर के समान ऐश्वर्यशाली कहा गया है, परन्तु इसका ऐश्वर्य स्थिर नहीं है, निरन्तर इसका ऐश्वर्य, इसकी धन-सम्पदा बढ़ती ही जा रही है, उसके लिए इसे आयास भी नहीं करना पड़ता, स्वयं पृथ्वी इसके गुणों से द्रवीभूत हो इसे धन प्रदान कर रही है। वनेचर युधिष्ठिर से बताता है कि वह दुर्योधन अत्यन्त यशस्वी, दयालु अर्थात् दूसरे के दुःख को दूर करने की इच्छा वाला है तथा अनवरत प्रजासंरक्षण में संलग्न (प्रजा के अनुराग का पात्र) तथा प्रजा के द्वारा अनुगमन किये जाते हुए इस दुर्योधन का कोषागार निरन्तर भरता ही रहता है, कभी रिक्त नहीं होता। निर्विघ्न रूप से सार्वत्रिक सुरक्षा के द्वारा प्रजा की उन्नति को सम्पन्न करने में अर्थात् प्रजा के कल्याण साधन में इसका प्रभूत धन व्यय को प्राप्त होता है; किन्तु रत्नगर्भा यह पृथ्वी कुबेर के समान इस दुर्योधन के दया दाक्षिण्यादि गुणों से द्रवित की गयी स्वयमेव धन को दुह देती है। जैसे अपने वत्स (बछड़े) के वात्सल्य से अभिभूत गाय स्वतः दूध (बहाने लगती है) प्रस्रवित करने लगती है, वैसे ही वत्सायमान इस दुर्योधन के लिए पृथ्वी स्वयं धन को प्रदान कर रही है। स्वतः दुग्ध प्रस्रवण में हेतु है गुण।

किसी भी राज्य की उन्नति तथा सुशासन का ख्यापक है–प्रजा में शान्ति, सन्तोष, सुख और समृद्धि। ये सभी दुर्योधन के राज्य में है। प्रजा भी प्रभूत धन का उपार्जन कर रही है और प्रजा से दुर्योधन को भी निर्विघ्न रूप से अनवरत धन प्राप्त हो रहा है। गुप्तचर इस तथ्य की ओर सङ्केत करना चाह रहा है कि आर्थिक दृष्टि से समृद्ध राष्ट्र के अधिपति को पराजित कर सकना सुकर नहीं है।

समास–उदारकीर्तेः=उदारा:कीर्तिः यस्य सः (बहुब्रीहि); प्रशान्तबाधम्=(1) प्रशान्ता बाधा यस्मिन् कर्मणि तत्, (2) प्रशान्ता बाधा यस्मिन् सः प्रशान्तबाधः (उदयः) तम्; वसूपमानस्य=वसुः उपमानं यस्य सः तस्य।

व्याकरण–उदारा=उद्+ऋ+घञ्+टाप्; कीर्तिः=कृ+क्तिन्; दयावतः=दया+वतुप्ः दया अस्ति अस्य इति दयावान्, तस्य; प्रशान्ता=प्र+शम्+क्त+टाप्; बाधा=बाध्+अ+टाप्; अभिरक्षया=अभि+रक्ष्+अ+टाप् तृ.वि.ए.व. उदयम्=उत्+इ+अच् द्वि.वि.ए.व.; दिशतः=दिश्+लट्+शतृ ष.वि.ए.व.; उपस्नुता=उप+स्नु+क्त+टाप्; प्रदुग्धे+प्र+दुह्+लट्।

अलङ्कार–प्रस्तुत पद्य में समासोक्ति अलङ्कार है। प्रकृत स्थल में पृथ्वी उपमेय है तथा गाय उपमान है। दोहनरूपी व्यापार, पृथ्वी और गो दोनों पर ही घटित हो रहा है। जब समान कार्य, लिङ्ग अथवा विशेषण द्वारा प्रस्तुत पदार्थ में (उपमेय) अप्रस्तुत (उपमान) पदार्थ के व्यवहार का आरोप हो तो उसे समासोक्ति कहते हैं। समासोक्ति का लक्षण है–'समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः। व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः।।'

यहाँ प्रतीयमान गाय के साथ पृथ्वी में भेद होने पर भी गाय और पृथ्वी में अभेद लक्षणातिशयोक्ति है, ऐसा मल्लिनाथ का मानना है।

छन्द–वंशस्थ।

कोश–कारुण्यं करुणा घृणा: कृपा दयाऽनुकम्पा स्याद्' इत्यमरः। 'गोत्रा कुः पृथिवी पृथ्वी क्ष्माऽवनिर्मेदिनी मही' इत्यमरः। 'उदारो दातृमहतोः' इत्यमरः।

19. **महौजसो मानधना धनार्चिता**
धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्तयः।
नसंहतास्तस्य नभिन्नवृत्तयः
प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम्॥19॥

अन्वय–महौजसः मानधनाः धनार्चिताः संयति लब्धकीर्तयः, नसंहता न भिन्नवृत्तयः धनुर्भृतः असुभिः तस्य प्रियाणि समीहितुं वाञ्छन्ति।

शब्दार्थ–महौजसः=महाबलशाली, मानधनाः=मानरूपी धन वाले, स्वाभिमानी; धनार्चिताः=धन के द्वारा सम्मानित, संयति=युद्ध में, लब्धकीर्तयः=कीर्ति को प्राप्त किये हुए, न संहता=(स्वार्थवश या राजा के विरोध में) संगठित न होने वाले, गुटबन्दी न करने वाले; न भिन्नवृत्तयः=जिनका व्यवहार भिन्न न हो, धनुर्भृतः=धनुर्धारी, योद्धा, वीर। असुभिः=प्राणों से, अपने जीवन को समर्पित करके। तस्य=उस (दुर्योधन) के, प्रियाणि=प्रिय (अभिलषित, हितकर) कार्यो को; समीहितुम्=सम्पन्न करने के लिए, वाञ्छन्ति=इच्छा करते हैं।

अनुवाद–अत्यन्त बलशाली, मान को ही धन मानने वाले, (दुर्योधन के द्वारा) धन से सम्मानित, युद्ध में कीर्ति को प्राप्त किये हुए, (स्वार्थसिद्धि के लिए) परस्पर संगठित न होने वाले, अविरुद्ध व्यवहार वाले धनुर्धारी योद्धा अपने प्राणों के द्वारा उस (दुर्योधन) के प्रिय को सम्पन्न करने की इच्छा करते हैं।

व्याख्या–सेना राजा का बल कहलाती है। राज्य और राजा की सुरक्षा सेना के अधीन है। यह दुर्योधन की शासन कुशलता का परिणाम है कि उसकी सेना में निर्बल, स्वार्थी, गुटबन्दी करने वाले, अनुशासनहीन सैनिक नहीं है। दुर्योधन की सेना में स्थित योद्धाओं के स्वरूप का निर्वचन इस प्रकार किया गया है। दुर्योधन के योद्धा अत्यन्त बलशाली हैं, महा+ओजस् (बल) सम्पन्न हैं। यदि वे बलशाली न हों तो राजा का किसी प्रकार उपकार नहीं कर सकेंगे। अतः योद्धाओं की पहली आवश्यकता उनका बल है। वे योद्धा कुलशील आदि के अभिमान को ही धन मानने वाले हैं। (मानधनाः), यदि इस स्वाभिमान का भाव न होता तो बल के दर्प में विपरीत आचरण भी कर सकते थे। वे दुर्योधन से धन के द्वारा सम्मानित हैं अर्थात् दुर्योधन उनके कार्यों के लिए पारितोषिक के रूप में प्रचुर धन प्रदान करता है, अन्यथा दारिद्र्यवश वे उसे छोड़ भी सकते थे। युद्ध में कीर्ति को प्राप्त कर चुके हैं अर्थात् युद्ध में पलायित होने वाले या उद्विग्न होने वाले नहीं अपितु युद्ध में डटकर विजय प्राप्त करने वाले हैं। बलशाली, धनी, यशस्वी होते हुए भी स्वार्थ के लिए परस्पर संगठित होने वाले नहीं हैं (न संहताः), स्वामी के विरुद्ध गुटबन्दी करने वाले नहीं हैं। परस्पर भिन्न वृत्ति या व्यवहार वाले होने पर स्वामी के कार्य के विघातक हो सकते हैं, अतः उनकी वृत्ति या व्यवहार भिन्न नहीं है अर्थात् अपने- अपने मन की न करने वाले या परस्पर की शत्रुता से स्वामी के कार्य में बाधक न बनने वाले हैं; तात्पर्य यह है कि वे अनुशासित हैं। 'धनुर्भृतः' में धनुष उपलक्षण मात्र है, वे शस्त्रास्त्र से सम्पन्न हैं। इन योद्धाओं की स्वामिभक्ति की यह पराकाष्ठा है कि वे अपने प्राणों का उत्सर्ग करके भी (किसी भी मूल्य पर) दुर्योधन के अभिलषित कार्य को पूर्ण करना चाहते हैं। दुर्योधन के द्वारा ये धन से सत्कृत होते हैं और दुर्योधन के प्रति ये अपनी कृतज्ञता का ज्ञापन प्राणों को देकर भी कर सकते हैं।

समास–महोजसाः=महत् ओजः येषां ते (बहुब्रीहि) (आन्महतः समानाधिकरण जातीययोः) सूत्र से महत् के तकार को आकार अन्तादेश। मानधनाः=मानः एव धनं येषां ते (बहुब्रीहि); धनार्चिताः=धनेन अर्चिताः (तत्पुरुष); लब्धकीर्तयः=लब्धा कीर्तिः यैस्ते (बहुब्रीहि); नभिन्नवृत्तयः=भिन्ना वृत्तिः येषां ते=भिन्नवृत्तयः, न भिन्नवृत्तयः।

व्याकरण–अर्चिताः=अर्च्+क्त प्र.वि. बहुवचन; संयति=सम्+यम्+क्विप् स.वि. एकवचन; लब्धकीर्तयः=लभ्+क्त, कृ+क्तिन्+प्र.वि. बहुवचन; संहताः=सम्+हन्+क्त प्र.वि. बहुवचन; भिन्नवृत्तयः=भिद्+क्त+वृत्+क्तिन्+प्र.वि. बहुवचन; धनुर्भृतः=धनुष्+भृञ्+क्विप्, प्र.वि. बहुवचन, धनूंषि बिभ्रति इति; प्रियाणि=प्री+क+प्र.वि. बहुवचन; समीहितुम्=सम्+ईह्+तुमुन्; वाञ्छन्ति=वाञ्छ्+लट् प्र.वि. बहुवचन।

अलङ्कार–काव्यलिङ्ग और परिकर इन दोनों अलङ्कारों की तिलतण्डुलवत् संसृष्टि है। हेतु के पदार्थ रूप में या वाक्यार्थरूप में उल्लिखित होने पर काव्यलिङ्ग अलङ्कार होता है–'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते'। प्रकृत स्थल में 'असुभिः तस्य प्रियाणि समीहितुं वाञ्छन्ति' (प्राणों के द्वारा भी उसका प्रिय करना चाहते हैं) यह कार्य है जिसका कारण 'महौजसः, मानधनाः, धनार्चिताः' आदि को बताया गया है। अतः यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार हुआ। परिकर अलङ्कार वहाँ होता है जहाँ साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग किया जाता है - उक्तैर्विशेषणैः साभिप्रायः परिकरो मतः।'' यहाँ विशेषणों की साभिप्रायता को व्याख्या में दृष्टिगत कराया गया है। यथा 'महौजसः=महाबली; महाबली ही स्वामी के कार्य साधक हो सकते हैं, निर्बल सैनिक अनुपकारक हैं। इसी तरह सभी विशेषणों के साभिप्राय होने से परिकर अलङ्कार भी है। दोनों अलङ्कारों की तिल-तण्डुलवत् स्थिति होने से संसृष्टि अलङ्कार है। संसृष्टि का लक्षण है–'सेष्टा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः।' अर्थात् जहाँ दो या दो से अधिक अलङ्कारों की निरपेक्ष रूप से स्थिति हो उसे संसृष्टि कहते हैं।

छन्द–वंशस्थ।

कोश–'विशङ्कटं पृथु बृहद्विशालं पृथुलं महत्' इत्यमरः। 'ओजो दीप्तौ बले' इत्यमरः।

'धन्वी धनुष्मान् धानुष्को निषङ्गयस्त्री धनुर्धरः' इत्यमरः।

'युद्धमायोधनं जन्यं प्रधनं प्रविदारणाम्। अस्त्रियां समरानीकरणाः कलहविग्रहौ।' इत्यमरः।

'यशः कीर्तिः समज्ञा च' इत्यमरः। 'आजीवो जीविकावार्त्ता वृत्तिर्वर्तनजीवने।' इत्यमरः।

'पुंसि भूम्न्यसवः प्राणाश्चैव' इत्यमरः।

20. महीभृतां सच्चरितैश्चरैः क्रियाः
स वेद निश्शेषमशेषितक्रियः।
महोदयैस्तस्य हितानुबन्धिभिः
प्रतीयते धातुरिवेहितं फलैः॥20॥

अन्वय–अशेषितक्रियः स सच्चरितैः चरैः महीभृतां क्रियाः निःशेषम् वेद। धातुरिव तस्य ईहितं महोदयैः हितानुबन्धिभिः फलैः प्रतीयते।

शब्दार्थ–अशेषितक्रियः=कार्यों को अधूरा न छोड़ने वाला, (कार्यों को फल-प्राप्तिपर्यन्त सम्पन्न करने वाला), सः = वह (दुर्योधन), सच्चरितैः = शुद्ध आचरण वाले (अर्थात् वञ्चना न देने वाले), चरैः=गुप्तचरों के द्वारा, महीभृताम्=(दूसरे) राजाओं की, क्रियाः=क्रियाओं की, निःशेषम्=पूर्णरूप से, वेद=जानता है। धातुरिव=ब्रह्मा (प्रजापति) की भांति, तस्य=उस (दुर्योधन) की, ईहितम्=चेष्टायें, अभीष्टः, महोदयैः=अतिशय समृद्धिशाली, हितानुबन्धिभिः=हितकारक परिणाम वाले, परिणामसुखदः, फलैः=फलों अर्थात् कार्यसिद्धियों के द्वारा, प्रतीयते=जाना जाता है।

अनुवाद–कार्यों को समाप्त कर लेने वाला वह (दुर्योधन) शुद्ध आचरण वाले गुप्तचरों के द्वारा (दूसरे) राजाओं के कार्यों को पूर्ण रूप से जान लेता है। विधाता (स्रष्टा) की भाँति उसकी चेष्टा, अतिशय उन्नति वाली, हितकारक परिणाम वाली कार्यसिद्धियों के द्वारा जानी जाती है।

व्याख्या–दुर्योधन किसी भी कार्य को प्रारम्भ करके उसे बीच में ही, अधूरा नहीं छोड़ता है। जिसे कालिदास ने रघुवंशियों की कीर्ति वर्णन के समय 'आफलोदयकर्मणाम्' पद से कहा है। वस्तुतः अधम, मध्यम

और उत्तम तीन कोटि के पुरुष होते हैं। अधम श्रेणी के लोग विघ्न के भय से कार्य को आरम्भ ही नहीं करते, मध्यम श्रेणी के लोग कार्य को आरम्भ तो करते हैं; किन्तु विघ्न के उपस्थित होने पर उसे छोड़ देते हैं, परन्तु उत्तम श्रेणी के लोग कार्य को प्रारम्भ करने के बाद विघ्नों से पीड़ित होने पर भी उसे बीच में नही छोड़ते, उसे पूरा ही करते है। नीतिशतक में भर्तृहरि ने कहा है—

'प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः,
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति।।'

इसी तथ्य को भारवि ने 'अशेषितक्रियः' इस एक शब्द के माध्यम से अभिव्यक्त करने की चेष्टा की है।

वह दुर्योधन, अपने शत्रु राजाओं की सम्पूर्ण गतिविधियों को सच्चरित्र गुप्तचरों के द्वारा पूर्णरूपेण जान लेता है। पहले ही (1.4) भारवि राजाओं को 'चारचक्षु'=गुप्तचररूपी नेत्रों वाला कह चुके हैं। 'सच्चरितैश्चरैः' में सच्चरित से अभिप्राय है जिनका आचरण शुद्ध है, जो दूसरों के प्रलोभनादि में आकर दुर्योधन को ठगने वाले नहीं हैं। अतः ऐसे गुप्तचर दुर्योधन से कोई बात छिपायेंगे नहीं और हर प्रकार से उसके हित साधन में तत्पर रहने के कारण अत्यन्त सावधानी से सूचनायें एकत्र करेंगे।

दुर्योधन दूसरे राजाओं की गतिविधियों को तो पूरी तरह जान लेता है; किन्तु जैसे विधाता की इच्छा को कोई जान नहीं पाता मात्र परिणाम के द्वारा उनके इच्छा की ऊहा की जा सकती है वैसे ही इस दुर्योधन का उद्योग, अतिशय उन्नति वाली, परिणामसुखद इसकी कार्यसिद्धियों से ज्ञात हो पाता है। अर्थात् दुर्योधन की योजनाओं का ज्ञान जिस समय वे कार्यरूप में रहती हैं कोई नहीं जान पाता,जब वे पूर्ण हो जाती हैं तो परिणाम से उनके बारे में जाना जा सकता है। राजा की शक्ति उसकी मन्त्रणाओं के गुप्त रहने में है। ऐसा ही भाव कालिदास ने राजा दिलीप के प्रसङ्ग में व्यक्त किया है—तस्य संवृतमन्त्रस्य गूढाकारेङ्गितस्य च। फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव। रघुवंश, 1.20

राजनीति में 'मन्त्रगुप्ति' का अत्यधिक महत्त्व है। जिस राजा की मन्त्रणा जितनी गुप्त रहती है वह उतना ही सफल होता है। मन्त्रणा के भेद का कोई समाधान नहीं है। यथा—

'मन्त्रभेदे हि ये दोषा भवन्ति पृथिवीपतेः।
न शक्यास्ते समाधातुमिति नीतिविदां मतम्।।'

समास—अशेषितक्रियः—न शेषिताः इति अशेषिताः (नञ् तत्पु.); अशेषिता; क्रियाः येन सः (बहुब्रीहि); सच्चरितैः=सत् चरितं येषां ते=सच्चरिताः, तैः; महीभृताम्=महीं बिभ्रति इति महीभृतः, तेषाम् (उपपद तत्पु.); निःशेषः=निर्गतः शेषः यस्मात् तत् यथास्यात्तथा (बहुब्रीहि); धातुरिव=धातुः इव (इवेन सह नित्य समासो, विभक्त्यलोपश्च) इस नियम से इव के साथ नित्य समास होता है और विभक्ति का लोप भी नहीं होता (केवल समास)। महोदयैः=महान् उदयः येभ्यस्तानि महोदयानि (फलानि) तैः (बहुब्रीहि)। हितानुबन्धिभिः=हितम् अनुबध्नन्तीति=हितानुबन्धीनि तैः। (उपपद तत्पु.)

व्याकरण—न शेषिताः=नञ् शिष्+णिच्+क्त+टाप्; सच्चरितैः=अस्+शतृ=सत्, चर्+क्त, तृ.वि. बहुवचन; महीभृताम्=मही+भृञ्+क्विप् ष.वि. बहुवचन; शेषः=शिष्+घञ्; वेद=विद्+लट्, विद्+णल् (अ); धातुः=धा+तृच् ष.वि.ए.व.; ईहितम्=ईह्+क्त; हितानुबन्धिभिः=हित+अनु+बन्ध्+णिनि तृ. वि. बहुवचन; प्रतीयते=प्रति+लट्।

अलङ्कार—उपमा अलङ्कार। 'धातुरिव' प्रयोग में उपमा है। उपमा का लक्ष्य है—'साधर्म्यमुपमा भेदे' अर्थात् उपमान और उपमेय का भेद होने पर भी साधर्म्य का वर्णन उपमा कहलाता है।

छन्द–वंशस्थ।

कोश–'यथार्हवर्णः प्रणिधिरपसर्पश्चरः स्पशः। चारश्च गूढपुरुषश्च' इत्यमरः। 'स्रष्टा प्रजापतिर्वेधा विधाता विश्वसृड्विधिः' इत्यमरः।

बोध प्रश्न

7. 'गुणानुरागादिव सख्यमीयिवान् न बाधतेऽस्य त्रिगणः परस्परम्' में कौन सा अलङ्कार है, स्पष्ट कीजिये।
8. 'प्रवर्तते तस्य विशेषशालिनी गुणानुरोधेन विना न सत्क्रिया' की सप्रसङ्ग व्याख्या कीजिये।
9. गुरूपदिष्टेन रिपौ सुतेऽपि वा निहन्ति दण्डेन स धर्मविप्लवम्। ये पङ्क्तियाँ दुर्योधन की किस नीति को ख्यापित कर रही हैं।
10. 'अदेवमातृकाः' शब्द का अर्थ क्या है? किनके लिये प्रयुक्त है और यह दुर्योधन की किस नीति को इंगित किर रहा है।
11. 'प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम्' कौन अपने प्राणों द्वारा किसका प्रिय करने की अभिलाषा करते हैं? इससे दुर्योधन के किस गुण पर प्रकाश पड़ता है?
12. वनेचर ने युधिष्ठिर से कुरुप्रदेश से लौटने के बाद क्या-क्या बताया, सविस्तार वर्णन कीजिये।

21. न तेन सज्यं क्वचिदुद्यतं धनुः
कृतं न वा कोपविजिह्ममाननम्।
गुणानुरागेण शिरोभिरुह्यते
नराधिपैर्माल्यमिवास्य शासनम्॥21॥

अन्वय–न तेन क्वचित् सज्यं धनुः उद्यतं न वा आननं कोप विजिह्मं कृतम्। गुणानुरागेण नराधिपैः अस्य शासनं माल्यमिव शिरोभिः उह्यते।

शब्दार्थ–तेन=उस (दुर्योधन) के द्वारा, क्वचित्=कहीं भी, सज्यं धनुः=चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा वाले धनुष को, न=नहीं, उद्यतम्=उठाया गया, प्रयुक्त किया गया; वा=अथवा, आननम्=मुख, क्रोधविजिह्मम्=क्रोधवश कुटिल (टेढ़ा), न कृतम्=नहीं किया गया, नराधिपैः=राजाओं के द्वारा, अस्य=इस (दुर्योधन) का, शासनम्=आज्ञा को, आदेश को; गुणानुरागेण=गुणों में अनुरक्त होने के कारण, माल्यम् इव=(पुष्प) माला के समान, शिरोभिः=शिरों से (अर्थात् नतमस्तक होकर सम्मान के साथ), उह्यते=धारण की जाती है, स्वीकार की जाती है।

अनुवाद–उस दुर्योधन ने न कहीं प्रत्यञ्चायुक्त धनुष उठाया और न मुख को क्रोधवश टेढ़ा (विकृत) किया। राजाओं के द्वारा इस दुर्योधन की आज्ञा को गुणानुरागवश माला की तरह शिरोधार्य किया जाता है।

व्याख्या–वनेचर पहले ही वर्णन कर चुका है कि दुर्योधन के योद्धा अपने प्राणों का उत्सर्ग करके भी इसके हितपूर्ति को साधित करने की अभिलाषा करते हैं। प्रकृत श्लोक में वह यह बता रहा है कि वह अपने मित्र राजाओं के कारण कितना बलशाली है।

वस्तुतः दुर्योधन अपने दया, दाक्षिण्यादि गुणों के द्वारा शासन कर रहा है, क्योंकि उसको किसी को भी नियन्त्रित करने के लिए या अपनी आज्ञा मनवाने के लिए कभी भी प्रत्यञ्चा (डोरी) चढ़ी हुई धनुष को नहीं उठाना पड़ा अर्थात् उसे शक्ति प्रयोग नहीं करना पड़ा, उसका धनुष सदैव निष्क्रिय रहा, उसकी कोई आवश्यकता ही उसे नहीं पड़ी और न ही उसके हृदय में कभी इस बात का खेद अनुभव हुआ कि उसकी आज्ञा किसी ने नहीं मानी हो तो क्रोध से उसका मुँह टेढ़ा हुआ हो। अर्थात् न तो उसे कोई शारीरिक चेष्टा करनी पड़ी और न ही क्रोधादि मानसिक विकारों का आश्रय लेना पड़ा। जैसे धागा (गुण) के कारण माला अपने

स्वरूप को धारण रखती है या सुगन्धादि गुणों के कारण जैसे माला को धारण किया जाता है वैसे ही दुर्योधन के गुणों से अनुरक्त उसके मित्र राजाओं द्वारा उसकी आज्ञा को अत्यन्त सम्मान के साथ धारण किया जाता है, शिरोधार्य किया जाता है। अर्थात् दुर्योधन के द्वारा बिना आयास किये ही उसकी आज्ञा का पालन तत्परता के साथ राजाओं के द्वारा किया जाता है। माला के प्रति जैसे हृद्यता आकर्षणादि का भाव होता है वैसे ही इसकी आज्ञा पूर्ति के प्रति राजाओं की ललक होती है।

समास–सज्यम्=ज्यया (मौर्व्या) सह इति (बहुव्रीहि) (तेन सहेति तुल्ययोगे) से समास की प्राप्ति और (वोपसर्जनस्य) नियम से सह को स आदेश। विजिह्मम्=विशेषेण जिह्मम्; कोपविजिह्मम्=कोपेन विजिह्मम् (तृतीया तत्पु.); गुणानुरागेण=गुणेषु अनुरागः इति गुणानुरागः, तेन (सप्तमी तत्पु.) (हेतौ तृतीया) से तृतीया विभक्ति, नराधिपैः=नराणाम् अधिपाः=नराधिपाः तैः (षष्ठी तत्पु.)।

व्याकरण–उद्यतम्=उद्+यम्+क्त; कोपेन=कुप्+घञ्+तृ.वि.ए.व.; विजिह्मम्=वि+हा+मन्; शासनम्=शास्+ल्युट्; माल्यम्=माला+ष्यञ्; उह्यते=वह्+लट्+ (त)।

अलङ्कार–उपमा अलङ्कार है। 'माल्यम् इव' में इव माला तथा शासन के बीच साम्य को ख्यापित कर रहा है। उपमा का लक्षण है–'साधर्म्यमुपमा भेदे।

छन्द–वंशस्थ

कोश–'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः' इत्यमरः। 'धनुश्चापौ धन्वशरासनकोदण्डकार्मुकम्' इत्यमरः। 'कोपक्रोधामर्षरोषप्रतिघा रुट्क्रुधौ स्त्रियौ' इत्यमरः। 'अरालं वृजिनं जिह्ममूर्मिमत्कुञ्चितं नतम्। आविद्धं कुटिलं भुग्नं वेल्लितं वक्रमित्यपि' इत्यमरः। 'वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम्' इत्यमरः। 'माल्यं मालास्रजौ मूर्ध्नि केशमध्ये तु गर्भकः।

22. **स यौवराज्ये नवयौवनोद्धतं**
निधाय दुःशासनमिद्धशासनः।
मखेष्वखिन्नोऽनुमतः पुरोधसा
धिनोति हव्येन हिरण्यरेतसम्॥22॥

अन्वय–इद्धशासनः स नवयौवनोद्धतम् दुःशासनं यौवराज्ये निधाय पुरोधसा अनुमतः अखिन्नः मखेषु हव्येन हिरण्यरेतसं धिनोति।

शब्दार्थ–इद्धशासनः=अप्रतिहत आज्ञा वाला, अनतिक्रमणीय आदेश वाला; सः=वह (दुर्योधन), नवयौवनोद्धतम्=नवीन युवावस्था के कारण प्रगल्भ (धुरन्धर), दुःशासनम्=स्व अनुज को (कठिनता से जिस पर शासन किया जा सके, अविनेय), यौवराज्ये=युवराज के पद पर, निधाय=नियुक्त करके, पुरोधसा=पुरोहित के द्वारा, अनुमतः=अनुमति प्राप्त करके, अखिन्नः=बिना थके हुए, आलस्यरहित होकर; मखेषु=यज्ञों में, हव्येन=हवि के द्वारा, हिरण्यरेतसम्=अग्नि को, धिनोति=तृप्त करता है।

अनुवाद–(अप्रतिहत आज्ञा वाला) अनतिक्रमणीय आदेश वाला वह (दुर्योधन) नयी युवावस्था के कारण धुरन्धर दुःशासन को युवराज पद पर अभिषिक्त कर, पुरोहित से अनुमति प्राप्त करके आलस्यरहित हो यज्ञों में हवि के द्वारा अग्नि को तृप्त करता है।

व्याख्या–दुर्योधन मात्र प्रजा के कल्याण साधन द्वारा आत्मोन्नयन में संलग्न नहीं है अपितु वह स्वयं को धार्मिक के रूप में ख्यात करना चाहता है।

कवि ने यहाँ दुर्योधन के विशेषण के रूप में 'इद्धशासनः' शब्द का प्रयोग किया है अर्थात् जिसकी आज्ञा का कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता, ऐसा प्रचण्ड शासक और उसके द्वारा 'दुःशासन' को युवराज बनाने की बात कही गयी है। दुःशासन, दुर्योधन के छोटे भाई का नाम तो है ही, इसके साथ ही इस शब्द का अर्थ

है जिसका शासन करना कठिन हो, जो अविनेय हो। 'उद्धत' शब्द का अर्थ मल्लिनाथ ने प्रगल्भ (निःशङ्क, उत्साही, साहसी) और धुरन्धर (धुर को धारण करने वाला अर्थात् जिस पर जुए को जोता जा सके, महत्त्वपूर्ण कार्यों से जो लदा हुआ) किया है। वस्तुतः इन शब्दों के प्रयोग द्वारा कवि यह बताना चाहता है कि दुःशासन (अविनेय) को भी उसने विनेय बना दिया। दुःशासन दुर्योधन की आज्ञा का उल्लंघन (इद्धशासनः) नहीं कर सकता था। चूँकि वह युवा था, अतः उसे युवराज बनाकर राज्य के महनीय भार को उस पर सौंप कर वह स्वयं परलोक सिद्धि में लग गया। पहले भी कवि भारवि ने दुर्योधन के लिए कहा है कि 'शङ्कितः सन् अशङ्किताकारम् उपैति।' वैसे ही यहाँ पर कवि यह ध्वनित करना चाहते हैं कि युधिष्ठिर से पराजय की आशङ्का के कारण वह लोक में स्वयं को धर्मात्मा के रूप में ख्यापित करना चाहता है, क्योंकि वह इस तथ्य से अवगत है कि प्रजा धार्मिक राजा का हर प्रकार से समर्थन करती हैं। धार्मिक कार्यों में पुरोगामी व्यक्ति को पुरोधा कहते हैं। अतः वह पुरोहित के द्वारा अनुमोदित होकर आलस्यरहित (अविश्रान्तभाव से युक्त) हो यज्ञों में हव्य के द्वारा अग्नि को प्रसन्न करता है। पुरोधा के प्रति लोगों में श्रद्धा का भाव होता है, उस श्रद्धा को वह स्वयं अपनी ओर करना चाहता है। यहाँ 'पुरोधसा अनुमतः' में उसकी अत्यन्त विनीतता प्रदर्शित की गयी है। 'अखिन्नः मखेषु' के द्वारा अविश्रान्त भाव से अनेकानेक यज्ञ करने को द्योतित किया जा रहा है। अब तक कवि दुर्योधन के प्रति प्रजा की प्रसन्नता, योद्धाओं की (समर्पण से व्यक्त) प्रसन्नता, मित्र राजाओं की प्रसन्नता (माला के समान आदेश को धारण करने के माध्यम से) व्यक्त कर चुके हैं। अब यहाँ देव (अग्निदेव) की प्रसन्नता अभिव्यञ्जित कर रहे हैं। अपने कार्य की सिद्धि में वह देवों का भी प्रसादन कर रहा है। 'अग्निमुखा वै देवाः' कहा गया है, अग्नि को हवनादि से तृप्त कर रहा है और अग्नि के माध्यम से अभिलषित देव को प्रसन्न कर रहा है।

समास–इद्धशासनः=इद्धं शासनं यस्य सः (बहुव्रीहि); नवयौवनोद्धतम्=यूनोभावः=यौवनम्, नवं यौवनम् इति नवयौवनम् (कर्मधारय) नवयौवनेन उद्धतः तम् (तृतीया तत्पुरुष), यौवराज्ये–युवा चासौ राजा चेति युवराजः (कर्मधारय) तस्य कर्म यौवराज्यम्, तस्मिन्; हिरण्यरेतसम्=हिरण्यं रेतो यस्य सः हिरण्यरेताः (बहुव्रीहि) तम् (अग्निम्)।

व्याकरण–इद्धशासनः=इन्ध्+क्त, शास्+ल्युट्; यौवनम्=युवन्+अण्; उद्धतम्=उद्+हन्+क्त द्वि.वि.ए.व.; दुःशासनम्=दुर्+शास्+युच् द्वि.वि.ए.व.; यौवराज्ये=युवराज+ष्यञ्, सप्तमी वि.ए.व.; निधाय=नि+धा+(क्त्वा)+ल्यप्; अनुमतः=अनु+मन्+क्त; अखिन्नः=नञ्+खिद्+क्त; हव्यम्=हु+यत्; धिनोति=धिन्व्+लट् प्र.पु.ए.व.।

अलङ्कार–अनुप्रास। धकार, शकार एवं हकार की आवृत्ति होने से अनुप्रास।

छन्द–वंशस्थ।

कोश–'युवराजस्तु कुमारो भर्तृदारकः' इत्यमरः। 'यज्ञः सवोऽध्वरो यागः सप्ततन्तुर्मखः क्रतुः' इत्यमरः। 'पुरोधास्तु पुरोहित' इत्यमरः। 'हिरण्यरेता हुतभुग्दहनो हव्यवाहनः' इत्यमरः।

23. **प्रलीनभूपालमपि स्थिरायति**
प्रशासदावारिधि मण्डलं भुवः।
स चिन्तयत्येव भियस्त्वदेष्यती-
रहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता॥23॥

अन्वय–स प्रलीनभूपालं स्थिरायति भुवो मण्डलम् आवारिधि प्रशासत् अपि त्वदेष्यतीः भियः चिन्तयत्येव। अहो बलवद्विरोधिता दुरन्ता।

शब्दार्थ–सः=वह (दुर्योधन), प्रलीनभूपालम्=निःसपत्न, शत्रुरहित; स्थिरायति=निश्चित भविष्य वाले, चिरस्थायी; आवारिधि=समुद्रपर्यन्त, भुवः मण्डलम्=पृथ्वी मण्डल को, प्रशासत् अपिः=शासन करता हुआ भी, त्वत्=आप (युधिष्ठिर) से, एष्यतीः=आने वाली, भियः=भय के कारणों को, चिन्तयति एव=सोचता ही है। अहो=आश्चर्य है, बलवद् विरोधिता=बलवान् के साथ किया गया विरोध, दुरन्ता=दुःखमय परिणाम वाला होता

है।

अनुवाद–वह दुर्योधन शत्रु राजाओं से रहित, स्थिर भविष्य वाले समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का शासन करता हुआ भी आप (युधिष्ठिर) से आने वाली (भय के हेतुओं) विपत्तियों को सोचता ही है। बलवान् के साथ किया विरोध अनर्थपर्यवसायी होता है।

व्याख्या–दुर्योधन के द्वारा क्या नहीं प्राप्त कर लिया गया है। वह निःसपत्न राज्य कर रहा है, कोई भी उसका शत्रुपक्षीय भूपति नहीं है। प्रजा की प्रसन्नता, मित्र राजाओं का सहयोग और आज्ञाकारिता तथा सेना के समर्पण और अनुशासन के परिणामस्वरूप उसने द्यूत में छल से जीते हुए अपने साम्राज्य को भविष्य के लिए भी सुस्थिर कर लिया है। स्वयं दुर्योधन को भी राज्य विस्तार की चिन्ता नहीं है, क्योंकि वह समुद्रपर्यन्त भूमण्डल पर शासन कर रहा है। 'प्रशासत् अपि' में प्रयुक्त 'अपि' इस बात को इंगित कर रहा है कि यद्यपि इस समय वह शासन कर रहा है किन्तु शासन के सुख से अधिक भविष्य में शासन के छिनने की चिन्ता व्याप्त है। अपने पौरुष से समुद्रपर्यन्त भूमण्डल को अधिगत कर लेने वाले उस दुर्योधन के हृदय में आप पाण्डवों का भय निरन्तर बना रहता है। हर प्रकार से सुखी और समृद्ध राज्य का शासक होने पर भी वह निश्चिन्त नहीं है। वनवास की अवधि व्यतीत होने पर न जाने कब पाण्डव पुनः द्यूतक्रीड़ा से अधिगत इस राज्य को ले लेंगे, इस चिन्ता में निरन्तर उसका चित्त दग्ध होता रहता है। 'चिन्तयत्येव' में आया 'एव' पद इस बात को इंगित करता है कि वह चिन्ता करता ही है। यह चिन्ता कभी उसके मन से हटती नहीं । अहो बलवान के साथ किया विरोध अनर्थ पर्यवसायी होता है । वस्तुतः वनेचर ने दुर्योधन के अच्छे शासन को अनेक प्रकार से दृष्टिगत कराया है। अपनी राज्यलक्ष्मी को स्थिर करने के लिए उसने अनेक उपाय कर लिया है और दुःशासन को युवराज बनाकर, सम्पूर्ण राजकार्य उस पर सौंप कर स्वयं को प्रजा के समक्ष धर्मपरायण दिखाने के लिए वह पुरोहित से अनुमति प्राप्त कर निरन्तर यज्ञों में हवि प्रदान कर अग्निदेव को प्रसन्न करने में लगा है। तात्पर्य यह है कि करणीय समस्त कार्यों को करता हुआ भी वह चिन्तित रहता है। अतः यहाँ युधिष्ठिर के प्रति वनेचर का संदेश है कि वे अपनी शक्ति को पहचानें, दुर्योधन की व्याप्त होती कीर्ति से भयभीत और निराश न हों, बल्कि योजनाबद्ध रीति से उसको अपदस्थ करने के उपाय सोचें।

समास–प्रलीनभूपालम्=प्रलीनाः भूपालाः यस्मिन् तत् (बहुव्रीहि); स्थिरायतिः=स्थिरा आयतिः यस्य तत् (बहुव्रीहि); आवारिधि=वारिधेः आ (अव्ययीभाव समास); बलवद्विरोधिता=बलवता विरोधिता (तृतीया तत्पु.); दुरन्ता=दुर् (दुष्टः) अन्तः यस्याः सा (बहु.)।

व्याकरण–प्रलीनाः=प्र+ली+क्त प्र.वि. बहुवचन; भूपालाः=भू+पाल्+णिच्+अच्; आवारिधि=आङ् (मर्यादा अर्थ में आङ् प्रयुक्त है)+वारि+धा+कि; प्रशासत्=प्र+शास्+शतृ प्र.वि.ए.व; एष्यतीः=इ+(लृट्) शतृ द्वि.वि. बहुवचन; विकल्प में मल्लिनाथ ने 'त्वदेष्यतीः' की अपेक्षा 'त्वदैष्यतीः' पाठ स्वीकार किया है और तब आङ्+इ+लृट् शतृ द्वि.वि. बहुवचन होगा।

आ+एष्यतीः='एत्येधत्यूठ्सु' से एजादि इण् धातु के होने के कारण पूर्व पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो जायेगा। बलवद्=बल+वतुप्; विरोधिता=वि+रुध्+णिनि=विरोधिन्+तल्+टाप्।

अलङ्कार–'अहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता' यह एक सामान्य कथन है, जिससे 'स चिन्तयत्येव भियस्त्वदेष्यतीः' इस विशेष कथन का समर्थन किये जाने से अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

छन्द–वंशस्थ।

कोश–'उत्तरः काल आयतिः' इत्यमरः। 'उदधिर्वारिधि सिन्धुः सागरश्च सरित्पतिः' इति कोषः। चक्रवालं तु मण्डलम् इत्यमरः। 'भीतिर्भीः साध्वसं भयम्' इत्यमरः।

24. **कथाप्रसङ्गेन जनैरुदाहृता-**
दनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः।

तवाभिधानाद्व्यथते नताननः
स दुःसहान्मन्त्रपदादिवोरगः॥24॥

अन्वय–कथाप्रसङ्गेन जनैः उदाहृतात् तव अभिधानात् अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः सः दुःसहात् मन्त्रपदात् उरगः इव नताननः व्यथते।

इस श्लोक के दो अर्थ हैं एक दुर्योधन विषयक और दूसरा सर्पविषयक, जिसे क्रमशः यहाँ स्पष्ट किया जा रहा है।

शब्दार्थ–कथाप्रसङ्गेना जनैः=(1) वार्त्ता के प्रसङ्ग में लोगों के द्वारा, (2) कथाप्रसङ्ग विष का उपचार करने वाला वैद्य+इनः का अर्थ है श्रेष्ठ, जनैः=लोगों के द्वारा; अतः पूरे शब्द का अर्थ हुआ श्रेष्ठ विष-वैद्यों द्वारा, उदाहृतात्=उच्चारण किये हुए, तवाभिधानात्=(1) तुम्हारे (युधिष्ठिर के) नाम से (2) तार्क्ष्य, (त) और वासुकि (व) के नाम से युक्त (तार्क्ष्य=गरुड तथा वासुकि=नागराज नाम वाले), मन्त्रपदात्=(विष दूर करने वाले) मन्त्र के पद से, अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः=(1)स्मरण कर लिया है इन्द्र (आखण्डल) के अनुज (सूनु=पुत्र अथवा अनुज) के (वि=पक्षी) पक्षी के (क्रम=पादविक्षेप) पाद विक्षेप को जिसने, (2) स्मरण कर लिया है इन्द्र के पुत्र (अर्जुन) के पराक्रम को जिसने, सः=वह (दुर्योधन), दुःसहात्=सहा न जा सकने योग्य, उरगः इव=सर्प की तरह, नताननः=मुँह को नीचे किये हुए, व्यथते=व्यथित होता है, दुःखी होता है।

अनुवाद–श्रेष्ठ विष -वैद्यों द्वारा उच्चारित गरुड़ और वासुकी के नामयुक्त अत्यन्त दुस्सह मन्त्रपदों द्वारा (पक्षिराज) गरुड़ के माहात्म्य का स्मरण करके नतमस्तक हो जाने वाले सर्प की तरह, वार्त्तालाप के प्रसङ्ग में (वहाँ उपस्थित) लोगों के द्वारा उच्चारित आपके नाम से इन्द्र के पुत्र अर्जुन के पराक्रम का अनुस्मरण करके वह अधोमुख हो व्यथित हो जाता है।

व्याख्या–वनेचर ने युधिष्ठिर से दुर्योधन के विषय में बताते हुए पहले ही कहा है कि निःसपत्न राज्य करता हुआ भी वह दुर्योधन आपके विषय में 'चिन्तयत्येव' सोचता ही है। चिन्तन एक मानसिक क्रिया है और किसके मन में क्या चिन्तन चल रहा है, इसे कैसे कोई जान सकता है, परन्तु यह भी सत्य है कि मुख हृदय का दर्पण होता है। आन्तरिक भाव, मनोविकार आदि मुखमुद्राओं के माध्यम से अभिव्यक्त हो ही जाते हैं। वनेचर युधिष्ठिर के कार्य साधन हेतु गूढ़ बातों को भी जानने के लिए गया था, अतः उसने हर बारीकियों का अध्ययन किया है।

इस श्लोक के दो अर्थ हैं -एक अर्थ जो दुर्योधन को लक्ष्य करके है वह प्रासंगिक है (अतः उसे उपमेयार्थ भी कह सकते हैं) दूसरा अर्थ सर्प विषयक है और अप्रासंगिक है (उसे उपमानार्थ कह सकते हैं)। प्रासंगिक और अप्रासंगिक अर्थों में उपमानोपमेय भाव सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। पहले सर्परूप अर्थ को व्याख्यायित कर तब दुर्योधनपरक अर्थ को कहा जा रहा है।

'कथाप्रसङ्ग' शब्द बातचीत के लिए और (सर्प के) विष को उतार सकने में समर्थ वैद्य के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैसा कि विश्वकोष में कहा गया है–'कथाप्रसङ्गो वार्तायां विषवैद्येऽपि वाच्यवत्।" तव+अभिधानात् का अर्थ है 'त' और 'व' के अभिधान से; त से तार्क्ष्य अर्थात् गरुड़ का बोध होता है और व से वासुकि का। वस्तुतः "नामैकदेशग्रहणे नाममात्रग्रहणम्' यह न्याय है अर्थात् नाम के एक भाग का भी उच्चारण करने पर पूरे नाम का ग्रहण हो जाता है। यहाँ 'तव' में त और व के द्वारा गरुड़ और वासुकि के नामांश का उच्चारण किये जाने से गरुड़ और वासुकि का बोध हो जायेगा।

जैसे कोई विषधर (सर्प) श्रेष्ठ विषवैद्य के द्वारा विष के उपचार के निमित्त उच्चरित त=गरुड़ और व=वासुकि के अभिधान वाले असह्य मन्त्र पद को सुनकर पक्षिराज गरुड़ के माहात्म्य का अनुस्मरण कर नीचे मुख कर व्यथित होता है वैसे ही कुरुप्रदेश में सम्प्रति वार्तालाप के क्रम में वहाँ के लोगों के द्वारा यदि कदाचित् आपका नाम ले लिया जाता है, 'युधिष्ठिर' यह पद उच्चरित हो जाता है तो आपके नाम के श्रवण मात्र से आपके

अनुज, इन्द्र-पुत्र महाधनुर्धर अर्जुन के पराक्रम का अनुस्मरण कर वह दुर्योधन दुःसह होने से नीचे मुख करके अत्यन्त व्यथा का अनुभव करता है।

'कथाप्रसङ्गेन' शब्द से ध्वनित हो रहा है कि लोगों के द्वारा सोद्देश्य किसी गम्भीर विचार के समय नहीं अपितु सामान्य रूप से बातचीत करते हुए भी यदि आपका नाम ले लिया जाता है तो वह दुर्योधन के लिए दुस्सह हो जाता है। 'नताननत्व' दुर्योधन की दुस्सह व्यथा को अभिव्यञ्जित करने के लिए प्रयुक्त है। अत्युत्कट भयादि दोष दुर्निवार्य है, वे छिपाये नहीं छिपते। वनेचर दुर्योधन की चिन्ता और व्यथा का वर्णन स्वयं के प्रत्यक्षीकरण के आधार पर कर रहा है। जैसा देखा है—वैसा ही बता रहा है। यहाँ युधिष्ठिर के समक्ष वनेचर अर्जुन के पराक्रम को कह रहा है। यहाँ शङ्का हो सकती है कि व्यक्ति दूसरे को कितना भी अभिवृद्धि को प्राप्त हुआ देखना पसन्द करे; किन्तु अपने से अधिक नहीं देखना चाहता; किन्तु युधिष्ठिर के लिए अनुज अर्जुन पुत्रवत् है, अतः उनका उत्कर्ष कथन उन्हें प्रिय ही होगा। जैसा कि कहा गया है–'सर्वतो जयमन्विच्छेत्पुत्रादिच्छेत्पराजयम्।'

यहाँ गुप्तचर के कथन से यह ध्वनित हो रहा है कि सिंहासनारूढ़ और सर्वशक्तिसम्पन्न होने पर भी दुर्योधन को पराजित किया जा सकता है। दुर्योधन का हृदयस्थ भय उसकी दुर्बलता और आपकी सबलता का ख्यापक है।

समास–कथाप्रसङ्गेनजनैः=(1) (उरगपक्ष में) कथाप्रसङ्गेषु (विषवैद्येषु) इनजनाः (श्रेष्ठाः जनाः) इति कथाप्रसङ्गेनजनाः, तैः दुर्योधनपक्षे= (2) कथायाः प्रसङ्गः इति कथाप्रसङ्गः, तेन (षष्ठी तत्पु.); दुःसहात्=दुःखेन सह्यते इति दुःसहः, तस्मात्, तवाभिधानात्=तश्च वश्च तवौ (तार्क्ष्यवासुकी) द्वन्द्व, तवयोः अभिधानं यस्मिन् तत् तवाभिधानं, तस्मात् (बहुब्रीहि); मन्त्रपदम् =मन्त्रस्य पदम्=मन्त्रपदम्, तस्मात् (षष्ठी तत्पु.) अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः =(1) (उरग पक्ष में) आखण्डलस्य सूनुः (अनुजः) इति आखण्डलसूनुः (विष्णुः) (षष्ठी तत्पु.) तस्य विः (पक्षी, गरुड़ः) (षष्ठी तत्पु.) तस्य क्रमः (षष्ठी तत्पु.) अनुस्मृतः आखण्डलसूनुविक्रमः येन सः (बहुब्रीहि); दुर्योधन पक्ष में (2) आखण्डलस्य सूनुः (पुत्रः) इति आखण्डलसूनु; (षष्ठी तत्पु.) आखण्डलसूनोः (अर्जुनस्य) विक्रमः इति=आखण्डलसूनुविक्रम; (षष्ठी तत्पु.) अनुस्मृतः आखण्डलसूनुविक्रमः येन सः सुयोधनः (बहुब्रीहि); नताननः=नतम् आननं यस्य सः (बहुब्रीहि);

व्याकरण–उदाहृतात्=उद्+आ+हृ+क्त पञ्चमी वि.ए.व.; अभिधानम्=अभि+धा+ल्युट्; अनुस्मृतः=अनु+स्मृ+क्त; विक्रमः=वि+क्रम्+घञ्; दुःसहात्=दुः+सह्+खल्+प.वि.ए.व.; उरगः=उरस्+गम्+ड; नतम्=नम्+क्त।

अलङ्कार–श्लेषानुप्राणित पूर्णोपमा अलङ्कार। प्रकृत श्लोक में सः (दुर्योधन) उपमेय है, उरग उपमान है, इव वाचक शब्द है तथा 'नताननः व्यथते' साधारण धर्म है। इस प्रकार उपमा के चारों अङ्गों के शब्दतः ख्यात होने से यह पूर्णोपमा है। पूर्णोपमा का लक्षण है–'सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च उपमेयञ्चोमानञ्च भवेद् वाच्यम्।

छन्द–वंशस्थ

कोश–'कथाप्रसङ्गो वार्तायां विषवैद्येऽपि वाच्यवत् इति विश्वः। 'आख्याह्वे अभिधानं च नामधेयं च नाम च' इत्यमरः। 'सूनुः पुत्रेऽनुजे रवौ इति विश्वः'। इन्द्रो मरुत्वान्मघवा विडौजाः पाकशासनः। वृद्धश्रवाः सुनासीरः पुरुहूतः पुरन्दरः।। आखण्डलः सहस्राक्षः ऋभुक्षाः इत्यमरः।। 'विक्रमः पादप्रक्षेपे सामर्थ्येऽपि कथ्यते।' इति। विक्रमस्त्वतिशक्तिता इत्यमरः। वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम् इत्यमरः।

25. **तदाशु कर्तुं त्वयि जिह्ममुद्यते**
विधीयतां तत्र विधेयमुत्तरम्।
परप्रणीतानि वचांसि चिन्वतां-
प्रवृत्तिसाराः खलु मादृशां गिरः॥25॥

अन्वय–तत् त्वयि जिह्मं कर्तुम् उद्यते तत्र विधेयम् उत्तरम् आशु विधीयताम्। परप्रणीतानि वचांसि चिन्वतां मादृशां गिरः प्रवृत्तिसाराः खलु।

शब्दार्थ–तत्=इसलिए, त्वयि=तुम्हारे (युधिष्ठिर), विषय में, जिह्मम्=कपट को, कर्तुमुद्यते=करने के लिए तैयार, तत्र=वहाँ (उस दुर्योधन के सन्दर्भ में), विधेयम्=करने योग्य, उत्तरम्=प्रतिक्रिया, उपाय। आशु=शीघ्र, विधीयताम्=किया जाये, परप्रणीतानि=दूसरों द्वारा कहे गये, वचांसि=बातों को, चिन्वताम्=चयन (संग्रह) करने वालों का, मादृशाम्=मुझ जैसे (सन्देशवहन करने वालों) का, गिरः=वाणी, कथन; प्रवृत्तिसाराः=वृत्तान्तवर्णनमात्र जिसका तत्त्व हो, ऐसी; खलु=निश्चय ही।

अनुवाद–अतः आपके प्रति कपट करने को उद्यत दुर्योधन के प्रति करने योग्य प्रतिक्रिया का शीघ्र विधान (आपके द्वारा) किया जाय। दूसरों के द्वारा कहे गये वचनों को सञ्चित करने वाले मुझ जैसे सन्देशहरण करने वालों की वाणी केवल वृत्तान्त ज्ञापक होती है।

व्याख्या–वस्तुतः दुर्योधन प्रजा के लिए कल्याणप्रद योजनाओं का विस्तार करके, आत्मीय गुप्तचरों का जाल बिछाकर, शत्रुरहित आसमुद्र राज्य का विस्तार कर, मित्र राजाओं से समर्थन और कर को सहज रूप में ही प्राप्त कर सिंहासनाधिरूढ़ होने पर भी पाण्डवों से अत्यन्त सशङ्कित रहता है। यदि तत्रस्थ प्रजा जन में कोई बातचीत के प्रसङ्ग में भी युधिष्ठिर का नाम ले लेता है तो उसे साहचर्य सम्बन्ध से अद्वितीय पराक्रमी अर्जुन का स्मरण हो आता है और वह बड़ी कठिनाई और व्यथा के साथ इस नामोच्चारण को भी सह पाता है। दुर्योधन ने पहले भी राज्य कपट से ही प्राप्त किया था अर्थात् जो युधिष्ठिर पहले राजसिंहासन पर अधिष्ठित थे उन्हें उस रूप में न सह सकने के कारण, पराक्रम से जिन्हें नहीं जीत सका उन्हें कपट से, छल से जीत कर उसने उन्हें वनवास में बारह वर्ष की लम्बी अवधि के लिए भेज दिया। अब वनेचर यह ऊहा कर रहा है कि वन में स्थित भी पाण्डवों के नाम को न सह सकने वाला दुर्योधन निश्चित रूप से पुनः अपनी प्रकृति के अनुरूप कोई कपटपूर्ण आचरण करेगा।

अतः ऐसी स्थिति में दुर्योधन के कपटपूर्ण आचरण के प्रति समुचित उत्तर या करणीय प्रतिक्रिया का विधान आपके द्वारा शीघ्र किया जाना चाहिए। मात्र करने से काम नहीं चलेगा 'आशु' शीघ्र उसका प्रतिकार सोचना होगा। पुनः वनेचर अपनी स्थिति को स्पष्ट कर रहा है कि यद्यपि उसे यह तो समझ में आ रहा है कि दुर्योधन के कपटपूर्ण आचरण के प्रति प्रतिक्रिया आवश्यक है; किन्तु उस प्रतिक्रिया का स्वरूप क्या हो यह वह निर्धारित नहीं कर सकता, क्योंकि उसका कार्य दूसरों द्वारा कही बातों का संग्रह करके सन्देश मात्र पहुँचाना है। अतः उसकी सीमा सन्देश नयन तक है, कर्त्तव्योपदेश विधान में नहीं। शत्रुपक्ष के यथार्थ समाचार को युधिष्ठिर से निवेदित करके, अब वह युधिष्ठिर को स्वकीय योजना बनाकर क्रियान्वयन के लिए प्रेरित करता है।

समास–परप्रणीतानि=परैः प्रणीतानि (तृतीया तत्पु.) प्रवृत्तिसाराः=प्रवृत्तिः सारो यासां ताः (बहुव्रीहि)।

व्याकरण–उद्यते=उद्+यम्+क्त स.वि.ए.व. तत्र=(तस्मिन् दुर्योधने–इस अर्थ में) तत्+ङि+त्रल् (अव्यय पद होने से विभक्ति का लोप हो गया)। विधेयम्=वि+धा+यत्, उत्तरम्=उत्+तरप्,

विधीयताम्=वि+धा+लोट् प्र.पु.ए.व., प्रणीतानि=प्र+नी+क्त प्र.वि. बहुव., चिन्वताम्=चि+शतृ ष. वि.बहु. व., मादृशाम्=अस्मद्+दृश्+क्विन् ष.वि.बहु. व., गिरः = गृ + क्विप् प्र.वि.बहु वच., प्रवृत्तिः=प्र+वृत्+क्तिन्।

अलङ्कार–अर्थान्तरन्यास। प्रस्तुत श्लोक में पूर्वार्द्ध के विशेष कथन का उत्तरार्द्ध के सामान्य कथन से समर्थन किये जाने के कारण अर्थान्तरन्यास है।

छन्द–वंशस्थ।

कोष–'युक्तं विधेयं समयोचितं च परिकीर्तितम्' इति कोषः। 'प्रतिवाक्योत्तरे समे' इत्यमरः। 'गीर्वाग्वाणी सरस्वती' इत्यमरः। 'वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्त उदन्तः स्याद्', 'सारो बले स्थिरांशे च' इत्यमरः।

26. इतीरयित्वा गिरमात्तसत्क्रिये
गतेऽथ पत्यौ वनसन्निवासिनाम्।
प्रविश्य कृष्णासदनं महीभुजा
तदाचचक्षेऽनुजसंन्निधौ वचः॥26॥

अन्वय–वनसन्निवासिनां पत्यौ इति गिरम् ईरयित्वा आत्तसत्क्रिये गते अथ महीभुजा कृष्णासदनं प्रविश्य अनुजसन्निधौ तद् वचः आचचक्षे।

शब्दार्थ–वनसन्निवासिनां पत्यौ=वनवासियों (किरातों) के स्वामी (उस गुप्तचर किरात) के, इति=इस प्रकार; गिरम्=वाणी को; ईरयित्वा=कहकर; आत्तसत्क्रिये=सत्कार (पारितोषिक) प्राप्त कर; गते=चले जाने पर; अथ=उसके बाद (किसी नवीन प्रकरणारम्भ के लिए या आनन्तर्य सूचित करने के लिए अथ प्रयुक्त होता है); महीभुजा=राजा (युधिष्ठिर) के द्वारा; कृष्णासदनं=द्रौपदी के भवन में, प्रविश्य=प्रवेश करके; अनुजसन्निधौ=भाइयों के समीप (समक्ष); तत् वचः=वह वचन (कथन, जो वनेचर ने कहा); आचचक्षे=कहा गया।

अनुवाद–वनवासियों के स्वामी (उस गुप्तचर किरात) के इस प्रकार वृत्तान्त को कहकर, पारितोषिक प्राप्त कर चले जाने पर, राजा युधिष्ठिर के द्वारा द्रौपदी के भवन में प्रविष्ट होकर छोटे भाइयों (भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव आदि) के समक्ष वह कथन (जो वनेचर ने बातें युधिष्ठिर को बतायी थीं) कहा गया।

व्याख्या–वनवासियों के स्वामी उस गुप्तचर किरात के इस प्रकार के वचन कहकर ('इति गिरम्' पद से जितनी बातें गुप्तचर ने युधिष्ठिर को बतायीं हैं उन सबका ग्रहण हो जायेगा) और पारितोषिक लेकर चले जाने पर। प्रकृत स्थल में 'गते' में सति सप्तमी का प्रयोग है। जिसका सूत्र है 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' अर्थात् एक क्रिया के होते समय ही दूसरी क्रिया का होना। इसका सही अनुवाद दूसरी भाषा में कर पाना दुष्कर है, वस्तुतः दोनों क्रियाओं की एक कालिकता को सूचित करने के लिए यह प्रयोग किया जाता है। जैसे प्रकृत प्रसङ्ग में वनेचर के जाने पर युधिष्ठिर का द्रौपदी के भवन में प्रविष्ट होकर कहना। ऐसा नहीं कि वनेचर चला गया तब युधिष्ठिर कृष्णा के भवन में प्रविष्ट हुए, उसका जाना और इनका प्रविष्ट होना दोनों क्रियायें समकालिक हैं। वस्तुतः यह प्रयोग सोद्देश्य है, क्योंकि वनेचर युधिष्ठिर द्वारा नियुक्त सेवक हैं, आचार रक्षा भी इसी में है कि महाराज युधिष्ठिर उसको छोड़ने के लिए न रुके।

युधिष्ठिर ने दूत को पारितोषिक से सत्कृत करके भी आचार का तथा साम नीति का पालन किया है। नीतिवचनामृत में कहा गया है कि गुप्तचरों को दानादि से सन्तुष्ट रखना चाहिए तभी वे स्वामी के कार्य में तत्परता दिखलाते हैं–'तुष्टिदानमेव चाराणां हि वेतनम्। ते हि तल्लोभात्स्वामिकार्येष्वतीव त्वरयन्ते।।'

प्रकृत में आचचक्षे में लिट् लकार का प्रयोग अप्रधान कर्म में हुआ है। 'आचचक्षे' यह द्विकर्मक क्रिया है इसका प्रधान कर्म 'वचः' है और अप्रधान कर्म 'कृष्णा' है। यतः कर्म 'आचचक्षे' में उक्त हो गया इसलिए अप्रधान कर्म कृष्णा में 'उक्ते कर्मणि प्रथमा' न्याय से प्रथमा विभक्ति हुई। परिगणित द्विकर्मक धातुओं में 'ब्रू' धातु है। 'अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा' के नियम से परिगणित धातुओं के समानार्थक अन्य धातुओं में भी कर्मसंज्ञा होती है। परिगणित धातुयें इस प्रकार हैं–

दुह्याच्-पच्-दण्ड्-रुधि-प्रच्छि-चि-ब्रू-शासु-जि-मथ्-मुषाम्।
कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नी-हृ-कृष्-वहाम्।।

समास–वनसन्निवासिनाम्=वने सन्निवसन्ति इति वनसन्निवासिनः, तेषाम् (उपपद समास), आत्तसत्क्रिये=आत्ता सत्क्रिया येन सः, आत्तसत्क्रियः तस्मिन् (बहुब्रीहि), महीभुजा=महीं भुङ्क्ते इति महीभुक्, तेन (उपपदसमास), कृष्णासदनम्=कृष्णायाः सदनम्, अनुजसन्निधौ=अनु पश्चात् जायन्ते ये ते अनुजाः (उपपदसमास), अनुजानां सन्निधिः, अनुजसन्निधिः तस्मिन् (षष्ठी तत्पु.)।

व्याकरण–वनसन्निवासिनाम्=वन+सम्+नि+वस्+णिनि+ष.वि.बहु., पत्यौ=पा+डति स.वि. एकवचन, ईरयित्वा=ईर्+णिच्+क्त्वा, आत्त=आङ्+दा+क्त, सदनम्=सद्+ल्युट्, अनुजाः=अनु+जन्+ड, सन्निधिः=सम्+नि+धा+कि, वचः=वच्+अच्, आचचक्षे=आङ्+ख्या (चक्ष्) लिट्+प्र.पु. ए.व.।

छन्द–वंशस्थ।

कोष–'ब्राह्मी तु भारतीभाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती' इत्यमरः। 'आत्तं गृहीतं स्वाधीनीकृतमात्मवशीकृतम्' इति कोषः। 'धवः पतिः प्रियो भर्ता' इत्यमरः। 'अटव्यरण्यं विपिनं गहनं काननं वनम्' इत्यमरः। 'सन्निधिः सन्निकर्षणम्' इत्यमरः। 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ' इत्यमरः। गृहं गेहोदवसितं वेश्म सद्म निकेतनम्। 'निशान्तवस्त्यसदनं भवनागारमन्दिरम्' इत्यमरः।

27. निशम्य सिद्धिं द्विषतामपाकृती-
स्ततस्ततस्त्या विनियन्तुमक्षमा।
नृपस्य मन्युव्यवसायदीपिनी-
रुदाजहार द्रुपदात्मजा गिरः॥27॥

अन्वय–ततः द्विषतां सिद्धिं निशम्य ततस्त्याः अपाकृतीः विनियन्तुमक्षमा द्रुपदात्मजा नृपस्य मन्युव्यवसायदीपिनीः गिरः उदाजहार।

शब्दार्थ–ततः=तदनन्तर (युधिष्ठिर के द्वारा वनेचर की बात बताने के पश्चात्); द्विषताम्=शत्रुओं (कौरवों) की, सिद्धिम्=सफलता को (उन्नति को); निशम्य=सुनकर; द्रुपदात्मजा=द्रुपद की पुत्री द्रौपदी; ततस्त्याः=उनसे (शत्रुओं से) आई हुई, उद्भूत हुई; अपाकृतीः=मनोविकारों को; विनियन्तुम्=नियन्त्रित रखने के लिए, अक्षमा (सती)=असमर्थ होती हुई, नृपस्य=राजा (युधिष्ठिर) के; मन्युव्यवसायदीपिनीः=क्रोध (मन्यु) उद्योग (व्यवसाय) को बढ़ाने वाली, गिरः=वाणी को; उदाजहार=कहा।

अनुवाद–तदनन्तर शत्रुओं की सफलता को सुनकर द्रौपदी उससे समुद्भूत मनोविकारों को नियन्त्रित करने में असमर्थ होती हुई राजा (युधिष्ठिर) के क्रोध और उद्योग को बढ़ाने वाली वाणी को बोली।

व्याख्या–युधिष्ठिर के द्वारा नियुक्त गुप्तचर कुरुप्रदेश से दुर्योधन की प्रजाविषयक नीति को सम्यक् प्रकार से जानकर जब वन में निवास करने वाले युधिष्ठिर से उसके उत्कर्ष का अभिधान करके, राज्य की वास्तविक स्थिति को बताकर चला जाता है तब युधिष्ठिर अपने भाइयों के समक्ष द्रौपदी से उन सभी बातों को वर्णित करते हैं। 'द्विषताम्' अर्थात् जिनके प्रति द्वेष है, जिनके लिए शत्रुभाव है उनकी सिद्धि, उनकी सफलता को सुनकर राजा द्रुपद की पुत्री द्रौपदी शत्रुकृत अपकारों को स्मरण कर मनोविकारों को नियन्त्रित करने में असमर्थ हो जाती है। मनोविकार जब नियन्त्रण में होते हैं तो व्यक्ति का व्यवहार संयत होता है; किन्तु मनोविकारों पर नियन्त्रण नहीं रह जाता तो व्यक्ति का व्यवहार भी तदनुकूल ही हो जाता है। उस प्रकार की मनोदशा से युक्त द्रौपदी ने युधिष्ठिर के क्रोध और उद्योग को दीप्त करने वाली वाणी कही। वस्तुतः क्रोध-रौद्र का स्थायीभाव है और उत्साह-वीर का स्थायीभाव है। जब तक शान्त स्वभाव वाले युधिष्ठिर में क्रोध और उत्साह का संचार नहीं होगा तब तक शत्रु के प्रति करणीय वीरतापूर्ण व्यवहार वे नहीं कर सकेंगे। क्रोध एक ऐसा मनोविकार है यदि वह जागृत हो जाये तो व्यक्ति का उस पर नियन्त्रण नहीं रहता । वह अवश्य ही जिसके प्रति उद्भूत होता है उसके प्रति प्रतिकार किये बिना शान्त नहीं होता और उत्साह कार्य करने की प्रेरणा देता है। इसीलिए द्रौपदी ने ऐसी वाणी बोली जिससे युधिष्ठिर में क्रोध उद्दीप्त हो जाये और वे उद्योग में प्रवृत्त हो जायें ।

समास–द्रुपदात्मजा=आत्मनो जायते या सा आत्मजा, द्रुपदस्य आत्मजा (षष्ठी तत्पुरुष), अक्षमा=न क्षमा (नञ् तत्पु.) मन्युव्यवसायदीपिनीः=मन्युश्च व्यवसायश्च=मन्युव्यवसायौ (द्वन्द्व) मन्युव्यवसाययोः दीपिनीः इति।

व्याकरण–अपाकृतीः=अप+आ+कृ+क्तिन् द्वि.वि.बहुवचन, विनियन्तुम्=वि+नि+यम्+तुमुन्, अक्षमा=नञ्-क्षम्+अच्+टाप्, आत्मजा=आत्मन्+जन्+ड+टाप्, क्रोध=क्रुध्+घञ्, व्यवसाय=वि+अव्+सो+घञ्, दीपिनीः=दीप्+णिच्+णिनि+ङीप् द्वि. वि. बहुवचन, उदाजहार=उद्+आ + ह्र +लिट् प्र.पु. एकवचन, निशम्य=नि+शम्+क्त्वा (ल्यप्)।

अलङ्कार–तकार की अनेक बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास।

छन्द–वंशस्थ।

कोष–'योग्यमृद्धिः सिद्धिलक्ष्म्यौ' इत्यमरः। 'रिपौवैरिसपत्नारि द्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' इत्यमरः। 'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इत्यमरः। 'ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती' इत्यमरः।

28. **भवादृशेषु प्रमदाजनोदितं**
भवत्यधिक्षेप इवानुशासनम्।
तथापि वक्तुं व्यवसाययन्ति मां
निरस्तनारीसमया दुराधयः॥28॥

अन्वय–भवादृशेषु प्रमदाजनोदितम् अनुशासनम् अधिक्षेप इव भवति। तथापि निरस्तनारीसमयाः दुराधयः मां वक्तुं व्यवसाययन्ति।

शब्दार्थ–भवादृशेषु=आप (युधिष्ठिर) जैसे (विद्वानों) के प्रति; प्रमदाजनोदितम्=स्त्रियों के द्वारा कहा गया; अनुशासनम्=उपदेशपरक वचन; अधिक्षेप इव=तिरस्कार के समान, भवति=है; तथापि=फिर भी; निरस्तनारीसमयाः=समाप्त कर दिया है नारीजनोचित शालीनत्व को जिन्होंने; दुराधयः=तीव्रमनोव्यथा, (दुष्टमनोव्यथा); माम्=मुझ. (द्रौपदी) को; वक्तुम्=बोलने के लिए, व्यवसाययन्ति=प्रेरित कर रही है।

अनुवाद–आप जैसों के लिए स्त्रियों के द्वारा कहा गया उपदेशात्मक वचन तिरस्कार के समान है। फिर भी (ऐसा जानते हुए भी) नारीजनोचित शालीनत्व को समाप्त कर देने वाली तीव्र मनोव्यथा मुझे बोलने के लिए प्रेरित कर रही है।

व्याख्या–युधिष्ठिर से वनेचर द्वारा कही गई दुर्योधन की राजविषयिणी नीति को सुनकर, कौरव पक्ष द्वारा किये अपमान का स्मरण कर द्रौपदी अपने मनोविकारों पर काबू नहीं कर सकी। युधिष्ठिर के क्रोध और व्यवसाय को उद्दीप्त करने वाली वाणी का प्रयोग करते हुए उसने युधिष्ठिर को प्रकृत परिस्थिति में करणीय कर्म का उपदेश देने के लिए उपक्रम करते हुए कहा कि यद्यपि उसको (द्रौपदी को) ज्ञात है कि युधिष्ठिर जैसे विद्वान् को यदि कोई प्रमदा (प्रमदा शब्द के दो अर्थ हैं–(i) हर्ष करने वाली, (ii) प्रकृष्ट मद से युक्त, अर्थात् अविवेकी, उचितानुचित विवेकशून्य) उपदेश वचन कहती है तो वह उपदेश वस्तुतः युधिष्ठिर के लिए तिरस्कार तुल्य है। 'भवादृश' का शाब्दिक अर्थ–'आप जैसा' है; किन्तु युधिष्ठिर के लिए प्रयुक्त होने से विद्वान्, नीतिज्ञ, कुशल, उचितानुचित विवेकी आदि विविध अर्थों को ध्वनित करता है और ऐसे व्यक्ति को 'प्रमदा' के द्वारा उपदेश दिया जाना, दोनों के बीच के महदन्तर को अभिव्यक्त करता है। द्रौपदी उपदेश के इस अनौचित्य को जानती हुई भी यदि उपदेश देने के लिए प्रवृत्त हुई है तो इसका कारण युधिष्ठिर को तिरस्कृत करना नहीं है अपितु उसने स्वयं को जो 'प्रमदा' कहा है–मद से विह्वल होने के कारण जैसे व्यक्ति का अपने पर नियन्त्रण नहीं रह जाता, वैसे ही मानसिक व्यथाओं के कारण वह भी सन्तुलन खो बैठी है और 'दुराधयः' दुष्ट मानसिक व्यथायें उसे सञ्चालित कर रही हैं; जिन्होंने स्त्रियोचित शालीनता को नष्ट कर दिया है, ऐसी मनोव्यथायें ही उसे बोलने के लिए प्रेरित कर रही हैं। बोलना उचित नहीं है फिर भी बोल रही है, इसमें हेतु है उसकी मानसिक व्यथायें। इसीलिए 'आधयः' के विशेषण के रूप में उसने 'दुर्' अव्यय का प्रयोग किया है। अनौचित्य में प्रवृत्त करने के कारण 'आधयः=मानसिक व्यथायें' ही दोषी हैं वह नहीं। इसी तथ्य को बतलाने के लिए कवि ने णिजन्त (प्रेरणार्थक) क्रिया का प्रयोग किया है। जब प्रेरणार्थक क्रिया का प्रयोग होता है तब उसमें सामान्य

क्रिया का अर्थ तथा प्रेरणारूप अर्थ दोनों योजित हो जाते हैं। उदाहरण वाक्य से यह बात अधिक स्पष्ट हो जायेगी जैसे हम कहते हैं—वह पढ़ता है, स पठति, यहाँ 'पठति' क्रिया है और 'सः' प्रयोज्य कर्त्ता है; पुनः हम कहें राम उसे पढ़ाता है=रामः तं पाठयति; प्रस्तुत प्रयोग में 'पाठयति' प्रेरणार्थक क्रिया है और 'राम' प्रेरणार्थक कर्त्ता है। प्रेरणार्थक क्रिया के स्थल में प्रेरक कर्त्ता ही प्रधान हो जाता है, और प्रयोज्य कर्त्ता की कर्मसंज्ञा हो जाती है (गति-बुद्धि-प्रत्यवसानाऽर्थक शब्दकर्माऽकर्मकाणाम् अणि कर्ता स णौ) और 'कर्मणि द्वितीया' से उसमें द्वितीया विभक्ति आती है, जैसे प्रस्तुत प्रयोग में 'तम्' कर्मकारक में प्रयुक्त है। इसी तरह प्रस्तुत श्लोक में 'व्यवसाययन्ति' प्रेरणार्थक क्रिया है। प्रेरककर्त्ता 'दुराधयः' है इसीलिए प्रयोज्य कर्त्ता का कर्मकारक में प्रयोग हुआ है 'माम्' यह प्रयोग उसी प्रेरणार्थकता को अभिव्यक्त कर रहा है। ऐसा ही भाव माघ के शिशुपालवध के एक श्लोक में भी प्राप्त होता है। जैसे यहाँ मनोव्यथायें बोलने के लिए प्रेरित कर रही हैं वैसे ही शिशुपालवध के श्लोक में कहा गया है कि धृष्टता के कारण कहने के लिए उद्योग किया जा रहा है—

गतस्पृहोऽप्यागमनप्रयोजनं वदेति वक्तुं व्यवसीयते यया।
तनोति नस्तामुदितात्मगौरवो गुरुस्तवैवागम एष धृष्टताम्।।

समास—प्रमदाजनोदितम्=प्रमदा चासौ जनश्च (कर्मधारय) इति प्रमदाजनः, प्रमदाजनेन उदितम् (तृतीया तत्पु.) निरस्तनारीसमया=नारीणां समया इति नारीसमयाः, निरस्ताः नारीसमयाः यैः ते (बहुव्रीहि), दुराधयः=दुष्टाः आधयः (प्रादि तत्पु.)

व्याकरण—भवादृशेषु=भवत्+दृश्+कञ् स.वि. बहुवचन, प्रमदा=प्रमद+अच्+टाप्, उदितम्= वद्+क्त, अनुशासनम्=अनु+शास्+ल्युट्, अधिक्षेपः=अधि+क्षिप्+घञ्, निरस्ताः=निर्+अस्+क्त, दुराधयः=दुर्+आ+धा+कि प्र.वि. बहुवचन, अधिक्षेपः= अधि +क्षिप्+घञ्, वक्तुम्=वद्+तुमुन्, व्यवसाययन्ति=नि+अव्+सो+णिच् लट् प्र.पु. बहुवचन।

अलङ्कार—उपमा तथा काव्यलिङ्ग।

छन्द—वंशस्थ।

कोश—'प्रमदा मानिनी कान्ता ललना च नितम्बिनी' इत्यमरः। 'अधिक्षेपः समाक्षेपो व्यङ्ग्ययुक्तं वचोऽपि वा' इति कोषः। 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथा' इत्यमरः।

29. अखण्डमाखण्डलतुल्यधामभि-
श्चिरं धृता भूपतिभिः स्ववंशजैः।
त्वयात्महस्तेन मही मदच्युता
मतङ्गजेन स्त्रगिवापवर्जिता।।29।।

अन्वय—आखण्डलतुल्यधामभिः स्ववंशजैः भूपतिभिः चिरम् अखण्डं धृता मही त्वया मदच्युता मतङ्गजेन स्त्रगिव आत्महस्तेन अपवर्जिता।

शब्दार्थ—आखण्डलतुल्यधामभिः=इन्द्र के समान तेज वाले; स्ववंशजैः=अपने कुल में उत्पन्न हुए; भूपतिभिः=राजाओं के द्वारा; चिरम्=बहुत समय तक; अखण्डम्=सम्पूर्ण रूप से; धृता=धारण की गयी, अधिकार में रखी गयी; मही=पृथ्वी; त्वया=आप (युधिष्ठिर) के द्वारा; मदच्युता=मद बहाने वाले; मतङ्गजेन=हाथी के द्वारा; स्त्रक् इव=पुष्पमाला की तरह; आत्महस्तेन=अपने हाथ से (हाथी के पक्ष में)—अपनी सूँड़ से; अपवर्जिता=त्याग दी, फेंक दी।

अनुवाद—इन्द्र के समान तेज वाले अपने वंश में उत्पन्न महीपतियों के द्वारा चिरकाल तक अखण्ड रूप से धारण की गयी पृथ्वी आपके द्वारा अपने हाथ से त्याग दी गयी, जैसे मदस्त्रावी गज अपनी सूंड़ से (अर्पित की गयी) माला को (भी) फेंक देता है।

व्याख्या–द्रौपदी युधिष्ठिर को उस राज्य की याद दिलाती है जिसे यद्यपि आज छल से दुर्योधन ने ले लिया है; किन्तु वह राज्य युधिष्ठिर ने स्वयम् अपने पराक्रम से अर्जित नहीं किया था, अपितु युधिष्ठिर को वह राज्य वंश-परम्परा से प्राप्त हुआ था। युधिष्ठिर के कुल के सोमवंशी राजा भरतादि ने जो देवराज इन्द्र के समान तेजस्वी थे चिरकाल तक अखण्ड रूप से पृथ्वी पर शासन किया। देवराज इन्द्र से तुलना करके वह कहना चाहती है कि पृथ्वी पर उनके समान कोई नहीं था, जिससे उनकी तुलना की जाये, वे अद्वितीय थे। यदि तुलना भी बनती है तो देवराज इन्द्र से ही। यहाँ द्रौपदी का अभिप्राय यह है कि पूर्वजों को भी यह राज्य तुरन्त नहीं प्राप्त हुआ था अपितु (चिरम्) बहुत काल से अखण्ड रूप से (बिना किसी अन्य राजा के द्वारा हस्तगत किये) वे शासन कर रहे थे। इसीलिए उस राज्य की उपमा, स्रज् से दी गयी है। जो यत्नपूर्वक बनायी जाये या गूंथी जाये उसे स्रक् कहते हैं–सृज्यते सयत्नं विधीयते इयम् इति स्रक्। माला एक-एक फूल गूँथकर यत्नपूर्वक तो बनती ही है साथ ही जिसे भी पहनाई जाती है उसे सम्मान में, या प्रेम में या संक्षेप में कहें तो सविशेष भाव से ही पहनायी जाती है; किन्तु ऐसी भी माला को मदस्रावी गज अपने ही सूँड़ से निकालकर फेंक देता है। वैसे ही पूर्वजों के द्वारा अत्यन्त यत्नपूर्वक संजोये हुए अखण्ड (अखण्ड पद से राज्य के विस्तार को इंगित करने की चेष्टा है, छोटा राज्य नहीं अपितु विस्तृत) राज्य को आपने अपने ही हाथ से खो दिया जिसकी रक्षा प्राणपण से की जानी चाहिए थी।

यहाँ द्रौपदी युधिष्ठिर की प्रमत्तता, असावधानी को इंगित कर रही है। द्रौपदी का तात्पर्य यह है कि आज जो विपत्ति पाण्डवों पर आ पड़ी है वह दैवकृत नहीं है अपितु स्वयं की चपलता, प्रमत्तता का परिणाम है। जिसे यत्न से गले का हार बनाकर रखना चाहिए था, उसे प्रमादवश अपने ही हाथ से फेंक दिया गया, अतः दैव के भरोसे न रहकर, स्वयम् उसको प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ भी करना होगा।

समास–आखण्डलतुल्यधामभिः=आखण्डलेन तुल्यं धाम येषां ते आखण्डलतुल्यधामानः, तैः (बहु.), स्ववंशजैः=स्वस्य वंशः स्ववंशः (तत्पु.), स्ववंशे जायन्ते ये ते स्ववंशजाः तैः (उपपद समास)। भूपतिभिः=भुवः पतयः भूपतयः तैः (तत्पु.)। अखण्डम्=नास्ति खण्डं यस्मिन् तद् (बहुव्रीहि) अथवा न खण्डम् इति (नञ् तत्पुरुष समास)। मदच्युता=मदं च्योततीति मदच्युत्, तेन (उपपद समास)। मतङ्गजेन=मतङ्गात जातः इति मतङ्गजः, तेन (उपपद समास)। आत्महस्तेन=आत्मनः हस्तः इति आत्महस्तः तेन (तत्पु.)।

व्याकरण–स्ववंशजैः=स्ववंश+जन्+ड, तृ.वि. बहुवचन, धृता=धृ+क्त+टाप्, मदच्युता=मद+च्यु+क्विप्, तृ.वि.ए.व., मतङ्गजेन=मतङ्ग=जन्+ड, तृ. वि.ए. व., स्रज्=सृज्+क्विन्, अपवर्जिता=अप+वृज्+णिच्+क्त+टाप्।

अलङ्कार–उपमा। मही एवं स्रक् में उपमानोपमेय भाव होने से उपमालङ्कार।

छन्द–वंशस्थ।

कोश–इन्द्रो मरुत्वान्मघवा विडौजाः पाकशासनः।....'आखण्डलः सहस्राक्षः' इत्यमरः। 'समस्तुल्यः सदृक्षः सदृशः सदृक्' इत्यमरः। 'चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः' इत्यमरः। 'वंशोऽन्ववायः सन्तानो' इत्यमरः। 'माल्यं मालास्रजौ' इत्यमरः। मतङ्गजो गजो नागः कुञ्जरो वारणः करी' इत्यमरः।

30. **व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं**
भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधान्
असंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः॥30॥

अन्वय–मूढधियः ते पराभवं व्रजन्ति ये मायाविषु मायिनः न भवन्ति। शठाः तथाविधान् असंवृताङ्गान् निशिता इषवः इव प्रविश्य घ्नन्ति हि।

शब्दार्थ–मूढधियः=मन्द बुद्धि वाले, अविवेकी; ते=वे; पराभवम्=पराजय को; व्रजन्ति=प्राप्त होते हैं; ये=जो; मायाविषु=मायावियों के प्रति (छलकपटपूर्ण आचरण करने वालों के प्रति); मायिनः=मायावी (कपटपूर्ण

आचरण करने वाले); न भवन्ति=नहीं होते। शठाः=धूर्त, कपटी जनः, तथाविधान्=उस प्रकार के (निष्कपट लोगों को); असंवृताङ्गान्=न ढके हुए शरीर वालों को, अनाच्छादित शरीर वालों को; निशिताः=तीक्ष्ण, नुकीले; इषवः इव=बाणों की तरह; प्रविश्य=प्रविष्ट होकर; घ्नन्ति =मार डालते हैं।

अनुवाद–मन्द बुद्धि वाले वे जन पराजय को प्राप्त होते हैं जो कपटपूर्ण आचरण करने वालों के प्रति (मायावियों के प्रति) कपटाचरण (मायावी) नहीं करते। धूर्त उस प्रकार के निष्कपट जन के आत्मीय बन (प्रविश्य=अन्तःप्रविष्ट हो, मन के भेद को जानकर) उन्हें मार ही डालते हैं जैसे तीखे बाण (कवचादि से) अनाच्छादित शरीर वालों के अन्दर प्रविष्ट हो (उन्हें मार डालते हैं)।

व्याख्या–प्रकृत श्लोक में द्रौपदी युधिष्ठिर से व्यवहार की नीति को ख्यापित कर रही हैं कि जो जैसे व्यवहार करे उसके साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए, ऐसा न करने वाला मन्दबुद्धि वाला होता है। यदि मायावी–छल प्रपञ्च करने वाले, कपटपूर्ण आचरण करने वाले के साथ व्यक्ति सरल व्यवहार करता है, स्वयं मायावियों के प्रति मायावी नहीं होता वह निश्चित रूप से पराजय को प्राप्त करता है। 'असंवृताङ्गान्' शब्द में संभवतः भारवि ने श्लेष का प्रयोग किया है। बाण के पक्ष में (1) कवचहीन शरीर वाले और शठ के पक्ष में–(2) अपने रहस्य को गुप्त न रखने वाले होगा। ऐसे ही 'प्रविश्य' पद भी बाण के पक्ष में प्रविष्ट होकर और शठ के पक्ष में रहस्य को जानकर, आत्मीय बनकर, अन्दर (मन के अन्दर तक) घुस कर, होगा।

धूर्तजन, ऐसे ही सरल (मूढ) बुद्धि वाले लोगों के आत्मीय बन कर, उनके रहस्यों को जानकर उन्हें मार ही डालते हैं जैसे तीक्ष्ण बाण कवचादि से अनावृत शरीर में प्रविष्ट हो व्यक्ति को मार डालता है। 'हि' निपात का प्रयोग हेतु (कारण) और अवधारण अर्थात् विनिश्चय दोनों में हो होता है 'हि हेतौऽवधारणे'। प्रकृत श्लोक में ये दोनों ही अर्थ समीचीन हैं। यदि वाक्य का स्वरूप–''हि शठाः तथाविधान् असंवृताङ्गान्....घ्नन्ति'–इस प्रकार हो तो इसका अर्थ 'हेतु' होगा, क्योंकि धूर्त वैसे सरल लोगों को मार डालते हैं जैसे तीक्ष्ण बाण अनावृत शरीर वालों को मार डालता है। यदि 'हि' का प्रयोग क्रिया के साथ अन्त में करे 'घ्नन्ति हि' तो वाक्य का अर्थ होगा शठ वैसे सरल लोगों के हृदय में प्रविष्ट हो उन्हें मार ही डालते हैं। यहाँ 'अवधारण' रूप अर्थ ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है 'वक्तृ' और 'बोद्धा' के सम्बन्ध से। बोलने वाली द्रौपदी है और सुनने वाले युधिष्ठिर हैं। एक बार तो दुर्योधन कपटाचरण के द्वारा युधिष्ठिर को पराजित कर चुका है, यदि अभी भी युधिष्ठिर सचेत नहीं होते हैं तो वह मायावी निश्चित रूप से उन्हें मार ही डालेगा। शठ के साथ सरल व्यवहार को द्रौपदी साधुता नहीं मानती । इसीलिए उसने 'मूढधियः' शब्द का प्रयोग किया है। 'आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः' या 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' यह भाव यहाँ ध्वनित हुआ है।

समास–मूढधियः= मूढा धीः येषां ते मूढधियः (बहुव्रीहि); तथाविधान्=तथा विधा येषां ते तथाविधाः (बहुव्रीहि) तान्; असंवृताङ्गान्=असंवृतानि अङ्गानि येषां ते, असंवृताङ्गाः (बहुव्रीहि) तान्; असंवृतानि=न संवृतानि (नञ् तत्पु.)।

व्याकरण–धीः=ध्यै+क्विप्; मूढा=मुह्+क्त+टाप्; पराभवम्=परा+भू+अप्; व्रजन्ति=व्रज्+लट् प्र.पु.बहु. व.; मायाविषु=माया+विनि+सुप्; मायिनः=माया+इनि; तथा=तद्+थाल् (प्रकारवचने थाल् सूत्र से थाल् प्रत्यय); असंवृतानि=नञ्+सम्+वृ+क्त प्र.वि. बहुवचन; निशिताः=नि शो+क्त प्र.वि. बहुवचन; प्रविश्य=प्र+विश्+क्त्वा -ल्यप्; घ्नन्ति =हन्+लट् प्र.पु. बहु. व.।

अलङ्कार–उपमा अलङ्कार तथा अर्थान्तरन्यास। 'शठाः' तथा 'इषवः' में उपमानोपमेयभाव होने से उपमा और 'व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः' इस सामान्य कथन से बाद की दो पंक्तियों में निरूपित विशेष कथन का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है। दोनों अलङ्कारों की तिलतण्डुलवत् संसृष्टि है।

छन्द–वंशस्थ।

कोष–'पराभवः परिभवः पराजयः इति कोषः।' 'निकृतस्त्वनृजुः शठः' इत्यमरः। 'क...म्बमार्गणशराः पत्री रोपईषुर्द्वयोः' इत्यमरः।

बोध प्रश्न

13. 'दुःशासनमिद्धशासनः' इन पदों से दुर्योधन तथा दुर्योधन के अनुज दुःशासन की किन विशेषताओं का ज्ञान हो रहा है? इसके माध्यम से दुर्योधन की शासन कुशलता कैसे अभिव्यक्त हो रही है?

14. 'मखेष्वखिन्नोऽनुमतः पुरोधसा' के द्वारा वनेचर दुर्योधन की किन-किन विशेषताओं को बतलाना चाह रहा है।

15. 'भियस्त्वदेष्यतीः' में 'त्वद्' किसके लिये प्रयुक्त किया गया है। 'कैसा भय', 'किससे भय' सविस्तार निरूपित कीजिये।

16. कथाप्रसङ्गेन जनैरुदाहृता-
    दनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः।
    तवाभिधानाद् व्यथते नताननः
    स दुःसहान्मन्त्रपदादिवोरगः।।

    प्रकृत श्लोक में श्लेषानुप्राणित उपमा के स्वरूप को स्पष्ट कीजिये।

17. 'नृपस्य मन्युव्यवसायदीपिनीरुदाजहार द्रुपदात्मजा गिरः।' प्रकृत पङ्क्तियों में 'नृप' शब्द किसके लिये प्रयुक्त है। द्रुपदात्मजा कौन है तथा उसका पाण्डवों से क्या सम्बन्ध है? वह 'मन्यु' और 'व्यवसाय' को क्यों उद्दीप्त करना चाह रही है?

18. 'प्रविश्य घ्नन्ति शठास्तथाविधान् असंवृताङ्गन्निशिता इवेषवः।' इस श्लोक के सन्दर्भ में बाण और शठ के व्यापार को स्पष्ट कीजिये।

31. **गुणानुरक्तामनुरक्तसाधनः**
कुलाभिमानी कुलजां नराधिपः।
परैस्त्वदन्यः क इवापहारये-
न्मनोरमामात्मवधूमिव श्रियम्।।31।।

अन्वय–अनुरक्तसाधनः कुलाभिमानी त्वदन्यः क इव नराधिपः गुणानुरक्तां कुलजां मनोरमामात्मवधूमिव श्रियं परैः अपहारयेत्।

शब्दार्थ–अनुरक्तसाधनः=अनुकूल सहायक (सेवकों) से युक्त; कुलाभिमानी=अपने कुल की मर्यादा का ध्यान रखने वाला, कुलीनता का अभिमानी; त्वदन्यः=तुमसे (युधिष्ठिर) भिन्न (तुम्हारे अतिरिक्त दूसरा), कः इव नराधिपः=कौन सा राजा; गुणानुरक्ताम्=गुणों के कारण अनुराग रखने वाली, कुलजाम्=अच्छे कुल में उत्पन्न; मनोरमाम्=सुन्दर, मन को आकृष्ट करने वाली; आत्मवधूम् इव=अपनी पत्नी की तरह। (लक्ष्मी के पक्ष में); अनुरक्तसाधनः=अनुकूल सैन्यशक्ति वाला; कुलाभिमानी=क्षत्रियत्वाभिमानी; गुणानुरक्ताम्=सन्धि-विग्रहादि गुणों के कारण अनुराग रखने वाली, कुलजाम्=वंश-परम्परा से प्राप्त; मनोरमाम्=मन को प्रसन्न करने वाली, श्रियम्=राजलक्ष्मी को; परैः=दूसरों के द्वारा; अपहारयेत्=अपहरण करवायेगा।

अर्थ–अनुकूल सेवकों से युक्त कुलीनत्व का अभिमानी आपसे भिन्न कौन ऐसा अनुकूल सैन्य शक्ति वाला, क्षत्रियत्वाभिमानी राजा होगा जो (शौर्य, सौन्दर्य आदि) गुणों के कारण अनुराग रखने वाली, अच्छे कुल

में उत्पन्न, मन को आकृष्ट करने वाली अपनी पत्नी के तुल्य, सन्धि विग्रहादि गुणों के कारण अनुराग रखने वाली, कुलपरम्परया प्राप्त, मन को रमाने वाली (मन को सुख देने वाली) लक्ष्मी को दूसरे के द्वारा अपहरण करवायेगा।

व्याख्या–प्रकृत श्लोक द्वयर्थक है एक अर्थ युधिष्ठिर की पत्नी द्रौपदी के अर्थ में है और दूसरा राजलक्ष्मी से सम्बद्ध है। दोनों ही अर्थ युधिष्ठिर से सम्बद्ध हैं। लोक में पत्नी का दूसरे के द्वारा अपहरण अकीर्तिकर, प्रतिष्ठा-विनाशक अतएव निन्दनीय होता है, उसी तरह राजा की राजलक्ष्मी का भी अपहरण अकीर्तिकर होता है; किन्तु आश्चर्य तो यह है कि इन दोनों ही अकीर्तिकर कार्यों को युधिष्ठिर ने स्वयं करवाया है। इसीलिए द्रौपदी अत्यधिक आहत होकर युधिष्ठिर से कहती है कि आपके अतिरिक्त ऐसा कौन होगा अर्थात् कोई नहीं हो सकता। 'इव' के साथ 'कः' का प्रयोग वैपरीत्य को व्यञ्जित करने के लिए किया गया है, क्योंकि जो अनुकूल सहायकों या अनुकूल सैन्य शक्ति से युक्त होगा उसके जीते जी उसकी पत्नी या राजलक्ष्मी का कोई अपहरण नहीं कर सकता। इसीलिए कामन्दकी नीति में कहा गया है–

उद्योगादनिवृत्तस्य ससहायस्य धीमतः।
छायेवानुगता तस्य नित्यं श्रीःसहचारिणी।।

जिसे अपने कुलीनत्व का अभिमान होगा या जिसे अपने क्षत्रियत्व का अभिमान होगा उसकी भी पत्नी या राजलक्ष्मी को अनायास कोई ले नहीं सकता; किन्तु आपके अतिरिक्त कौन होगा जो अपनी पत्नी को जो आपमें अनुराग रखने वाली, उन्नत कुल में उत्पन्न, स्वयं सौन्दर्यादि गुणों से युक्त होने के कारण मन का हरण करने वाली वधू का स्वयं अपहरण करवायेगा। तात्पर्य यह है कि यदि वह अननुरक्त हो, नीच कुलोत्पन्न हो तो उससे कुलटात्व आदि की सम्भावना हो सकती है। कुरूप होने से अहृद्य हो तो उसके प्रति उपेक्षा समझी जा सकती है। उसी प्रकार सन्धि, विग्रह, यान, आसन आदि षाड्गुण्य के कारण जो राजलक्ष्मी आपमें अनुरक्त हो। वस्तुतः लक्ष्मी तो चञ्चला होती है, वह किसी के पास स्थिर होकर नहीं रहती। लक्ष्मी के सम्बन्ध में कहा जाता है कि न तो वह उच्चकुल की अपेक्षा करती है, न विद्या की अपेक्षा करती है, न शूरता की अपेक्षा करती है; किन्तु पूर्वजन्म में उत्पन्न हुए संस्कार के सम्बन्ध से कहीं पर ही स्थिर होकर रहती है–नाभिजातिं न विज्ञानं न च शौर्यमपेक्षते। लक्ष्मीः संस्कारयोगाच्च क्वचिदेवावतिष्ठते।।'

ऐसी चञ्चला राजलक्ष्मी आपके द्वारा सन्धिविग्रह आदि गुणों के सम्यक् प्रयोग के कारण आप पर स्वयम् अनुरक्त थी। कालिदास कहते हैं कि लक्ष्मी को चाहने वाला लक्ष्मी को पाये या न पाये; किन्तु जिसे लक्ष्मी स्वयं प्राप्त करना चाहेगी वह भला दुष्प्राप्य कैसे हो सकता है-

लभेत वा प्रार्थयिता न वा श्रियं।
श्रिया दुरापः कथमीप्सितो भवेत्।। अभिज्ञानशाकुन्तल, 3.11.

आप पर अनुरक्त वह लक्ष्मी आपको नहीं त्यागती; किन्तु आपने द्यूत मद में स्वयम् उसे दांव पर लगा कर त्याग दिया। वह राजलक्ष्मी 'कुलजाम् कुल-परम्परा से आपको प्राप्त हुई थी। कुलक्रमागत होने से दो बातें ध्वनित होती हैं एक तो उसकी स्थिरता और दूसरा उसका आपके द्वारा स्वयं आयत्त न किया जाना। जिसे आपने स्वयम् अर्जित नहीं किया था, उसे आपने कैसे दूसरे को सौंप दिया। हर प्रकार से आपके मन को सुख देने वाली उस राजलक्ष्मी को आपने दूसरे के द्वारा अपहरण करवाया, भला दूसरा ऐसा कौन कर सकेगा? अर्थात् अत्यधिक अशोभयनीय, अपकीर्तिकर कार्य आपके द्वारा हुआ है। पृथ्वी अर्थात् राजलक्ष्मी राजा की पत्नी मानी जाती है इसलिये जैसे भार्या का अपहरण अपमानजनक है वैसे ही राजलक्ष्मी का अपहरण भी मान-हानिकारक होने से अनुपेक्षणीय है। यतः युधिष्ठिर ने स्वयं राजलक्ष्मी का परित्याग किया है, अतः उनका कर्त्तव्य बनता है कि वे गयी हुई राजलक्ष्मी को पुनः प्राप्त करने का हरसम्भव यत्न स्वयं करे।

विशेष–कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में सन्धि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय और द्वैधीभाव रूप

नीतियों की चर्चा की है, जिन्हें षाड्गुण्य भी कहते हैं। इसमें "पणबन्धः सन्धिः, अपकारो विग्रहः, उपेक्षणमासनम्, अभ्युच्चयो यानं, परार्पणं संश्रयः सन्धिविग्रहोपादानं द्वैधीभाव इति षड्गुणाः। अर्थात् जब प्रतिज्ञापूर्वक किसी अन्य राज्य से कोई सम्बन्ध स्थापित किया जाये तो उसे सन्धि कहते हैं, दूसरे राज्य पर आक्रमण का नाम विग्रह है, उदासीन वृत्ति को आसन कहते हैं, शत्रु के विरुद्ध तैयारी की संज्ञा यान है, अपने को दूसरे अधिक शक्तिशाली राजा को अर्पण कर देने का नाम संश्रय है, एक के साथ सन्धि और दूसरे के साथ विग्रह की नीति को द्वैधीभाव कहते हैं। इनमें कब किस गुण या नीति का प्रयोग करना है, इसका जिसे सम्यक् ज्ञान हो वही राज्य का अच्छा सञ्चालन कर सकता है और अपने राज्य को सुरक्षित रख सकता है। प्रकृत श्लोक में कहा गया है कि लक्ष्मी युधिष्ठिर के गुणों पर अनुरक्त थी अर्थात् युधिष्ठिर को इन नीतियों के सम्यक् प्रयोग का ज्ञान था, इसलिए राजलक्ष्मी स्थिरता को प्राप्त थी।

समास–अनुरक्तसाधनः= (साधयति अनेन इति साधनम्) अनुरक्तं साधनं यस्य सः (बहुव्रीहि); कुलाभिमानी=कुलस्य (कुलीनत्वस्य क्षत्रियत्वस्य वा) अभिमानःइति कुलाभिमानः (षष्ठी तत्पु.); कुलाभिमानः अस्य अस्तीति; नराधिपः=नराणाम् अधिपः (षष्ठी तत्पु.); गुणानुरक्ताम्=गुणैः (सौन्दर्यादिभिः, सन्धिविग्रहादिभिर्वा) अनुरक्ता इति गुणानुरक्ता (तृतीया तत्पु.); ताम् कुलजाम्=कुले जाता इति कुलजा (सप्तमी तत्पु.) ताम्; मनोरमाम्=रमयति इति रमा मनसः रमा इति (षष्ठी तत्पु.) मनोरमा ताम्; आत्मवधूम्=आत्मनः वधूः इति आत्मवधूः ताम् (षष्ठी तत्पु.)।

व्याकरण–साधनम्=साध्+णिच्+ल्युट्; अभिमानः=अभि+मन्+घञ्; कुलाभिमानी=कुलाभिमान+इनि; अधिपः=अधि+पा+क; अनुरक्ताम्=अनु+रञ्ज्+क्त टाप् द्वि.वि.ए.व.; कुलजाम्=कुल+जन्+ड+टाप् द्वि.वि.ए.व.; मनोरमाम्=मनस् रम्+णिच्+अच्+टाप्; अपहारयेत=अप+हृ+णिच्+विधिलिङ् प्र.पु.ए.व.।

अलङ्कार–प्रस्तुत पद्य में पूर्णोपमा अलङ्कार है। प्रकृत में आत्मवधू तथा श्री में उपमेयोपमान भाव है, साधर्म्य एवं 'इव' वाचक का प्रयोग होने से पूर्णोपमा हुई।

छन्द–वंशस्थ।

कोश–निर्वर्त्तनोपकरणानुव्रज्यासु च साधनम्' इत्यमरः। 'स्त्री योषिदबलायोषा नारी सीमन्तिनी वधूः' इत्यमरः। 'लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा कमला श्रीर्हरिप्रिया' इत्यमरः।

32. **भवन्तमेतर्हि मनस्विगर्हिते**
विवर्त्तमानं नरदेव वर्त्मनि।
कथन्न मन्युज्वलयत्युदीरितः
शमीतरुं शुष्कमिवाग्निरुच्छिखः॥32॥

अन्वय–हे नरदेव! एतर्हि मनस्विगर्हिते वर्त्मनि विवर्त्तमानं भवन्तम् उदीरितः मन्युः शुष्कं शमीतरूम् उच्छिखः अग्निरिव कथं न ज्वलयति।

शब्दार्थ–नरदेव=राजा; एतर्हि=इस (आपत्काल में) समय, मनस्विगर्हिते=प्रशस्त मन वालों (मनस्वियों) के द्वारा निन्दित; वर्त्मनि=मार्ग में, विवर्तमानम्=अवस्थित (शत्रुकृत दुर्दशा का अनुभव करने वाले); भवन्तम्=आप (युधिष्ठिर को); उदीरितः=उद्दीप्त, बढ़ा हुआ; मन्युः=क्रोध; शुष्कं शमीतरूम्=सूखे शमीवृक्ष को; उच्छिखः=ऊपर की ओर लपटों वाले; अग्निः इव=अग्नि की तरह, कथम्=किस प्रकार से, न ज्वलयति=नहीं जला डालता, नहीं प्रज्वलित करता।

अनुवाद–हे राजन्! इस आपत्काल में मनस्वियों के द्वारा निन्दित मार्ग में स्थित आप को उद्दीप्त क्रोध, सूखे शमी वृक्ष को ऊपर की ओर लपटों वाले (प्रदीप्त) अग्नि की तरह, किस प्रकार से नहीं प्रज्वलित करता है।

व्याख्या–वस्तुतः शत्रुकृत अपमान से व्यथित और दुरवस्था को प्राप्त द्रौपदी प्रतिकार हेतु युधिष्ठिर के कोप को उद्दीप्त करना चाहती है। वह युधिष्ठिर को सम्बोधित करते हुए कहती है हे नरेन्द्र! इस विपत्तिकाल में शत्रुकृत जिस दुर्दशा का सेवन आप सपरिवार कर रहे हैं उसकी मनस्वीजन, शूरजन निन्दा करते हैं। इस दुरवस्था का अनुभव करते हुए आपका प्रवृद्ध कोप क्यों नहीं उसी प्रकार प्रज्वलित होता, जैसे सूखे हुए शमी वृक्ष को ऊपर की ओर लपटों वाली अर्थात् प्रज्वलित अग्नि जला डालती है। शमी वृक्ष का ग्रहण यहाँ शीघ्र जलने के स्वभाव के कारण किया गया है। साथ ही 'शुष्क' विशेषण और भी शीघ्रता से उसका जलना ज्ञात हो सके, इसके लिए प्रयुक्त है। जैसे प्रज्वलित अग्नि शमी वृक्ष को भस्मसात् कर देती है वैसे ही इस दुर्दशा में भी आपका क्रोध उद्दीप्त होकर शत्रु पक्ष को क्यों नहीं भस्मसात् कर डालता?

द्रौपदी का अभिप्राय है कि आज भी आप (युधिष्ठिर) सहायकों से युक्त हैं तथा मनस्विजनों द्वारा निन्दित मार्ग पर स्थित होते हुए भी आप इस दुरवस्था से निकलने के लिए कोई उद्योग क्यों नहीं कर रहे हैं? आपका उद्दीप्त क्रोध इस दुरवस्था को उसी प्रकार क्यों नहीं जला देता जैसे शुष्क शमी के वृक्ष को अग्नि जला देती है।

समास–नरदेवः=नराणां देवः (षष्ठी तत्पु.) मनस्विगर्हिते= मनस्विभिः गर्हितम् इति मनस्विगर्हितं तस्मिन् (तृ. तत्पु.) शमीतरुम्=शमी चासौ तरुश्च इति शमीतरुः, तम् (कर्मधारय) या शमीनामा तरुः इति शमीतरुः तम् (शाकपार्थिवादि समास), उच्छिखः=उद्‌गता शिखा अस्य इति।

व्याकरण–एतर्हि=इदम्+ङि+र्हिल् (इदमोर्हिल् सूत्र से र्हिल् प्रत्यय), मनस्वी=मनस्+विनि, गर्हितम्=गर्ह्+क्त, विवर्तमानम्=वि+वृत्+शानच् द्वि.वि.ए.व., उदीरितः=उद्+ईर्+णिच्+क्त, शुष्कम्=शुष्+क्त प्र. वि. ए. व. (शुषः कः से क्त को क आदेश), ज्वलयति=ज्वल्+णिच्+लट् प्र.पु.ए.व., भवन्तम्=भवत्+अम्।

अलङ्कार–उपमा अलङ्कार। प्रस्तुत पद्य में मन्यु और अग्नि में उपमानोपमेय भाव होने से उपमा अलङ्कार है तथा तकार, नकार और वकार की अनेक बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास है।

छन्द–वंशस्थ।

कोश–'एतर्हि सम्प्रतीदानीमुधा साम्प्रतं' इत्यमरः। 'अयनं वर्त्म मार्गाध्वपन्थानः पदी सृतिः' इत्यमरः। 'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इत्यमरः। 'अग्निर्वैश्वानरो वह्निर्वीतिहोत्रो धनञ्जयः' इत्यमरः।

33. **अबन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां**
भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना
न जातहार्देन न विद्विषादरः॥33॥

अन्वय–अबन्ध्यकोपस्य आपदां विहन्तुः देहिनः स्वयमेव वश्या भवन्ति। अमर्षशून्येन जन्तुना जातहार्देन जनस्य आदरो न विद्विषा दरो न।

शब्दार्थ–अबन्ध्यकोपस्य=जिसका क्रोध निष्फल न हो, सफल क्रोध वाले का; आपदां विहन्तुः=आपत्तियों का विनाश करने वाले के, देहिनः=देह को धारण करने वाले अर्थात् प्राणी, स्वयमेव=अपने आप ही, स्वतः ही; वश्याः भवन्ति=वशीभूत हो जाते हैं। अमर्षशून्येन=क्रोधरहित, जन्तुना=प्राणी से, जातहार्देन=स्नेह होने पर; जनस्य=लोगों का; आदरः=सम्मान; न=नहीं (होता है); विद्विषा=शत्रु होने पर; दरः=भय; न=नहीं (होता है)।

अर्थ–जिसका क्रोध निष्फल नहीं होता तथा जो आपदाओं का विनाश करता है ऐसे व्यक्ति के प्राणी स्वयमेव ही वशीभूत हो जाते हैं। (किन्तु) क्रोधरहित व्यक्ति के स्नेह से युक्त होने पर लोगों का उसके प्रति आदर नहीं होता और शत्रुता होने पर लोगों को उसका भय नहीं होता।

व्याख्या–जिनका क्रोध बन्ध्य नहीं होता अर्थात् सफल क्रोध वाले और आपदाओं को नष्ट करने

वाले अर्थात् जो जन निग्रह और अनुग्रह में समर्थ हैं उनको लोगों को वशीभूत करने की चेष्टा नहीं करनी पड़ती, लोग स्वतः उनके वश में हो जाते हैं। किन्तु अमर्षशून्य (मर्ष=क्षमा या शान्ति, अमर्ष=क्रोध) व्यक्ति के हृदय से स्नेह करने पर लोगों की उसके प्रति आस्था नहीं होती तथा उसके शत्रु होने पर कोई भयभीत भी नहीं होता। तात्पर्य यह है कि मित्र उसका सम्मान नहीं करते और शत्रु उससे भयभीत नहीं होते। ऐसे व्यक्ति के मित्र या शत्रु होने का कोई महत्त्व नहीं। हार्द शब्द को व्याख्यायित करते हुए मल्लिनाथ ने उसे 'हृदयस्य कर्म=हार्दम्, कहा है। हृदय के पाप-पुण्यादि अन्य भी कर्म हैं; किन्तु हार्द शब्द प्रेम अर्थ में रूढ़ है। यहाँ द्रौपदी यह समझाना चाह रही है कि हार्दिक प्रेम भी निग्रहानुग्रहहीन व्यक्ति का आदरास्पद नहीं होता। अमर्षहीन व्यक्ति कहीं भी आदर का पात्र नहीं होता। 'अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम्' की उक्ति ऐसे व्यक्ति पर चरितार्थ होती है, उसे पौरुषहीन मान लिया जाता है। प्रकृत श्लोक में भारवि ने 'जन्तुना' शब्द का प्रयोग विशेष अभिप्राय से किया है। 'जननात् जन्तुः' का तृतीया विभक्ति का रूप है 'जन्तुना' अर्थात् जिसने जन्ममात्र ग्रहण किया है; किन्तु जो दानादिगुण से रहित और विपत्तियों को दूर कर सकने में समर्थ नहीं है, ऐसे व्यक्ति से यदि प्रेम हो गया तो मित्र दानादि के अभाव के कारण उसका आदर नहीं करते और अमर्षशून्य होने से यदि उससे शत्रुता हो जाये तो कोई उससे भयभीत नहीं होता।

वस्तुतः द्रौपदी का सङ्केत दुर्योधन की ओर है, वह सम्प्रति निग्रहानुग्रह में समर्थ है अतः जो जन उसके वशीभूत नहीं थे वे भी बाध्य होकर स्वतः उसके वश में होते जा रहे हैं और आप (युधिष्ठिर) वैराग्य का सेवन करते हुए वन में मुनि के समान निवास करते हुए, क्रोधादि से रहित हो स्थित हैं। क्रोध के कारण के होने पर भी शान्तचित्तता के कारण आपमें क्रोध प्रज्वलित नहीं होता, क्षत्रियकुलोत्पन्न यह आपके लिए युक्त नहीं। स्वकुलोचित प्रकृति को धारण करने वाला व्यक्ति ही सुशोभित होता है। अतः स्वयं को निग्रहानुग्रह के योग्य बनाइये।

समास–अवन्ध्यकोपस्य=न बन्ध्यः इति अबन्ध्यः (नञ् तत्पु.), अबन्ध्य कोपः यस्य सः अबन्ध्यकोपः, तस्य (षष्ठी तत्पु.); अमर्षशून्येन=न मर्षः इति अमर्षः (नञ् तत्पु.) अमर्षेण शून्यः इति अमर्षशून्यः (तृतीया तत्पु.) तेन; जातहार्देन=जातं हार्दं यस्य सः जातहार्दः, तेन।

व्याकरण–अबन्ध्यः=नञ्+बन्ध्+ण्यत्; आपदाम्=आ+पद्+क्विप् ष.वि.बहुवचन; विहन्तुः=वि+हन्+तृच् ष.वि.ए.व.; देहिनः=देह+इनि प्र.वि. बहुवचन; वश्याः=वश्+यत् प्र.वि. बहुवचन; अमर्षः=नञ् मृष्+घञ्, दरः=दृ+अप्।

अलङ्कार–सभङ्गश्लेष एवं वृत्त्यनुप्रास। 'विद्विषादरः' पद में विद्विषा+दरः तथा विद्विषा+आदरः=दो प्रकार से विग्रह की सम्भावना के कारण सभङ्ग श्लेष है। साथ ही वकार, जकार, दकारादि की आवृत्ति के कारण अनुप्रास अलङ्कार भी है।

छन्द–वंशस्थ।

कोश–'कोपक्रोधामर्षरोषप्रतिघा रुट्क्रुधौ' इत्यमरः। 'प्राणी तु चेतनो जन्मीजन्तुजन्युशरीरिणः' इत्यमरः। 'प्रेमा ना प्रियता हार्दं प्रेम स्नेहः' इत्यमरः। 'दरोऽस्त्रियां भये श्वभ्रे' इत्यमरः।

34. **परिभ्रमँल्लोहितचन्दनोचितः**
पदातिरन्तर्गिरि रेणुरूषितः।
महारथः सत्यधनस्य मानसं
दुनोति नो कच्चिदयं वृकोदरः॥34॥

अन्वय–लोहितचन्दनोचितः महारथः रेणुरूषितः पदातिः अन्तर्गिरि परिभ्रमन् अयं वृकोदरः सत्यधनस्य मानसम् नो दुनोति कच्चित्।

शब्दार्थ–लोहितचन्दनोचितः=लाल चन्दन के अभ्यस्त; महारथः=विशाल रथ पर चलने वाला, (जो

अकेले दस हजार योद्धाओं का सामना कर सके); रेणुरूषितः=धूलधूसरित, पदातिः=पैदल, अन्तर्गिरि=पर्वतों में, परिभ्रमन्=घूमता हुआ; अयं वृकोदरः=यह भीमसेन; (वृक का अर्थ भेड़िया तथा आमाशय में विद्यमान जठराग्नि भी है । ये दोनों ही अर्थ यहाँ भीमसेन के अतिभक्षी होने का सङ्केत दे रहे हैं); सत्यधनस्य=सत्य को ही धन मानने वाले, सत्यवादी; मानसम्=मन को, नो दुनोति कच्चित्=नहीं सन्तप्त करते क्या?

अनुवाद–लाल चन्दन के अभ्यस्त, विशाल रथ पर चलने वाले (इस समय), धूलधूसरित पैदल ही पर्वतों में घूमते हुए वृकोदर सत्यवादी आपके (युधिष्ठिर के) मन को सन्तप्त नहीं करता क्या?

व्याख्या–प्रस्तुत श्लोक में भीमसेन की दयनीय अवस्था का चित्रण कर द्रौपदी युधिष्ठिर के कोप को उद्दीप्त करना चाह रही है। महाभारत में वर्णित है कि भीमसेन को लाल चन्दन प्रिय था। उसी बात को द्रौपदी याद दिला रही है। उचित शब्द अभ्यस्त अर्थ में भी प्रयुक्त होता है जैसा कि मल्लिनाथ ने यादव कोश का उल्लेख करते हुए कहा है–'अभ्यस्तेऽप्युचितं न्याय्यम्' इति यादवः। 'लोहितचन्दनोचितः' इस समस्त पद की व्याख्या दो प्रकार से हो सकती है–(1) लाल चन्दन लगाने का अभ्यासी अथवा (2) उचित है लाल चन्दन जिसको अर्थात् धूलधूसरित होने की अपेक्षा उचित है (योग्य था) लाल चन्दन (लगाना) जिसके। वस्तुतः 'वाहिताग्न्यादिषु' के अनुसार आहिताग्निगण में पठित शब्दों में निष्ठान्त (क्त, क्तवतु प्रत्ययान्त शब्दों) का विकल्प से पूर्व प्रयोग होता है। आहिताग्निगण के आकृतिगण होने के कारण प्रकृत प्रयोग में भी यह नियम लागू होगा फलतः 'उचितम्' यह क्त प्रत्ययान्त (निष्ठान्त) शब्द समास के आदि और अन्त दोनों में ही विकल्पतः लग सकता है। यहाँ वस्तुतः विरोध को व्यञ्जित कर दुरवस्था की तीव्रता को ध्वनित किया जा रहा है। उचित है लाल चन्दन जिसके वह धूलधूसरित है, महान् रथ पर चलने वाला पैदल ही पर्वत-पर्वत भटक रहा है। महारथी शब्द भी दो अर्थों को व्यञ्जित कर रहा है एक तो विशाल रथ और दूसरा ऐसा वीर जो अकेले ही दस हजार योद्धाओं का सामना करे उसे महारथी कहा जाता है–'एको दशसहस्राणि योधयेद् यस्तु धन्विनाम्। शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च स महारथ उच्यते।।' पुनः इस द्वितीय अर्थ से व्यंग्य है कि जो इतना महान् योद्धा है वह जंगल-जंगल भटक रहा है, वन में उसकी वीरता की क्या चरितार्थता! 'पादाभ्याम् अतति गच्छति इति पदातिः' यहाँ पाद को 'पद' आदेश होकर अत् धातु से इण् प्रत्यय लगकर पदातिः पद निष्पन्न हुआ है। 'अत सातत्यगमने' से अत् धातु निरन्तर चलने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। विशाल रथ पर चलने वाला (जीवननिर्वाहक सामग्री के एकत्रीकरण के निमित्त) पर्वत में निरन्तर भटक रहा है। भीमसेन को 'वृकोदर' कहने में उसका अतिभोजन हेतु है। वृक (भेड़िये) के उदर के समान उदर है जिसका ऐसा यह भीमसेन (कन्दमूलादि के आहरणार्थ) पर्वतों में घूमता हुआ सत्यप्रतिज्ञ आपको दुःखित नहीं करता। 'वृक' जठराग्नि को भी कहते हैं जो सम्पूर्ण खाद्यसामग्री को पचा डालती है, अतः जिसके उदर में वृक नामक अग्नि है ऐसे वृकोदर का इस वन में पेट भी नहीं भरता होगा, क्योंकि जो भी वह खाता है वह तत्काल पच जाता है, वन में दुर्लभ होने से पुनः उसे भटकना पड़ता है–क्या वह आपके मन को सन्तप्त नहीं करता? 'सत्यधनस्य' के द्वारा भी व्यङ्ग्य है कि वाह आपकी सत्यप्रियता, आज भी आपके द्वारा सत्य की ही रक्षा की जा रही है न कि भाई की। 'नो' न के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला अव्यय है और कच्चित्' कुशल, मङ्गल या अपना अभिप्राय व्यक्त करने वाला अव्यय है।

समास–लोहितचन्दनोचितः=लोहितं चन्दनं इति लोहितचन्दनम् (कर्मधारय) उचितं लोहितचन्दनं यस्य सः (बहु.)। महारथः=महान् रथो यस्य सः (बहुव्रीहि) यहाँ महान् को (आन्महतःसमानाधिकरणजातीययोः) सूत्र से आकार अन्तादेश होकर 'महा' शब्द बना। रेणुरूषितः=रेणुभिः रूषितः (तृतीया तत्पु.); वृकोदरः=वृकस्य उदरम् इव उदरं यस्य सः (बहुव्रीहि); पदातिः=पादाभ्यास् अतति (उपपद तत्पु.); अन्तर्गिरि=गिरिषु (अव्ययीभाव समास), सत्यधनस्य=सत्यं एव धनं यस्य सः (बहुव्रीहि) तस्य।

व्याकरण–उचितम्=उच्+क्तः; रूषितः=रूष्+क्त; पदातिः=पद+अत्+इण्; परिभ्रमन्=परि+भ्रम्+शतृ प्र.वि.ए.व.; मानसम्=मनस्+अण्; दुनोति=दु+लट्+प्र.पु.ए.व।

अलङ्कार–वृत्यनुप्रास।

छन्द–वंशस्थ।

कोश–'लोहितो रोहितो रक्तः' इत्यमरः। 'रेणुर्द्वयोः स्त्रियां धूलिः पांशुर्ना न द्वयो रजः' इत्यमरः। 'गुण्ठितरूषिते' इत्यमरः। 'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यमरः। 'पिचण्डकुक्षी जठरोदरं तुन्दम्' इत्यमरः।

35. **विजित्य यः प्राज्यमयच्छदुत्तरान्**
कुरूनकुप्यं वसु वासवोपमः।
स वल्कवासांसि तवाधुनाहरन्
करोति मन्युं न कथं धनञ्जयः॥35॥

अन्वय–वासवोपमः यो धनञ्जयः उत्तरान् कुरून् विजित्य प्राज्यम् अकुप्यम् वसु अयच्छत्, अधुना वल्कवासांसि आहरन् सः कथं तव मन्युं न करोति।

शब्दार्थ–वासवोपमः=इन्द्र के तुल्य; यः=जो; धनञ्जयः=अर्जुन (धन को जीतने वाला), उत्तरान् कुरून्=उत्तर कुरु जनपद को, विजित्य=जीतकर; प्राज्यम्=अपरिमेय; अकुप्यम्=स्वर्ण, रजतादि; वसु=धन; अयच्छत्=दिया, समर्पित किया; अधुना=इस समय; वल्कवासांसि=वल्कलरूप वस्त्रों को; आहरन्=लाता हुआ; तव मन्युम्=तुम्हारे (शत्रु के प्रति) क्रोध को, कथं न करोति=क्यों उत्पन्न नहीं करता है।

अनुवाद–इन्द्र के तुल्य जिस अर्जुन ने उत्तर कुरु प्रदेश को जीतकर प्रभूत स्वर्ण-रजतादि सम्पत्ति प्रदान की, इस समय वल्कल रूप वस्त्रों को लाता हुआ वह क्यों आपके क्रोध को उत्पन्न नहीं करता?

व्याख्या–प्रकृत श्लोक में अर्जुन की दयनीय अवस्था को कहकर द्रौपदी युधिष्ठिर के कोप को उद्दीप्त करना चाह रही है। वासव शब्द इन्द्र के अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैसे प्रज्ञ एवं प्राज्ञः बनता है वैसे ही वसुरेव वासवः में स्वार्थ में अण् प्रत्यय लगकर वासव शब्द बनने पर इसका अर्थ धन होगा और जिसके पास धन है वह वासव है अर्थात् इन्द्र। इन्द्र शब्द भी 'इदि ऐश्वर्ये' धातु से बना हुआ है। तात्पर्य यह है कि वासव या इन्द्र परम ऐश्वर्य को सूचित करने के लिए प्रयुक्त हैं। वासव जिसकी उपमा है अर्थात् इन्द्रतुल्य प्रभूत ऐश्वर्यशाली। तृतीय पाण्डुपुत्र अर्जुन के यद्यपि कई नाम हैं; किन्तु अनेक पर्यायों में से कवि ने यहाँ 'धनञ्जय' नाम को ही चुना है, यह नाम भी प्रकृत प्रसङ्ग में अन्वर्थ है 'धनं जयति इति धनञ्जयः'। पुनः विपर्यय को दिखाने के लिए यह शब्द प्रयुक्त हुआ है जो पहले धन जीत कर लाता था अब वल्कल खोज कर लाता है। मेरु के उत्तर में स्थित देश विशेष को उत्तरान् कुरून् शब्द से कहा गया है। उत्तरकुरु पृथ्वी के नौ पौराणिक खण्डों में से एक है–भरत, किम्पुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्यमय, उत्तरकुरु, भद्राश्व और केतुमाल। उत्तरकुरु की विजय के बाद ही अर्जुन को धनञ्जय की प्रतिष्ठा मिली। पूरा वाक्य इस प्रकार होगा प्रभूत ऐश्वर्यशाली जिस अर्जुन ने उत्तरकुरु को जीतकर प्रभूत मात्रा में स्वर्ण रजतादि सम्पत्ति प्रदान की, वही सम्प्रति वल्कल वस्त्र लाने वाला आपके क्रोध को उद्दीप्त नहीं करता। 'वल्कवासांसि' के द्वारा भी व्यङ्ग्य ध्वनित हो रहा है–'वस्यते आच्छाद्यते अङ्गम् अनेन इति वासस्' जिससे तन ढंका जाये वही वासस् है। यहाँ तन ढंकने के लिए भी एकत्र करना पड़ता है पेड़ों की छाल को–वल्कानि एव वासांसि इति वल्कवासांसि। इसी तरह 'यः' और 'सः' इन दो सर्वनामों के माध्यम से भी कवि ने 'पूर्वावस्था' एवं 'उत्तरावस्था' के विपर्यय को दिखाया है। जो (यः) उतना ऐश्वर्यशाली था वही (सः) वल्कल वस्त्राहरण में लगा हुआ है। वस्तुतः इस अवस्था के

प्रति हेतु शत्रुओं का कपट तथा युधिष्ठिर की साधु प्रकृति है। पहले ही द्रौपदी कह चुकी है कि 'भवन्ति ते मूढधियः पराभवं, भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः''। इसीलिए वह शान्त युधिष्ठिर में क्रोध उद्दीप्त करना चाह रही है जिससे वे उद्योगशील बनें।

समास–वासवोपमः=वासवः उपमा यस्य सः (बहुव्रीहि)। धनञ्जय=धनं जयति इति (उपपद समास)। अकुप्यम्=न कुप्यम् (नञ् समास)। वल्क वासांसि=वल्कानि एव वासांसि इति (कर्मधारय)।

व्याकरण–उपमा=उप+मा+अङ्, धनञ्जयः=धन अम् जि+खच् (अरुर्द्विषजन्तस्य मुम्) से मुम् आगम हो=धन+मुम्+जय = धनम् + जय, धनं+जय=धनञ्जयः रूप बना; विजित्य=वि+जि+(क्त्वा) ल्यप्; प्राज्यम्=प्र+अज्+ण्यत्; अयच्छत्=दाण्+लङ् प्र.पु.ए. व. (दाण् को यच्छ् आदेश); अधुना=इदम्+ङि+धुना स्वार्थे यह अव्यय पद है। आहरन्=आ+हृ+शतृ प्र.वि.ए.व.।

अलङ्कार– अनुप्रास।

छन्द– वंशस्थ।

कोश– 'सुत्रामा गोत्रभिद्वज्री वासवो वृत्रहा वृषा' इत्यमरः। 'प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यम् इत्यमरः। 'स्यात्कोशश्च हिरण्यं च हेमरूप्ये कृताकृते। ताभ्यां यदन्यत्कुप्यम्' इत्यमरः। 'त्वक् स्त्री वल्कं वल्कलमस्त्रियाम्' इत्यमरः।

36. **वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती**
कचाचितौ विष्वगिवागजौ गजौ।
कथं त्वमेतौ धृतिसंयमौ यमौ
विलोकयन्नुत्सहसे न बाधितुम्॥36॥

अन्वय– वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती विष्वक् कचाचितौ अगजौ गजौ इव एतौ यमौ विलोकयन् त्वं कथम् धृतिसंयमौ बाधितुं न उत्सहसे।

शब्दार्थ– वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती=वनभूमि में शयन करने के कारण कठोर आकृति वाले। विष्वक्=सभी ओर से। कचाचितौ=केशों से व्याप्त, (केश जिनके बड़े होकर शरीर को व्याप्त कर ले); अगजौ=पर्वत (अग) में उत्पन्न हुए, पर्वतीय। गजौ इव=हाथी की तरह, एतौ=इन दो, यमौ=जुड़वा को, विलोकयन्=देखते हुए; त्वम्=तुम (युधिष्ठिर); धृतिसंयमौ=धैर्य और संयम को, बाधितुम्=रोकने के लिए, निराकृत करने के लिए (छोड़ने के लिए); उत्सहसे=प्रवृत्त होते हो।

अनुवाद– वनभूमिरूपी शय्या पर सोने से कठिन आकृति वाले, चारों ओर बिखरे हुए केशों वाले पर्वतीय दो हाथियों की तरह जुड़वाँ इन दोनों भाइयों को देखते हुए आप धैर्य और संयम को त्यागने के लिए क्यों नहीं प्रवृत्त होते?

व्याख्या– प्रकृत श्लोक में द्रौपदी नकुल -सहदेव की दुरवस्था का चित्रण कर युधिष्ठिर के क्रोध को उद्दीप्त करना चाह रही है। महाराज पाण्डु की कनिष्ठ राजमहिषी माद्री से नकुल और सहदेव ने एक साथ जन्म लिया था, अतः इन्हें यमज कहा जाता है। अश्विनीकुमारों के अनुग्रह से उत्पन्न नकुल अतिशयित सौन्दर्य से युक्त थे और सहदेव को मानव सौन्दर्य का आदर्श माना जाता है। अर्थात् दोनों ही जुड़वा भाई (जिनमें नकुल को बड़ा और सहदेव को छोटा माना जाता था) अत्यन्त रूपवान् थे, अतः इन्द्रप्रस्थ नगर में ये दोनों ही निश्चित रूप से जो स्वयं नगर के भूषण स्वरूप थे सम्प्रति वनवास के दिनों में वन की कठिन (कठोर) भूमि ही इनकी शय्या है। ऐसी कठोर शय्या पर सोने से जिनकी आकृति भी कठोर हो गयी है। जिनके बाल लम्बे होकर शरीर के चारों ओर लटक रहे हैं अर्थात् बेतरतीब दिखाई देते हैं। 'अग' का अर्थ है जो चल न सके, अग में उत्पन्न होने वाले को अगज कहेंगे। यहाँ साहचर्य नियम से अगज का अर्थ पर्वत है। पर्वतीय गज जिस प्रकार कष्ट सहन करता है वैसे ही कष्ट सहन करते हुए इन दोनों जुड़वा भाइयों को देखकर भी

आप क्यों नहीं शत्रु निराकरण में प्रवृत्त होते? यहाँ नकुल और सहदेव को इंगित करने के लिए द्रौपदी ने 'एतौ यमौ' शब्द का प्रयोग किया है। 'एतौ' एतद् सर्वनाम का प्र.वि. द्विवचन का रूप है। सर्वनाम के प्रयोग में भी नियम है। जो समीप होता है उसके लिए 'इदम्' सर्वनाम प्रयुक्त होता है; किन्तु जो समीपतर होता है उसके लिए 'एतद्' सर्वनाम प्रयुक्त होता है– ''इदमस्तु सन्निकृष्टं समीपतरवर्ति चैतदो रूपम्। अदसस्तु विप्रकृष्टं तदिति परोक्षे विजानीयात्।।''

इस तरह द्रौपदी यह कहना चाह रही है कि जो आपके अत्यन्त निकट हैं, अहर्निश जिनकी दुर्दशा और जिनका स्वरूप आपके द्वारा प्रत्यक्ष अनुभूत किया जा रहा है, फिर भी आपके हृदय में कचोट नहीं हो रही है।

यद्यपि मनस्वियों का विपत्ति में धैर्य लक्षण है 'विपदि धैर्यम् ...... प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्।' विकार के रहने पर भी जिसका चित्त विचलित न हो उसे ही धीर कहा गया है– 'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः'; किन्तु शत्रु के प्रति संयम का व्यवहार करना तो अनौचित्य प्रवर्तित मार्ग है। क्षेमेन्द्र ने औचित्यविचारचर्चा में कहा है 'रिपौ करुणया नार्याः के हस्यताम्'। धृति और संयम यद्यपि व्यक्तित्व के गुण हैं; किन्तु औचित्यविरहित होने पर ये भी सुशोभित नहीं होते। इसीलिए द्रौपदी इन गुणों को भी बाधित करने के लिए, त्याग देने के लिए युधिष्ठिर को प्रेरित कर रही है। प्रकृत प्रसङ्ग में एक और तथ्य अवधेय है कि द्रौपदी ने क्रमशः एक-एक भाई की दुरवस्था का चित्रण किया है। स्वयं तो कष्ट सहा जा सकता है; किन्तु यदि अपनी ही सहिष्णुता औरों के कष्ट का हेतु बने तो निश्चित रूप से वह त्याज्य है; यही बात युधिष्ठिर को वह समझाना चाह रही है।

समास– वनान्तशैय्याकठिनीकृताकृती=वनस्य अन्तः इति वनान्तः (षष्ठी तत्पु0), वनान्तः एव शय्या इति वनान्तशैय्या (कर्मधारय)। न कठिना इति अकठिना, (नञ् तत्पु0)। अकठिना कठिना कृता इति कठिनीकृता, वनान्तशय्यया कठिनीकृता इति वनान्तशय्याकठिनीकृता (तृतीया तत्पु0)। वनान्तशय्याकठिनीकृता आकृतिः ययोः तौ (बहु0)। कचाचितौ=कचैः आचितौ इति (तृतीया तत्पु0)। अगजौ=न गच्छतीति अगः (पक्षे नगः) अगे जायेते इति अगजौ (उपपद समास)। धृतिसंयमौ=धृतिः च संयमश्च इति (द्वन्द्व)।

व्याकरण– कठिनीकृता=कठिना+च्वि+कृ+क्त+टाप्; विष्वक्=विषु+अञ्च्+क्विन् (अव्यय); आचितौ=आ+चि+क्त प्र.वि. द्विवचन; अगजौ=अग+जन्+ड, विलोकयन्=वि+लोकि+लट्+शतृ प्र. वि.ए.व.; धृतिसंयमौ=धृ + क्तिन्, सम्+यम्+अप्; बाधुतुम्=बाध्+तुमुन्; उत्सहसे=उद्+सह+लट् म.पु. एकवचन।

अलङ्कार– यमक, उपमा तथा अनुप्रास की संसृष्टि। अगजौ गजौ' तथा 'धृतिसंयमौ यमौ' में यमक अलङ्कार है। यमक अलङ्कार वहाँ होता है जहाँ (सार्थक होने पर भिन्नार्थक) वर्ग समूह की पुनरावृत्ति हो जिसका लक्षण है– ''अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः यमकम्'। 'इवागजौ गजौ' में सादृश्य निरूपण के कारण उपमा तथा न, क, त, आदि वर्णों की आवृत्ति से अनुप्रास अलङ्कार।

छन्द– वंशस्थ।

कोश– 'अटव्यरण्यं विपिनं हनं वनम्' इत्यमरः। 'शय्यायां शयनीयवत्। शयनं मञ्चपर्यङ्कपल्यङ्काः खट्वया समाः' इत्यमरः। 'समन्ततस्तु परितः सर्वतो विष्वगित्यपि' इत्यमरः। 'चिकुरः कुन्तलो बालः कचः केशः शेरोरुहः' इत्यमरः। 'मतङ्गजो गजो नागः कुञ्जरो वारणः करी' इत्यमरः।

37. **इमामहं वेद न तावकीं धियं**
विचित्ररूपाः खलु चित्तवृत्तयः।
विचिन्तयन्त्या भवदापदं परां
रुजन्ति चेतः प्रसभं ममाधयः॥37॥

अन्वय– इमां तावकीं धियम् अहं न वेद। चित्तवृत्तयः विचित्ररूपाः खलु। परां भवदापदं विचिन्तयन्त्याः

मम चेतः आधयः प्रसभं रुजन्ति।

शब्दार्थ– इमाम्=इस; तावकीम्=तुम्हारी (युधिष्ठिर की); धियम्=बुद्धि को; अहम्=मैं (द्रौपदी); न वेद=नहीं जानती हूँ (नहीं समझ पा रही हूँ।); चित्तवृत्तयः=चित्तवृत्तियाँ, अन्तःकरण; विचित्ररूपाः=बहुत प्रकार की, अनेक रूप वाली; खलु=निश्चय ही; पराम्=बड़ी, प्रबल; भवद्=आपकी; आपदम्=विपत्ति को; विचिन्तयन्त्याः=विचार करती हुई; मम=मेरे, चेतः=चित्त को, आयधः=मानसिक व्यथा; प्रसभं=अत्यधिक रूप में, रुजन्ति= (रुजोभङ्गे) तोड़ रही हैं।

अनुवाद–इस आपकी बुद्धि को मैं नहीं समझ पा रही हूँ। चित्तवृत्तियाँ निश्चित रूप से विलक्षण स्वरूप वाली होती हैं।-आपकी महती विपत्ति का चिन्तन करती हुई मेरे मन को मानसिक व्यथायें बलपूर्वक भग्न किये दे रही हैं।

व्याख्या– द्रौपदी ने युधिष्ठिर के सभी अनुजों के द्वारा अनुभूयमान दुर्दशा को एक-एक करके युधिष्ठिर को बताया। प्रकृत श्लोक में वह युधिष्ठिर के द्वारा भी अनुभूयमान विपत्ति की ओर सङ्केत कर रही है कि ऐसा नहीं कि आप दुःख का अनुभव नहीं कर रहे हैं; किन्तु इस महान् दुःख का अनुभव करके भी आप स्वस्थचित्त और प्रतिकार रहित हैं। 'इमां तावकीं धियम्' में मल्लिनाथ ने 'इमां' का अर्थ 'वर्तमानाम्' किया है। आपकी वर्तमान अकर्मण्य संशयापन्न बुद्धि को मैं नहीं समझ पा रही हूँ। 'धी' उसे कहते हैं जिसके द्वारा चिन्तन-ध्यान किया जाये। कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्धारण में जो समर्थ है उस आपकी धी के सन्दर्भ में मैं अर्थात् आपकी पत्नी, सहचरी होकर भी नहीं समझ पा रही हूँ। यहाँ वक्ता और श्रोता दोनों आमने सामने हैं, अतः 'अहं' के प्रयोग का प्रयोजन अत्यन्त अन्तरङ्गता को व्यञ्जित करना है। वस्तुतः बुद्धि तो परोक्षानुभूति का विषय है, आत्मौपम्य (आत्मसादृश्य) के आधार पर उसका निर्धारण किया जाता है; किन्तु आपकी परिस्थिति में रहकर मैं जैसा अनुभव करती वैसा आपको देखकर नहीं लग रहा है, इसीलिए मैं कह रही हूँ कि आपकी (युधिष्ठिर) बुद्धि को मैं नहीं जानती। निश्चित रूप से चित्तवृत्तियाँ अत्यधिक विलक्षण होती हैं; धीरा अधीरादि विविध भेद चित्तवृत्तियों के होते हैं। आपकी महती विपत्ती को सोचती रहने वाली मुझ द्रौपदी के चित्त को मानसिक व्यथायें बलपूर्वक भग्न किये दे रही हैं। 'आपदम् ' के विशेषण के रूप में 'पराम्' शब्द का प्रयोग किया है– प्रबल आपकी विपत्ति देखने वालों के लिए भी दुःसह दुःख को उत्पन्न करने वाली है, उस विपत्ति का साक्षात् अनुभव करने वाले आपको वे कैसे उद्विग्न नहीं कर रही हैं। यह महदाश्चर्य का विषय है। 'विचिन्तयन्त्याः' में शतृ प्रत्यय का प्रयोग वर्तमानकालिक क्रिया को बोधित करने के लिए किया गया है। कोई भी दुःख अपनी पराकाष्ठा पर तब होता है जब वह अनुभूत होता रहता है– जैसे सुई की चुभन जिस समय वह चुभती है उस समय जितनी तीव्र होती है उतनी न अतीत में चुभी हुई या भविष्य में चुभने वाली सुई की चुभन को याद करके पीड़ा होती है। अतः 'शतृ' प्रत्यय के प्रयोग से पीड़ा की तीव्रता का भी बोध कराया जा रहा है और द्रौपदी एक क्षण के लिए भी उस पीड़ा से अलग नहीं हो पा रही है, वह दुःख प्रतिपल उसके अनुभव का विषय है, जो युधिष्ठिर को एक क्षण के लिए भी विकृत नहीं कर रहा है, यह बात भी ध्वनित हो रही है। यही तो महान आश्चर्य का विषय है। 'प्रसभं' के द्वारा भी द्रौपदी यही अभिव्यक्त करना चाह रही है कि यदि मैं चाहूँ भी अलग होना तो भी नहीं हो पा रही हूँ ये मानसिक व्यथायें बलपूर्वक (प्रसभं) मुझे भग्न कर रही हैं। रुज तुदादिगण की परस्मैपदीय धातु है 'रुजो भङ्गे' से भङ्ग अर्थ में प्रयुक्त होती है। आप्टे ने अपने कोश में इसका अर्थ 'तोड़कर टुकड़े-टुकड़े करना' किया है। यही अर्थ यहाँ सटीक लग रहा है। ये मानसिक व्यथायें द्रौपदी के व्यक्तित्व को टुकड़े-टुकड़े किये दे रही हैं।

समास– चित्तवृत्तयः=चित्तस्य वृत्तयः (षष्ठी तत्पु.); विचित्ररूपाः=विशेषेण चित्राः इति विचित्राः (प्रादितत्पु.); विचित्रं रूपं यासां ताः। (बहुव्रीहि); भवदापदम्=भवतः आपद् इति भवदापदम् (षष्ठी तत्पु.)।

व्याकरण– तावकीम्=युष्मद्+अण्=तवक, तवक+अण्+ङीप् द्वि.वि.ए.व.; पराम्=पर+टाप् द्वि.वि.वि.ए.व.

विचिन्तयन्त्याः=वि+चिन्त्+णिच्+शतृ+ङीप् षष्ठी वि.ए.व.; रुजन्ति=रुज्+लट् प्र.पु. बहुवचन।

अलङ्कार– अर्थान्तरन्यास। 'इमामहं वेद न तावकीं धियं' इस विशेष कथन का समर्थन 'विचित्ररूपा खलु चित्तवृत्तयः' इस सामान्य कथन से होने से अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

छन्द– वंशस्थ।

कोश– 'बुद्धिर्मनीषा धिषणा धीः प्रज्ञा शेमुषी मतिः' इत्यमरः। 'चित्तं तु चेते हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यमरः। 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथा' इत्यमरः। 'विपत्त्यां विपदापदौ' इत्यमरः।

३८. पुराधिरूढः शयनं महाधनं
विबोध्यसे यः स्तुतिगीतिमङ्गलैः।
अदभ्रदर्भामधिशय्य स स्थलीं
जहासि निद्रामशिवैः शिवारुतैः॥३८॥

अन्वय– यः (त्वम्) महाधनम् शयनम् अधिरूढः स्तुतिगीतिमङ्गलैः पुरा विबोध्यसे, सः अदभ्रदर्भां स्थलीम् अधिशय्य अशिवैः शिवारुतैः निद्रां जहासि।

शब्दार्थ– यः=जो (युधिष्ठिर); महाधनम्=बहुमूल्य; शयनम्=शय्या (पलंग) पर; अधिरूढः=आरूढ़ हुए, सोये हुए; स्तुतिगीतिमङ्गलैः=स्तुतिगानरूप माङ्गलिक वचनों से, पुरा=पूर्वकाल में (अपने शासनकाल में); विबोध्यसे=विनिद्र किये जाते थे, जगा दिये जाते थे। सः=वह (वही युधिष्ठिर)। अदभ्रदर्भाम्=कुशों से परिव्याप्त (अदभ्र=बहुल, अधिक); स्थलीम्=अपरिष्कृत भूमि पर। अधिशय्य=सोकर। अशिवैः=अमङ्गलकारक, अशुभ; शिवारुतैः=श्रृगालियों के शब्दों के द्वारा; निद्राम्=नींद को, जहासि=परित्याग करते हो।

अनुवाद– जो आप बहुमूल्य शय्या पर सोये हुये स्तुतिगानरूप माङ्गलिक वचनों से पहले जगाये जाते थे वही (आप) कुशों से परिव्याप्त अपरिष्कृत भूमि पर सोकर अमङ्गलकारक श्रृगालियों के शब्दों के द्वारा निद्रा का परित्याग करते हैं।

व्याख्या– द्रौपदी ने पूर्व श्लोक में युधिष्ठिर से कहा था कि आपकी महती विपत्ति का अनुचिन्तन करती हुई मुझ द्रौपदी के चित्त को मनोव्यथायें बलपूर्वक भग्न कर रही हैं। प्रस्तुत श्लोक में उन्हीं 'परामापदम्' को निगदित कर रही है।

'यः' सर्वनाम का प्रयोग वनवास से पूर्व इन्द्रप्रस्थनगराधीश के रूप में समस्त सुखों का उपभोग करने वाले राजा युधिष्ठिर के लिए है। भाग्य के विपर्यय से क्या नहीं आपके द्वारा सहन किया गया! पहले विविध मणि एवं रत्नादि से जटित अतएव अत्यन्त मूल्यवती श्रेष्ठ शय्या पर अधिरूढ़ होकर सोये हुए आपको चारणों के द्वारा प्रातःकाल स्तुतिगान रूप माङ्गलिक वचनों से जगाया जाता था। वही आप सम्प्रति कुशों से परिव्याप्त साफ सुथरी न बनायी गयी अतएव दुःसहस्पर्श वाली वन्यभूमि पर सोते हुए अमङ्गलजनक सियारिनों के शब्दों के द्वारा निद्रा का परित्याग करते हैं। तद् (सः) सर्वनाम का प्रयोग परोक्ष अर्थ के द्योतन के लिए किया जाता है 'तदिति परोक्षे विजानीयात्'। किन्तु 'सः' का प्रयोग पुरोदृश्यमान युधिष्ठिर के लिए ही हो रहा है; किन्तु पूर्वदेश और पूर्वकाल सम्बद्ध युधिष्ठिर के रूप में हो रहा है। दोनों अवस्थाओं (इन्द्रप्रस्थ के राज्यकाल में और वनवासकाल में) के महदन्तर को द्रौपदी सूचित कर रही है; किन्तु आश्चर्य यह है कि स्वयं युधिष्ठिर की चित्तवृत्ति में कोई अन्तर नहीं है।

समास– महाधनम्=महत् धनं यस्य तत् महाधनम् (बहुव्रीहि), स्तुतिगीतिमङ्गलैः=स्तुतिनां गीतयः इति स्तुतिगीतयः (षष्ठी तत्पु.), स्तुतयश्च गीतयश्च इति स्तुतिगीतयः (द्वन्द्व समास), स्तुतिगीतयः एव मङ्गलानि तैः (कर्मधारय)। अदभ्रदर्भाम्=अदभ्राः दर्भाः यस्याम् इति (बहुव्रीहि) ताम्। अशिवैः=न शिवानि इति अशिवानि तैः। शिवारुतैः=शिवानां रुतानि इति शिवारुतानि तैः (षष्ठी तत्पु.)।

व्याकरण– अधिरूढ़ः=अधि+रुह्+क्त; शयनम्=शीङ्+ल्युट्; स्तुति=स्तु+क्तिन्; गीति=गै+क्तिन्;; विबोध्यसे=वि+बुध्+णिच्+लट् म.पु.ए.व. कर्मवाच्य का प्रयोग होता है। (यहाँ लट् लकार का प्रयोग अनद्यतन भूतकाल के अर्थ में हुआ है। 'पुरिलुङ् चास्मे' सूत्र के अनुसार यदि 'स्म' का प्रयोग न विहित हो तो 'पुरा' के योग में 'लुङ्' या 'लट्' का प्रयोग अनद्यतनभूत के अर्थ में होता है। अधिशय्य=अधि+शीङ्+क्त्वा ल्यप्, 'अधिशीङ्ऽस्थाऽसां कर्म' सूत्र से 'अधि' उपसर्ग के योग में 'शीङ्' धातु के अधिकरण 'स्थली' की कर्म संज्ञा हुई और उससे द्वितीया विभक्ति आई। जहासि=हा+लट् म.पु.ए.व.

अलङ्कार– वृत्त्यनुप्रास तथा छेकानुप्रास।

छन्द– वंशस्थ।

कोश– शयनं मञ्चपर्यङ्कपल्यङ्काः खट्वया समा' इत्यमरः। 'अदभ्रं बहुलं बहु' इत्यमरः। स्त्रियां शिवा भूरिमायगोमायुमृगधूर्तकाः। शृगालवञ्चकक्रोष्टुफेरवजम्बुका; इत्यमरः। 'स्यान्निद्राशयनं स्वापः स्वप्नः संवेश इत्यपि' इत्यमरः। 'निःश्रेयसं शिवं भद्रं कल्याणं मङ्गलं शुभम्' इत्यमरः।

३९. **पुरोपनीतं नृप! रामणीयकं**
द्विजातिशेषेण यदेतदन्धसा।
तदद्य ते वन्यफलाशिनः परं
परैति कार्श्यं यशसा समं वपुः॥३९॥

अन्वय– हे नृप! यत् एतत् ते वपुः पुरा द्विजातिशेषेण अन्धसा रामणीयकम् उपनीतम् अद्य वन्यफलाशिनः ते तत् यशसा समं परं कार्श्यं परैति।

शब्दार्थ– नृप=हे राजन्, यत् एतत्=जो यह (आपका शरीर), पुरा=पहले (इन्द्रप्रस्थ के शासनकाल में), द्विजातिशेषेण=ब्राह्मणों को भोजन कराने के बाद बचे हुए, अन्धसा= अन्न से, रामणीयकम्=रमणीयता (मनोहरता) को, उपनीतम्=प्राप्त हुआ था, अद्य=आज, वन्यफलाशिनः=वन में उत्पन्न होने वाले फलों को खाने वाले, ते=आपका, तद् वपुः=वह शरीर, यशसा समम्=यश के साथ, परं कार्श्यम्=अत्यधिक कृशता, दुबलापन को; परैति=प्राप्त हो रहा है।

अनुवाद– हे राजन्! यह जो आपका शरीर पहले ब्राह्मणों को भोजन कराने के बाद बचे हुए अन्न से रमणीयता को प्राप्त हुआ था, आज वन में उत्पन्न फल का आहार करने वाला आपका वही शरीर (आपके) यश के साथ अत्यधिक दुर्बलता को प्राप्त हो रहा है।

व्याख्या– राजा के अनेक पर्यायवाची हैं जिनमें 'नृप' भी एक है। नृप का अर्थ है– नॄन् पाति इति नृपः' जो नरों की, मनुष्यों की रक्षा करता है वह नृप है। सम्बोधन के रूप में द्रौपदी ने 'नृप' शब्द का प्रयोग किया है। यदि ध्यान से देखा जाये तो इस सम्बोधन के माध्यम से भी द्रौपदी युधिष्ठिर की पूर्व दशा और वर्तमान दशा के अन्तर को स्पष्ट करना चाह रही है। जो नरों की रक्षा करने में समर्थ था वह आज अपने हित की रक्षा करने में भी असमर्थ हो गया है। 'द्विज' शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों के लिए प्रयुक्त होता है; किन्तु प्रकृत प्रसङ्ग में उसका अभिप्राय ब्राह्मण से है। वह भी ऐसे ब्राह्मण से जो संस्कार से युक्त हो। क्योंकि इस सन्दर्भ में ऐसी प्रसिद्धि है कि–'जन्मना जायते शूद्रः संस्कारैर्द्विज उच्यते। वेदपाठात् भवेद् विप्रो ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः।।' प्रत्येक ब्राह्मण जन्मना शूद्र होता है, संस्कारोपरान्त द्विज कहलाता है, वेदपाठोपरान्त उसकी विप्र संज्ञा होती है और ब्रह्म को जानने के पश्चात् वह ब्राह्मणपद से अभिहित होता है। धर्मशास्त्रों (स्मृतियों) में प्रत्येक गृहस्थ के लिए पञ्च यज्ञ का विधान है जिसमें अतिथियों को भोजनादि से सत्कृत करना नृयज्ञ कहलाता है। युधिष्ठिर की अतिथि पूजा प्रथित थी, संस्कारयुक्त ब्राह्मणों को भोजन कराने के बाद अवशिष्ट अन्न का उपभोग करने वाले युद्धिष्ठिर का वह शरीर रमणीयता, मनोहारिता को प्राप्त करा दिया गया था। मनुस्मृति भी कहती है कि–

अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्।

यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामत्रं विधीयते।।3.118।।

केवल अपने लिए खाने वाला पाप को खाता है। अतः यथासम्भव दान देने के उपरान्त ही भोजनादि का सेवन करना चाहिए। आज वनवास की अवधि में वन में जो भी उत्पन्न होता है ऐसे वनैले फल खाने वाला आपका वही (जो रमणीयता से युक्त था) शरीर यश के साथ-साथ अत्यन्त कृशता को प्राप्त कर रहा है। तात्पर्य यह है कि आपका यश भी कृश हो रहा है और शरीर भी कृश हो रहा है। यदि पञ्चभौतिक यह शरीर कृश हो जाता तो उतनी चिन्ता की बात नहीं थी; किन्तु मनीषियों के द्वारा यत्नपूर्वक जिस यश की रक्षा की जाती है वह यश भी आपका क्षीण हो रहा है। द्रौपदी वस्तुतः युधिष्ठिर को यह कहना चाह रही है कि उस क्षीण होते हुए यश को देखकर भी क्या उन्हें कोई उद्योग नहीं करना चाहिए? यही युधिष्ठिर की महती विपत्ति है।

समास– द्विजातिशेषेण=द्वे जाती येषां ते द्विजातयः (बहुव्रीहि), तेषां शेषेण इति; वन्यफलाशिनः=वने भवं वन्यम्, वन्यानि फलानि इति वन्यफलानि (कर्मधारय)। वन्यानि फलानि अश्नाति इति वन्यफलाशिन् तस्य इति।

व्याकरण– शेषेण=शिष्+घञ्+टा; रामणीयकम्=रमणीयस्य भावः; रम्+णिच्+अनीयर्= रमणीय+वुञ्=रामणीयकम्; उपनीतम्=उप+नी+क्त; वन्यम्=वन्+यत्; वन्यफलाशिनः=वन्यफल+अश्+णिनि ष.वि.ए.व.; कार्श्यम्=कृश्+क्त=कृशः, तस्य भावः कार्श्यम्, कृश+ष्यञ्; परैति=परा+इण्+लट् प्र.पु.ए.व.।

अलङ्कार– सहोक्ति अलङ्कार। सहोक्ति वहाँ होती है जहाँ एक अर्थ को बताने वाला पद 'सह' शब्द के बल पर दो अर्थों का बोधक हो जाये, जिसका लक्षण है–सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम्'। प्रस्तुत श्लोक में 'शारीरिक कृशता' के साथ 'सह' शब्द का प्रयोग होने से वह 'यशः कृशता' का भी भाव अभिव्यक्त कर रही है।

छन्द– वंशस्थ।

कोश– स्यात्प्रबन्धे चिरातीते निकटागामिके पुरा' इत्यमरः। 'राजा राट् पार्थिवक्ष्माभृन्नृपभूपमहीक्षितः इत्यमरः।' द्विजात्यग्रजन्मभूदेववाडवाः विप्रश्च ब्राह्मणोऽसौ इत्यमरः। 'यशः कीर्तिः समज्ञा च' इत्यमरः।'गात्रं वपुः संहनं शरीरं वर्ष्म विग्रहः'' इत्यमरः। भिस्सा स्त्री भक्तमन्धोऽन्नमोदनोऽस्त्रीसदीदिविः इत्यमरः।

40. अनारतं यौ मणिपीठशायिना–

वरञ्जयद्राजशिरः स्रजां रजः।

निषीदतस्तौ चरणौ वनेषु ते

मृगद्विजालूनशिखेषु बर्हिषाम्।।40।।

अन्वय– अनारतं मणिपीठशायिनौ यौ ते चरणौ राजशिरःस्रजां रजः अरञ्जयत् तौ मृगद्विजालूनशिखेषु बर्हिषां वनेषु निषीदतः।

शब्दार्थ–अनारतम्=निरन्तर, मणिपीठशायिनौ=मणिमयपादपीठ पर अवस्थित रहने वाले, यौ (ते चरणौ)=वे दोनों (आपके चरणों को), राजशिरःस्रजाम्=राजाओं के सिर पर स्थित पुष्पमालाओं का, रजः=पराग, अरञ्जयत्=रंग देता था, तौ ते चरणौ=वे दोनों आपके चरण, मृगद्विजालूनशिखेषु=हिरण और ब्राह्मणों द्वारा तोड़े अग्रभाग वाले, बर्हिषां वनेषु=कुशों के वनों में, निषीदतः=स्थित रहते हैं।

अनुवाद– निरन्तर मणिमय पादपीठ पर अवस्थित रहने वाले आपके दोनों चरण को राजाओं के सिर पर स्थिल मालाओं का पराग रंग देता था वे ही आपके चरण हरिणों और ब्राह्मणों के द्वारा तोड़े गये अग्रभाग वाले कुशों के वनों में अवस्थित हो रहे हैं।

व्याख्या– द्रौपदी युधिष्ठिर को उनके पूर्व वैभव का स्मरण दिलाकर शत्रुओं के प्रति उनके क्रोध

को उद्दीप्त कतना चाह रही है। 'यौ' के द्वारा उन ऐश्वर्यशाली चरणों की स्मृति दिलाई जा रही है जिन पर राजाओं के मस्तक झुकते थे। जो आपके पैर निरन्तर रत्नजटित मणिखचित पादपीठ पर रहते थे, जिनको प्रणाम करने के लिए झुकने वाले राजाओं के सिर की माला में से झड़े हुए पराग ही रंग देते थे। अर्थात् ये पैर कभी भूमि पर नहीं रखे गये, अत्यन्त बहुमूल्य आसन पर ये अवस्थित होते थे। उन चरणों पर झुकने वाले स्वजन, परिजन, सेवकवृन्द ही नहीं थे अपितु राजाओं के शिर उन पैरों का स्पर्श करते थे। जो धूल (रज) उन्हें रञ्जित करती थी, वह पुष्पों की धूल हुआ करती थी। वे ही चरण (तौ चरणौ के द्वारा उन ऐश्वर्य का उपभोग किये हुए चरण) सम्प्रति वनों में – एक वन से दूसरे वन में अवस्थित होते हैं और वन की भूमि भी व्याप्त है कुशों (वर्हिषाम्) के द्वारा । कुश भी मुलायम नहीं है, क्योंकि कोमल भाग तो कुशल (यज्ञार्थ कुश को लाने वाले) द्विजों के द्वारा तोड़ लिया गया है अथवा हरिणों के द्वारा चर लिया गया है– इसे ही कवि ने आलून (छिन्न कर दिया गया) शब्द से अभिहित किया है। तीक्ष्ण कुश के ऊपर पैरों को रखकर वनों में अवस्थित होने वाले आपके चरणों को देखकर मेरी मानसिक व्यथायें मुझे बलपूर्वक भग्न कर रही हैं 'रुजन्ति चेतः प्रसभं ममाधयः'। अपने पति की इस दुरवस्था को देखकर पत्नी का पीड़ित होना अत्यन्त सहज है; किन्तु महदाश्चर्य है कि युधिष्ठिर स्वयम् अपनी दुरवस्था से विचलित नहीं है और इससे उबरने के लिए किसी यत्न में भी संलग्न नहीं हैं।

समास–मणिपीठशायिनौ=मणिनिर्मितं पीठम् इति मणिपीठम् (मध्यमपदलोपी समास) मणिपीठे शयाते इति। राजशिरःस्रजाम्=राज्ञां शिरांसि इति राजशिरांसि (षष्ठी तत्पु.), राजशिरसां स्रजः इति राजशिरः स्रजः (षष्ठी तत्पु.) तासां रजः। मृगद्विजालूनशिखेषु=मृगाश्च द्विजाश्च इति मृगद्विजाः (द्वन्द्व), मृगद्विजैः आलूनाः इति मृगद्विजालूनाः (तृ.तत्पु.)। मृगद्विजालूनाः शिखाः येषां तेषु (बहुव्रीहि)।

व्याकरण– मणिपीठशायिनौ= मणिपीठ+शीङ्+णिनि प्र.वि.द्वि-व। अरञ्जयत्+रञ्ज्+णिच्+लङ् प्र.पु.ए.व.; आलून=आ+लूञ्+क्त; द्विज=द्वि+जन्+ड; निषीदतः=नि+सद्+लट् प्र.प.द्वि.व.

अलङ्कार– वृत्त्यनुप्रास।

छन्द– वंशस्थ।

कोश– 'सततानारताश्रान्तसन्तताविरतानिशम्' इत्यमरः। 'रत्नं मणिर्द्वयारश्मजातौ मुक्तादिकेऽपि च' इत्यमरः। 'रेणुर्द्वयोः स्त्रियां धूलिः पांशुर्ना न द्वयो रजः' इत्यमरः। 'पादाग्रं प्रपदं पाद पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। 'दन्तविप्राण्डजा द्विजाः' इत्यमरः। 'बर्हिकुशहुताशयोः' इति विश्वः।

बोध प्रश्न

19. धनञ्जय अर्जुन का नाम है, इस नाम की अन्वर्थता पर प्रकाश डालिये।

20. युधिष्ठिर की विपत्ति को द्रौपदी ने किस प्रकार ख्यापित किया है, सोदाहरण विवेचन कीजिये।

21. विपत्ति भी मानियों के लिये कब उत्सव के रूप में पर्यवसित हो जाती है?

22. गुणानुरक्तामनुरक्तसाधनः
कुलाभिमानी कुलजां नराधिपः।
परैस्त्वदन्यः क इवापहारये-
न्मनोरमामात्मवधूमिव श्रियम्।।
प्रस्तुत पद्य के सन्दर्भ में आत्मवधू तथा राजलक्ष्मी में तुल्यता किन आधारों पर स्थापित की गयी है, स्पष्ट कीजिये।

23. द्रौपदी किस परिस्थिति में मनस्विता के निराश्रित होने की बात कहती है?

24. निम्नलिखित सूक्ति की ससन्दर्भ व्याख्या लिखिये–

'अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना
न जातहार्देन न विद्विषादरः।।'

प्रकृत प्रसंग में 'जन्तुना' शब्द से कवि किस अभिप्राय को अभिव्यञ्जित करना चाह रहा है, स्पष्ट कीजिये।

25. युधिष्ठिर को उत्साहित करने के लिये कहे गये द्रौपदी के वचनों का सविस्तार निरूपण कीजिये।

41. **द्विषन्निमित्ता यदियं दशा ततः**
समूलमुन्मूलयतीव मे मनः।
परैरपर्य्यासितवीर्य्यसम्पदां
पराभवोऽप्युत्सव एव मानिनाम्॥41॥

अन्वय– यतः इयं दशा द्विषन्निमित्ता, ततः मे मनः समूलम् उन्मूलयतीव। परैः अपर्य्यासितवीर्यसम्पदां मानिनां पराभवोऽप्युत्सव एव।

शब्दार्थ– यतः=चूँकि, इयं दशा=यह अवस्था, वर्तमान दुर्दशा, द्विषन्निमित्ता=शत्रुओं के कारण उत्पन्न हुई है, ततः=इसलिए, मे मनः=मेरे मन को, समूलम्=जड़ से, उन्मूलयति इव=मानों उखाड़ सी रही है। परैः=शत्रुओं के द्वारा। अपर्य्यासितवीर्यसम्पदाम्=अविनष्ट पराक्रमरूपी सम्पत्ति वाले, मानिनाम्=स्वाभिमानी पुरुषों का, पराभवः अपि=पराभव भी (विपत्ति भी), उत्सवः एव=उत्सव (हर्ष को देने वाला, हर्ष का आधार) ही है।

अनुवाद–चूँकि यह वर्तमान दुर्दशा शत्रुओं के कारण उत्पन्न हुई है इसलिए मेरे मन को समूल उखाड़ सी रही है। शत्रुओं के द्वारा अपराभूत शौर्यसम्पत्ति वाले स्वाभिमानी जन के लिए पराभव भी (विपत्ति भी) उत्सव ही है।

व्याख्या– नीतिविदों का मानना है कि पत्नी की वास्तविक परीक्षा वित्त के क्षीण हो जाने पर होती है। जैसा कि कहा गया है– 'आपत्सु मित्रं जानीयाद् युद्धे शूरमृणे शुचिम्। भार्य्यां क्षीणेषु वित्तेषु व्यसनेषु च बान्धवान्।।'

आज युधिष्ठिर राज्यभ्रष्ट वैभवहीन हो वनों में भटक रहे हैं, ऐसे में सम्बल देने की जगह आक्षेप का कार्य तो पत्नी द्रौपदी नहीं कर रही है? द्रौपदी युधिष्ठिर को अपनी मनोव्यथा का हेतु स्पष्ट कर रही है। युधिष्ठिर विपद्ग्रस्त हैं यह द्रौपदी के अन्तर्दहन का हेतु नहीं है, क्योंकि इस संसार में चक्र की नेमि की तरह सुख और दुःख क्रमशः आते जाते रहते हैं। कालिदास की ये पंक्तियाँ मेघदूत की है– 'कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा। नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।।'

इसलिए दैवकृत दुःख से विचलित होना युक्त नहीं। किन्तु द्रौपदी को दुःख इस बात का है कि युधिष्ठिर की वर्तमान दुर्दशा का हेतु शत्रु हैं अर्थात् पाण्डव परामक्रमसम्पन्न होते हुए भी शत्रुओं द्वारा वन में रहने को विवश किये गये हैं और यह शत्रुकृत पराभव ही अपनी शक्ति के अभाव के कारण नहीं सहना पड़ रहा है, क्योंकि युधिष्ठिर के लोकविश्रुत प्रचण्ड पराक्रम वाले महारथी भीम और अर्जुन सदृश बन्धु हैं, ऐसे बान्धवों के होने पर शत्रुकृत पराभव किसी भी प्रकार सह्य नहीं हो रहा है। क्षात्रतेज से युक्त होते हुए भी भिक्षावृत्ति का अवलम्बन करके पराक्रमहीन जीवन व्यतीत करने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि मेरी यह दुरवस्था (द्रौपदी की) चित्त को समूल उखाड़ सी रही है। जिन वीर पुरुषों की शौर्य सम्पत्ति शत्रुओं के द्वारा अपराभूत है, अविजित है ऐसे स्वाभिमानी जन पर आने वाली विपत्ति भी महोत्सव के तुल्य है, क्योंकि विपत्ति

का सामना तो धैर्य और साहस के द्वारा किया जाना चाहिए। मानहानि या अपमान दुःसह होता है न कि विपत्ति। द्रौपदी कहती है कि वह इस दुरवस्था के कारण सन्तप्त नहीं है अपितु यह दुरवस्था शत्रु द्वारा कारित है इसलिए इतनी उद्विग्न है।

समास– द्विषन्निमित्ता=द्विषन्तः निमित्तम् अस्याः सा (बहुव्रीहि); समूलम्=मूलेन सह वर्तमानम् (बहुव्रीहि); अपर्य्यासितवीर्य्यसम्पदाम्=न पर्यासिता इति अपर्यासिता (नञ् तत्पु.); अपर्यासिता वीर्यसम्पद् येषां ते अपर्यासितवीर्यसम्पदः तेषाम् (बहुव्रीहि); मानिनाम्=मानः अस्ति एषामिति मानिनः, तेषाम्।

व्याकरण– उन्मूलयति=उत्+मूल+णिच् लट् प्र. पु.ए.व.; अपर्य्यासिते=नञ्+परि+अस् णिच्+क्त; वीर्य=वीर्+ष्यञ्; मानिनाम्=मान+इनि ष.वि. बहुवचन।

अलङ्कार– उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास तथा वृत्त्यनुप्रास की संसृष्टि। 'उन्मूलयति इव' में सम्भावना में 'इव' के प्रयोग के कारण उत्प्रेक्षा अलङ्कार है जिसका लक्षण है "सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्' अर्थात् उपमेय की उपमान के साथ सम्भावना उत्प्रेक्षा कहलाती है। जैसे प्रचण्ड आँधी (उपमान) वृक्ष को समूल उखाड़देती है वैसे ही प्रकृत दशा (उपमेय) चित्त को मानों उखाड़ सी रही है, उखाड़ना साधारण धर्म है और 'इव' वाचक है। प्रकृत श्लोक के प्रारम्भिक दो चरणरूप विशेष कथन का समर्थन वैधर्म्येण उत्तरवर्ती सामान्य कथन रूप दो चरणों द्वारा किया गया है, अतः अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

छन्द– वंशस्थ।

कोश–'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' इत्यमरः। 'निमित्तं हेतुलक्ष्मणोः इत्यमरः। 'दशा वार्त्तावस्थायाम्' इति विश्वः। 'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यमरः। 'अथ क्षण उद्धर्षो मह उद्धव उत्सवः' इत्यमरः।

42. **विहाय शान्तिं नृप धाम तत्पुनः**
प्रसीद सन्धेहि वधाय विद्विषाम्।
व्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहाः
शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः॥42॥

अन्वय– हे नृप! शान्तिं विहाय तत् धाम विद्विषां वधाय पुनः सन्धेहि प्रसीद। निःस्पृहाः मुनयः शत्रून् अवधूय शमेन सिद्धिं व्रजन्ति, भूभृतो न।

शब्दार्थ– नृप=राजन्; शान्तिम्=शमवृत्ति को; विहाय=त्यागकर; तत्=उस (प्रसिद्ध) ; धाम=तेज को, विद्विषाम्=शत्रुओं के; वधाय=वध के लिए, पुनः=फिर से, सन्धेहि=धारण कीजिये, प्रसीद=प्रसन्न होइये, निःस्पृहाः=कामना से रहित जन, मुनयः=मुनिजन, शत्रून्=शत्रुओं को; अवधूय=जीत करके, शमेन=शमवृत्ति से, (शान्ति या तितीक्षा के द्वारा), सिद्धिम्=सिद्धि को, व्रजन्ति=प्राप्त करते हैं, न भूभृतः=राजागण नहीं।

अनुवाद– हे नृप! शम को त्यागकर शत्रुओं के वध के निमित्त उस (प्रसिद्ध) तेज को फिर से धारण कीजिये। प्रसन्न होइये। कामना से रहित मुनिजन शत्रुओं (काम, क्रोधादि षड् अन्तःस्थित शत्रुओं) को जीतकर शमवृत्ति से विजय को प्राप्त करते हैं, राजा लोग नहीं।

व्याख्या– प्रकृत श्लोक में द्रौपदी युधिष्ठिर को मुनिजनोचित वृत्ति को त्यागकर नृपजनोचित वृत्ति को धारण करने के लिए प्रेरित कर रही है। क्षात्रधर्मपरायण होते हुए भी अकारण ही मुनिजनोचित वृत्ति का अवलम्बन युक्त नहीं। यहाँ 'नृप' सम्बोधन में भी यही भाव निगूहित हे 'नृन् पाति इति नृपः=नरों की रक्षा का दायित्व क्षात्रधर्म के माध्यम से ही सम्भव है। क्षत्रिय के लिए कहा ही गया है– "क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।" (रघुवंश)। वस्तुतः शमप्रधानवृत्ति तभी आती है जब व्यक्ति में तितीक्षा–सुखदुःखद्वन्द्वसहिष्णुता आती है; किन्तु यहाँ शत्रुकृत अपमान को सहिष्णु बनकर सहना नहीं है, अतः इस शमवृत्ति को त्यागकर शत्रुओं के वध के निमित्त उस (तत् धाम) प्रसिद्ध तेज को धारण कीजिये। 'तत्' के द्वारा द्रौपदी अतीत में युधिष्ठिर के द्वारा अनुष्ठित पराक्रमपूर्ण व्यवहार की ओर सङ्केत कर रही है। ऐसा नहीं है कि

युधिष्ठिर में क्षात्र सुलभ तेज कभी था ही नहीं। सम्प्रति वह शम से आवृत हो गया है, द्रौपदी उसी तेज को 'पुनः' जागृत करने के लिए उद्बोधित कर रही है। 'प्रसीद' के द्वारा वह यह कहना चाह रही है कि स्त्रियों के द्वारा मनस्वीजन को उपदेश दिया जाना अनुचित है, ऐसा विचार कर अन्यथा न मानिये। यदि आप इसे अनुचित मानते हों तो भी मुझे (द्रौपदी को) क्षमा कर प्रसन्न हो जाइये। जिनकी समस्त सांसारिक कामनायें निवृत्त हो गयीं हैं ऐसे तपस्वी जन आन्तरिक (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मात्सर्य) इन षड् रिपुओं को जीतकर शमवृत्ति का अनुसरण करते हुए मोक्ष रूप सिद्धि को प्राप्त करते हैं। वेदान्तसार में शम के स्वरूप का निर्वचन इस प्रकार किया गया है– 'शमस्तावत् श्रवणादिव्यतिरिक्ताविषयेभ्यो मनसो निग्रहः।' स्पष्ट है कि श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि के द्वारा मन को निगृहीत करके मोक्षमार्ग पर तो प्रवृत्त हुआ जा सकता है; किन्तु अर्थ, कामादिक पुरुषार्थों की सिद्धि इससे सम्भव नहीं, किन्तु राजा (भूभृत्) के लिए शम युक्त नहीं। यहाँ द्रौपदी ने राजा के लिए नृप आदि शब्दों का प्रयोग करके 'भूभृत्' = भूमि का पोषण करना, सम्भालना; का प्रयोग किया है और भूमि की रक्षा शम से नहीं हो सकती उसके लिए सन्धि, विग्रह, यान, आसनादि षाड्गुण्य को अङ्गीकार करना ही होगा। शत्रु यदि आक्रान्त करता है तो उसका वध भी धर्म ही कहा जायेगा। अतः सम्प्रति शत्रु से प्रतिकार के लिए राजा के लिए उचित मनोवृत्ति को अङ्गीकार कीजिये। राजा तो अपने तेज एवं पौरुष से ही सिद्धि अर्थात् अपने सार्वभौम अधिकार को प्राप्त कर सकता है।

समास– निःस्पृहाः=निरस्ताः स्पृहाः येषां ते (बहुव्रीहि); भूभृतः=भुवं बिभर्ति ये ते भूभृतः (उपपद समास)।

व्याकरण– शान्ति=शम्+क्तिन्; विहाय=वि+हा+क्त्वा-ल्यप्; वधाय=हन्+अप् च.वि.ए.व. (हनश्च वधः) सूत्र से हन् को वध् आदेश हो जाता है। सन्धेहि=सम्+धा+लोट् म.पु.ए.व.; अवधूय=अव+धू+क्त्वा-ल्यप्; सिद्धिम्=सिध्+क्तिन्; प्रसीद=प्र+सद्+लोट् म.पु.ए.व.; व्रजन्ति=व्रज+लट् प्र.पु.बहुवचन।

अलङ्कार–वृत्त्यनुप्रास।

छन्द–वंशस्थ।

कोश– 'शमथस्तु शमः शान्तिः' इत्यमरः। 'गृहदेहत्विट्प्रभावा धामानि' इत्यमरः। 'इच्छाकांक्षा स्पृहेहातृड्वाञ्छालिप्सामनोरथः' इत्यमरः।

43. **पुरःसरा धामवतां यशोधनाः**
सुदुःसहं प्राप्य निकारमीदृशम्।
भवादृशाश्चेदधिकुर्वते रतिम्
निराश्रया हन्त! हता मनस्विता॥43॥

अन्वय– धामवतां पुरःसरा यशोधनाः भवादृशाः ईदृशं सुदुःसहं निकारं प्राप्य रतिम् अधिकुर्वते चेत्, हन्त मनस्विता निराश्रया (सती) हता।

शब्दार्थ– धामवताम्=तेजस्वियों में, पुरःसरा=अग्रणी, यशोधनाः=यशरूपी धन वाले, भवादृशाः=आप (युधिष्ठिर) जैसे व्यक्ति, ईदृशं=इस प्रकार के, सुदुःसहम्=अत्यन्त असह्य, निकारम्=अपमान को, प्राप्य=प्राप्त करके, रतिम्=सन्तोष को, अधिकुर्वते=प्राप्त कर लेते हैं, स्वीकार कर लेते हैं। चेत्=यदि, हन्त=खेद है, मनस्विता=स्वाभिमानता, निराश्रया=आधारहीन होकर, हता=विनष्ट हो गयी (विनष्ट हो जायेगी)।

अनुवाद– तेजस्वियों में अग्रगण्य यशोधन आप जैसे लोग यदि इस प्रकार के अत्यन्त दुःसह अपमान को प्राप्त करके (भी) सन्तोष को स्वीकार लेते हैं तो खेद (का विषय) है कि मनस्विता आधारहीन हो विनष्ट हो गयी।

व्याख्या– द्रौपदी युधिष्ठिर को प्रतिकार के लिए प्रेरित कर रही है, उसके अनुसार पराक्रम ही उचित है सन्तोष नहीं। जिसका मन प्रशस्त हो उसे मनस्वी कहा जाता है, मनस्वी का भाव ही मनस्विता है। मनस्वी

के लिये कहा गया है कि मनस्वी भले ही मृत्यु का वरण कर ले किन्तु कभी भी दीनता को अङ्गीकार नहीं करता। जैसे अग्नि निर्वाण को भले ही प्राप्त हो जाये; किन्तु कभी भी शैत्य को नहीं प्राप्त करती– 'मनस्वी म्रियते कामं कार्पण्यं न तु गच्छति। अपि निर्वाणमायाति नाऽनलो याति शीतताम्।।'

इसीलिए द्रौपदी युधिष्ठिर से कहती है कि आप मात्र तेजस्वी नहीं हैं अपितु तेजस्वियों में भी अग्रगण्य हैं। तेजस्वी का अर्थ मल्लिनाथ ने 'परनिकारासहिष्णूनामित्यर्थः' किया है अर्थात् जो दूसरे के द्वारा विहित अपमान को न सह सके। फिर भी शत्रुकृत अपमान को अनेकशः आपने सहा है–छल से द्यूतक्रीड़ा में पराजित होने के द्वारा, भरी सभा में अपनी पत्नी के चीरहरण को विवशता के साथ देखने के द्वारा, राज्य से च्युत कर जंगल-जंगल भटकने पर विवश करने के द्वारा । इस तरह शत्रु के छल और अपमान की परम्परा नहीं टूट रही है और आपके भी धैर्य की सीमा समाप्त नहीं हो रही है। यश को ही धन मानने वाले यदि आप जैसे लोग जो दीन असहाय नहीं है, अपने गुणों की महिमा से जिन्होंने सम्पूर्ण लोक में अपनी धवल कीर्ति विकीर्ण कर रखी है, प्रथित चन्द्रवंश में जिनका जन्म है, तेजस्वियों और बुद्धिमानों में जो अग्रगण्य हैं जैसे श्रेष्ठ मनस्वी भी यदि शत्रुकृत दुःसह अपमान को सहन कर जायेंगे तो आश्रयहीना मनस्विता कहाँ शरण प्राप्त करेगी? मनस्विता का आश्रय तो मनस्वी ही हैं यदि वे ही उसे आधार नहीं देंगे तो निराधार, निराश्रित वह तो समाप्त ही हो जायेगी। कहा भी कहा है कि 'सदाभिमानैक धनाः हि मानिनः' स्वाभिमानियों का अभिमान ही एकमात्र धन है। उस स्वभामिमान की रक्षा के लिए, मनस्विता की रक्षा के लिए आपको अवश्य उद्योग करना चाहिए।

समास– पुरः सरन्ति ये ते पुरःसराः, यशोधनाः=यश एव धनं येषां ते यशोधनाः (बहुब्रीहि); भवादृशाः=भवान् इव दृश्यन्ते ये ते भवादृशाः (उपपद समास); सुदुःसहम्=अतिशयेन दुःसहम् इति (प्रादि तत्पु.); निराश्रया=निर्गतः आश्रयः यस्याः सा (बहुब्रीहि)।

व्याकरण– धामवताम्=धाम+वतुप्+ष.वि. बहुवचनः, पुरःसराः=पुरस्+सृ+ट (प्र.वि.) बहुवचनच भवादृशाः=भवत्+दृश्+कञ् (प्र.वि. बहुवचन); ईदृशम्=इदम्+दृश्+कञ् द्वि.वि.एकवचन; सुदुस्सहम्=सु+दुस्+सह+खल्; निकारम्=नि+कृञ्+घञ् द्वि.वि., एकवचनः, प्राप्य=प्र+आप्+क्त्व-ल्यपः; रतिम्=रम्+क्तिन्; अधिकुर्वते=अधि+कृ+लट् प्र.पु.बहुवचन; मनस्विता=मनस्+विनि=मनस्विन्+तल्+टाप्; आश्रयः=आ+श्रि+अच्; हता=हन्+क्त+टाप्+सु।

अलङ्कार– श्रुत्यनुप्रास।

छन्द– वंशस्थ।

कोश– पुरःसरः अग्रगण्या धुरीणाश्च पुरोगमाः' इति कोषः। 'निकारो हि तिरस्कारोऽपमानश्च पराभवः'। 'गृहदेहत्विट्प्रभावा धामानि इत्यमरः। 'हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः' इत्यमरः।

44. **अथ क्षमामेव निरस्तविक्रम–**
श्चिराय पर्य्येषि सुखस्य साधनम्।
विहाय लक्ष्मीपतिलक्ष्मकार्मुकं
जटाधरः संजुहुधीह पावकम्।।44।।

अन्वय– अथ निरस्तविक्रमः चिराय क्षमामेव सुखस्य साधनम् पर्य्येषि लक्ष्मीपतिलक्ष्म कार्मुकं विहाय जटाधरः सन् इह पावकं जुहुधि।

शब्दार्थ– निरस्तविक्रमः=पराक्रम का परित्याग कर देने वले, अथ=यदि; प्रकृत प्रसङ्ग में 'अथ', का प्रयोग विकल्प द्योतित करने के लिए हुआ है;, चिराय=चिरकाल के लिए, क्षमाम् एव=क्षमा को ही, सुखस्य=सुख का, साधनम्=उपाय, पर्य्येषि=समझते हो (तो), लक्ष्मीपतिलक्ष्म=राजा के चिह्न, कार्मुकम्=धनुष को, विहाय=त्यागकर, जटाधरः सन्=जटाधारी होकर, इह=यहाँ (द्वैतनामक वन में), पावकम्=अग्नि को, जुहुधि=हवन कीजिये।

अनुवाद– और यदि पराक्रम विहीन होकर चिरकाल के लिए क्षमा को ही सुख का साधन समझते हैं तो राजचिह्न धनुष को त्यागकर जटाधारी होकर इस द्वैतवन में अग्नि में हवन कीजिये।

व्याख्या– द्रौपदी युधिष्ठिर को अनेक प्रकार से शत्रुप्रतिकारार्थ उद्‌बोधित करती है; किन्तु पुनः युधिष्ठिर के समक्ष एक विकल्प प्रस्तुत करती है कि यदि आपको मेरे द्वारा निर्दिष्ट शम परित्याग का मार्ग उपयुक्त न लग रहा हो, आपने अपने कल्याण के लिए किसी और अच्छे उपाय को सोच रखा हो और पराक्रमहीन होकर सदा के लिए क्षमा को ही सुख का साधन समझते हों तो उसे ही अङ्गीकार कर लीजिये। क्षमा का तात्पर्य है–'क्षमा सत्यपि सामर्थ्ये परिभवहेतुकं प्रति क्रोधस्यानुत्पत्तिः।' (श्रीमद्‌भगवद्‌गीता 16.3 पर मधुसूदनी टीका, पृ० 612) तात्पर्य यह है कि विकार के कारणों के होने पर भी यदि मन में विकार न आये, अपकार करने वाले के प्रति सामर्थ्य होने पर भी अपकार का भाव उदित न हो तो उसे क्षमा कहेंगे, क्योंकि हो सकता है कि आपके मन में यह भाव हो कि उपकार करने वाले के प्रति तो सभी साधु रहते हैं अपकारी के प्रति भी साधुता का व्यवहार ही वास्तविक साधुता है जैसा कि कहा गया है–

'उपकारिषु यः साधु साधुत्वे तस्य को गुणः।
अपकारिषु यः साधुः स साधु, कीर्त्यते जनैः।।' (स्कन्दपुराण)

जबकि मनु ने भी कहा कि साहस कर्म में तत्पर मनुष्य को क्षमा करने वाला राजा शीघ्र नाश को प्राप्त करता है और प्रजा के विद्वेष का हेतु होता है (मनुस्मृति, 8.346) अर्थात् दण्डनीय को दण्ड मिलना ही चाहिए। संसार यात्रा का निर्वहन शठ के प्रति शठता की नीति से ही सम्भव है; किन्तु फिर भी यदि आप उस क्षमा को अङ्गीकार करना चाहते हैं तो लक्ष्मीपति का चिह्न (राजचिह्न) धनुष को त्याग दीजिये। जो रक्षा कर्म में प्रवृत्त हो उसके लिए धनुष की युक्तता है । मुनिवत् जीवनयापन करने वाले के लिए धनुष अनुपयोगी है, क्योंकि कार्मुक शब्द की व्युत्पत्ति ही है– 'कर्मणे प्रभवति इति कार्मुकम्' जो कर्म करने में समर्थ हो वह कार्मुक है। जैसा आपका आचरण है वैसा ही आपका वेश भी होना चाहिए। आहार्य धनुषादि से आपके प्रति कोई सन्देह में न पड़े, अतः आप शम मार्ग में प्रवृति के निमित्त जटा को धारण कर अग्नितर्पण कीजिये। वस्तुतः प्रस्तुत श्लोक में द्रौपदी 'धनुष को त्यागने' की बात कहकर 'धनुष को सन्नद्ध' कीजिये कहना चाह रही है। धनुष को चिह्न (क्षात्र चिह्न) के रूप में धारण करने की अपेक्षा उसे पराक्रम में नियोजित कीजिये। किरातार्जुनीय में ही एक अन्य स्थल पर द्रौपदी कहती है कि जो सज्जनों की रक्षा करने में समर्थ हो वही क्षत्रिय है। जिसमें कर्म करने की शक्ति हो, उसी का नाम कार्मुक है। यदि इन दोनों प्रकार की व्युत्पत्ति के होते हुए भी व्युत्पत्ति का अर्थ सुसंगठित नहीं होता तो व्याकरणशास्त्र के अनुसार इन शब्दों की व्युत्पत्ति करके इनका साधन करना व्यर्थ है–

स क्षत्रियस्त्राणसहः सतां यस्तत्कार्मुकं कर्मसु यस्य शक्तिः।
वहन् द्वयीं यद्यफलेऽर्थजाते करोत्यसंस्कारहतामिवोक्तिम्।।(3/48)

समास– निरस्तविक्रमः= निरस्तः विक्रमः यस्य सः (बहुव्रीहि); लक्ष्मीपतिलक्ष्म=लक्ष्म्याः पतिः इति लक्ष्मीपतिः (षष्ठी तत्पु.) तस्य लक्ष्म इति (षष्ठी तत्पु.); जटाधरः=जटानां धरः इति (षष्ठी तत्पु.)।

व्याकरण–क्षमाम्=क्षम्+अङ्+टाप् द्वि.वि.ए.व.; पर्येषि=परि+इ+लट् म.पु.ए..व.; लक्ष्मी=लक्ष्+णिच्+ई; कार्मुकम्=कर्म+उकञ्; विहाय=वि+हा+क्त्वा-ल्यप्; धरः=धृ+अच् प्र.वि.ए.व.; पावकः=पू+ण्वुल्; जुहुधि=हु+लोट् म.पु.ए.व.।

अलङ्कार– अनुप्रास।

छन्द– वंशस्थ।

कोश–'क्षितिक्षान्त्योः क्षमा' इत्यमरः। 'चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः इत्यमरः। 'स्यादानन्दथुरानन्दः शर्मशातसुखानि च' इत्यमरः। 'धनुश्चापौ धन्वशरासनकोदण्डकार्मुकम्' इत्यमरः। 'आश्रयाशो बृहद्भानु कृशानुः 9

पावकोऽनलः' इत्यमरः। मेदिनीकोश में अथ का अर्थ है– 'अथो अथ संशये स्याताम् अधिकरणे च मङ्गले। विकल्पानन्तरप्रश्नकात्स्न्यारम्भसमुच्यते।'' 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्र्येष्वथो अथ' इत्यमरः। 'लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा कमला श्रीर्हरिप्रिया' इति। 'कलङ्काङ्को लाञ्छनं च चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्' इत्यमरः।

45. न समयपरिरक्षणं क्षमं ते
निकृतिपरेषु परेषु भूरिधाम्नः।
अरिषु हि विजयार्थिनः क्षितीशा
विदधति सोपधि सन्धिदूषणानि॥45॥

अन्वय– परेषु निकृतिपरेषु भूरिधाम्नः ते समयपरिरक्षणं न क्षमम्। हि विजयार्थिनः क्षितीशाः अरिषु सोपधि सन्धिदूषणानि विदधति।

शब्दार्थ– परेषु=शत्रुओं के, निकृतिपरेषु=शठता में लगे रहने पर, भूरिधाम्नः=अत्यन्त तेजस्वी, ते=आपका, समयपरिरक्षणम्=प्रतिज्ञा (तेरह वर्ष वन में रहने की प्रतिज्ञा) पालन, न क्षमम्=उचित नहीं है, हि=क्योंकि, विजयार्थिनः=विजय की इच्छा करने वाले, क्षितीशाः=राजागण, अरिषु=शत्रुओं पर, सोपधि=बहाने से, सन्धि-दूषणानि=पूर्व में की गयी सन्धि में दोषों को, विदधति=उत्पन्न करते हैं।

अनुवाद– शत्रुओं के शठता में तत्पर रहने पर परमतेजस्वी आपका प्रतिज्ञा पालन उचित नहीं, क्योंकि विजय की अभिलाषा रखने वाले पृथ्वीपति शत्रुओं पर बहाने से पूर्व में की गयी सन्धि में दोषों को उत्पन्न करते हैं (अर्थात् शत्रुओं के साथ की गयी सन्धि को तोड़ देते हैं)।

व्याख्या– प्रस्तुत श्लोक में द्रौपदी युधिष्ठिर को पुनः राज्य-प्राप्ति के निमित्त प्रतिज्ञा भङ्ग कर शत्रु से प्रतिकार के लिए प्रेरित करती है। वस्तुतः 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' यह नीति है। आपके शत्रु 'निकृतिपरेषु=शाठ्यं प्रधानं येषु' जिनमें शठता ही प्रधान है, ऐसे शत्रुओं से, तेरह वर्षपर्यन्त वनवास में रहने की प्रतिज्ञा का पालन युक्त नहीं, क्योंकि उस प्रतिज्ञा के पालन में तत्पर हो आप बन्धुजन के साथ वनवास के दुःसह कष्ट झेल रहे हैं और दुर्योधनादि आपके शत्रु यहाँ भी शान्ति से हमें रहने नहीं दे रहे हैं। उनके द्वारा वन में भी हम पीड़ित किये जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में क्या आज भी प्रतिज्ञापालन समुचित है? आपके शत्रु अपकार में तत्पर हैं तो आप भी प्रतिकार में समर्थ हैं। जो विजयाभिलाषी प्रतिकार में समर्थ भूपति होते हैं वे कभी भी प्रतिज्ञाओं में अनुबन्धित नहीं रहते। प्रतिज्ञाओं को तोड़ने में वे अपने ऊपर भी दोष नहीं लेते अपितु शत्रु के द्वारा पूर्वकृत सन्धि में ही बहाने से (दोष न होने पर भी दोष दिखाना) दोष दिखाकर पूर्वकृत सन्धि का विच्छेद कर देते हैं। यही राजनीति है और आपके द्वारा भी ऐसा ही किया जाना चाहिए– यह मेरी अभ्यर्थना है, क्योंकि प्रयोजन की सिद्धि ही पराक्रमी व्यक्तियों का लक्ष्य होता है। पहले भी द्रौपदी वन में स्थित अनुजों की दुरवस्था का चित्रण करते हुए प्रश्न कर चुकी है कि– 'सत्यधनस्य मानसं दुनोति नो कच्चित्'। सत्यप्रतिज्ञा एक पलड़े पर है और दूसरी तरफ अपना और अपने बन्धुजन का दुःसह कष्ट। यदि इस सत्यव्रतत्व को युधिष्ठिर त्यागते हैं तभी वे तत्काल शत्रु प्रतिकार में स्वयं को नियोजित कर पायेंगे।

समास– निकृतिपरेषु=निकृतिः परं एषामिति निकृतिपराः तेषु (बहुव्रीहि); भूरिधाम्नः=भूरि धाम अस्यास्ति इति भूरिधामा, तस्य (बह.); समयपरिरक्षणम्=समयस्य परिरक्षणम् (षष्ठी तत्पु.); विजयार्थिनः=विजयम् अर्थयन्ते ये ते (उपपद समास); क्षितीशाः=क्षितेः ईशाः (षष्ठी तत्पु.); सोपधि=उपधिना सह; सन्धिदूषणानि=सन्धेः दूषणानि (षष्ठी तत्पु.)।

व्याकरण– 'निकृतिपरेषु' सत्सु यहाँ सति सप्तमी का प्रयोग है। निकृति=नि+कृ+क्तिन्; समयपरिरक्षणम्=सम्+ई+अच्, परि+रक्ष्+ल्युट्; क्षमम्+क्षम्+अच्; विजयम्=वि+जि+अच् द्वि.वि.ए.व.; अर्थिनः=अर्थ+णिनि; सोपधि=सह उप+धा+कि; सन्धिः=सम्+धा+कि; दूषणानि=दुष्+णिच्+ल्युट्; विदधति=वि+धा+लट् प्र.पु. बहुवचन।

अलङ्कार–अर्थान्तरन्यास तथा यमक। उत्तरार्ध के सामान्य कथन द्वारा पूर्वार्ध के विशेष कथन का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है। 'निकृतिपरेषु परेषु' में वर्णसमुदाय की आवृत्ति होने पर भी भिन्नार्थकता से यमक अलङ्कार है।

छन्द– पुष्पिताग्रा छन्द है। यह अर्धसमवृत्त है। अर्थात् इसके प्रथम और तृतीय चरण और द्वितीय और चतुर्थ चरण तुल्य होते हैं। जिस छन्द के प्रथम और तृतीय चरण में क्रमशः नगण, नगण, रगण और यगण तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण में क्रमशः नगण, जगण, जगण, रगण और एक गुरु वर्ण हो तो वहाँ पुष्पिताग्रा छन्द होता है जिसका लक्षण इस प्रकार है–

'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा।

न न र य = 12 वर्ण

न समय परिरक्षणं क्षमं ते

न ज ज र गु = 13 वर्ण

निकृतिपरेषु परेषु भूरिधाम्नः।

कोश– 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः। 'युक्ते क्षमं शक्ते हिते त्रिषु' इत्यमरः। 'धराधरित्री धरणिः क्षोणिर्ज्या काश्यपी क्षितिः' इत्यमरः। 'कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे'। 'कुसृतिर्निकृतिः शाठ्यम्' इत्यमरः। 'पुरूहुः पुरु भूयिष्ठं स्फारं भूयश्च भूरि च' इत्यमरः।

46. विधिसमयनियोगाद् दीप्तिसंहारजिह्मं
शिथिलवसुमगाधे मग्नमापत्पयोधौ।
रिपुतिमिरमुदस्योदीयमानं दिनादौ
दिनकृतमिव लक्ष्मीस्त्वां समभ्येतु भूयः॥46॥

अन्वय– विधिसमयनियोगात् अगाधे आपत्पयोधौ मग्नं दीप्तिसंहारजिह्मं शिथिलवसुं रिपुतिमिरम् उदस्य उदीयमानं त्वां दिनादौ दिनकृतमिव लक्ष्मीः भूयः समभ्येतु।

शब्दार्थ– (सूर्य पक्ष में) विधिसमयनियोगात्=विधाता और समय के नियमानुसार, अगाधे=दुस्तर, आपत्पयोधौ=विपत्तिरूपी सागर में, मग्नम्=डूबे हुए, निमज्जित; दीप्तिसंहारजिह्मम्=प्रकाश के नष्ट हो जाने से आभा रहित, शिथिलवसुम्=संकुचित रश्मि वाले, रिपुतिमिरम्=शत्रु रूप अन्धकार को, उदस्य=दूर करके, दिनादौ=दिन के प्रारम्भ में, उदीयमानम्=उदय को प्राप्त होते हुए, दिनकृतम् इव=सूर्य की तरह (युधिष्ठिर पक्ष में), विधिसमयनियोगात्=भाग्य और समय के नियम के अनुसार, अगाधे=गम्भीर, आपत्पयोधौ=विपत्तिरूप सागर में, मग्नम्=पड़े हुए, दीप्तिसंहारजिह्मम्=प्रताप के विनाश से अप्रसन्न, शिथिलवसुम्=नष्ट हुए धन वाले, रिपुतिमिरम्=अन्धकार के सदृश (भीषण) शत्रु को, उदस्य=नष्ट करके, दिनादौ=शुभ समय के आरम्भ होने पर, उदीयमानम्=अभ्युदय को प्राप्त करते हुए, त्वाम्=आप (युधिष्ठिर) को, लक्ष्मीः=राजलक्ष्मी, पुनः=फिर, समभ्येतु=प्राप्त होवे।

अनुवाद– विधाता एवं समय के नियोगवश दुस्तर विपत्तिरूपी (पश्चिमी) समुद्र में निमज्जित, प्रकाश के विनष्ट हो जाने के कारण कान्तिहीन, सङ्कुचित रश्मि वाले, शत्रु सदृश अन्धकार को विनष्ट करके उदित होते हुए प्रातःकालीन सूर्य (को प्राप्त होने वाली प्रकाश लक्ष्मी) की तरह भाग्य एवं समय के नियोगवश अगाध विपत्तिरूप सागर में निमज्जित, प्रताप के विनष्ट हो जाने से अप्रसन्न, ऐश्वर्यहीन, अन्धकार के सदृश शत्रु समूह को नष्ट करके अभ्युदय प्राप्त करने वाले आपकी भाग्योदयवेला में राजलक्ष्मी पुनः सम्यक्रूपेण प्राप्त करे।

व्याख्या– प्रस्तुत श्लोक में कवि ने एक साथ दो अर्थों का निबन्धन किया है -एक सूर्यपक्ष में है और दूसरा युधिष्ठिर के पक्ष में। प्रस्तुत श्लोक में द्रौपदी युधिष्ठिर के प्रति अपनी शुभाशंसा व्यक्त कर रही

है। जैसे सूर्य पूरे दिन सम्पूर्ण भूलोक को अपने तेज से प्रकाशित करता हुआ विधाता के नियमानुसार सन्ध्या के आगमन के साथ ही अगाध (न नापे जा सकने योग्य) विपत्तिरूप सागर में निमज्जित हो अपने सम्पूर्ण वैभव को त्याग देता है और पुनः रात्र्यावसान में प्रातः होते ही अपनी उज्ज्वल रश्मियों को चतुर्दिक विकीर्ण करता हुआ अपनी पूर्व शोभा को प्राप्त कर लेता है। सूर्य की इस गति को देखकर प्रतीत होता है कि न तो यह विपत्ति चिरकाल तक स्थित रहने वाली है और न यह वनवास की अवधि युगान्तस्थायी है। जो कुछ भी आप दौर्भाग्य अनुभूत कर रहे हैं वह समयचक्र के कारण दैवदुर्विपाकेन प्राप्त है। लोकविश्रुत पौरुष वाले बन्धुओं से युक्त होकर भी धर्मराज युधिष्ठिर यदि दुःसह कष्ट को झेलने के लिए बाध्य हैं तो इसे दैवयोग ही कहा जायेगा। विधान करने वाले, सर्जना करने वाले विधि तथा काल के नियन्त्रण (नियोग) से सब कुछ नियमित हो रहा है। उसमें आपका कोई दोष नहीं। व्यक्ति तो मात्र निमित्त बनता है। इस सूर्य के ही समान आप का भी यश, प्रताप चतुर्दिक् व्याप्त था, दैव एवं समय के परिणामस्वरूप अगाधविपत्ति रूप सागर में निमज्जित सम्प्रति आप प्रताप के नाश से अप्रसन्न और ऐश्वर्यहीन हैं; किन्तु आपका अभ्युदय अन्धकार के सदृश भीषण शत्रुओं के विदलन में ही निहित है। यहाँ पुनः द्रौपदी विपत्तिरूपी सागर से निकलने का उपाय शत्रुओं के दलन को बताकर युधिष्ठिर को प्रेरित कर रही है। अन्धकार सदृश शत्रुओं के विदलन के अनन्तर भाग्योदय बेला में अभ्युदय को प्राप्त करने वाले आपको राजलक्ष्मी सम्यक्रूपेण प्राप्त करे। 'आशिषि लिङ्लोटौ' इस नियम से 'समभ्येतु' में लोट् लकार का प्रयोग है।

कालिदास ने भी एक ही काल में सूर्योदय और चन्द्रास्त के माध्यम से जीवन में घटित होने वाले व्यसन और अभ्युदय के सन्दर्भ में वर्णित किया है–

'यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना-
माविष्कृतोऽरुणपुरःसरः एकतोऽर्कः।
तेजो द्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां
लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु।। अभिज्ञानशाकुन्तल, 4.2।।

समास– विधिसमयनियोगाद्=विधिश्च समयश्च इति विधिसमयौ (द्वन्द्व) तयो नियोगः इति विधिसमयनियोगः तस्मात् (षष्ठी तत्पु.), अगाधेः=न गाधः अगाधः, तस्मिन् (नञ् समास)। आपत्पयोधौ=आपत् पयोधिरिव इति आपत्पयोधिः तस्मिन् (उपमित समास), दीप्तिसंहारजिह्मम्=दीप्तेः संहारः इति दीप्तिसंहारः (षष्ठी तत्पुः) तेन जिह्मः इति दीप्तिसंहारजिह्मः, तम् (तृतीया तत्पु.)। शिथिलं वसु (रश्मिः, धनं वा) यस्य सः शिथिलवसुः, तम् (बहुव्रीहि), रिपुतिमिरम्=(सूर्यपक्षे)–रिपुरिव तिमिरम् तत्, (युधिष्ठिर पक्षे) रिपुः तिमिरमिव इति रिपुतिमिरं तत् (उपमित समास) दिनादौ=दिनस्य आदिः इति दिनादिः (षष्ठी तत्पु.) तस्मिन्। दिनकृत्=दिनं करोति इति दिनकृत् तम् (उपपद समास)।

व्याकरण– विधिः=वि+धा+कि; नियोगः=नि+युज्+घञ्; अगाधः=नञ्+गाध्+घञ्; मग्नम्=मज्ज+क्त; दीप्तिः=दीप्+क्तिन्; संहारः=सम्+हृ+घञ्; उदस्य=उद्+अस्+क्त्वा-ल्यप्; उदीयमानम्=उद्+ई+शानच् द्वि.वि.ए.व.; दिनकृतम्=दिन+कृ+क्विप् द्वि.वि.ए.व.; समभ्येतु=सम्+अभि+इ+लोट् प्र.पु.ए.व.।

अलङ्कार– पूर्णोपमा अलङ्कार।

प्रस्तुत श्लोक में 'त्वाम्' (युधिष्ठिर) उपमेय, दिनकृत् अर्थात् सूर्य उपमान, 'इव' उपमावाचक है, दीप्तिसंहारजिह्मता, शिथिलवसुता, आपत्पयोधिमग्नता, उदीयमानता आदि साधारण धर्म हैं, उपमा के चारों अङ्गों– उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और वाचक के सुस्पष्ट आदान के कारण यहाँ पूर्णोपमा है।

छन्द– मालिनी। जिसका लक्षण है– 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' अर्थात् जिस छन्द के प्रत्येक चरण में नगण, नगण, मगण, यगण, यगण हों तथा आठवें तथा सातवें अक्षर पर यति (विराम) उसे मालिनी छन्द कहते हैं। इस छन्द के प्रत्येक चरण में पन्द्रह अक्षर होते हैं, यह समवर्णवृत्त है। महाकाव्य

के लक्षण में निरूपित है कि प्रत्येक सर्ग के अन्त में भिन्न छन्द का प्रयोग किया जाये। जैसा कि आचार्य दण्डी ने कहा है–

सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः।
सर्वत्रभिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जकम्।।

इसी नियम का अनुसरण कर सम्पूर्ण सर्ग में तो महाकवि ने वंशस्थ छन्द का प्रयोग किया; किन्तु सर्गान्त के दो श्लोकों में पुष्पिताग्रा तदनन्तर मालिनी छन्द में रचना की है।

महर्षि पतञ्जलि ने कहा है– 'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते।' अर्थात् शास्त्र मङ्गल से प्रारम्भ होने वाला, मध्य में मङ्गल तथा मङ्गल से अन्त होने वाला होना चाहिए। ऐसा करने का फल उन्होंने निरूपित किया है– 'वीरपुरुषकाण्यायुष्मत्पुरुषकाणि च भवन्त्यध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्ति'। सम्भवतः यही कारण है कि भारवि ने अपने काव्य का प्रारम्भ मङ्गलवाचक 'श्री' पद से किया है और प्रत्येक सर्ग के अन्त में मङ्गलवाचक 'लक्ष्मी' पद का प्रयोग किया है। मङ्गलवाचक होने के साथ ही यह 'श्री' और 'लक्ष्मी' पद कवि के विशेष भाव चिह्न को भी द्योतित करने वाला है और मङ्गलान्तता के साथ ही इसके द्वारा चमत्कार की सर्जना भी हुई है।

कोश– 'दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः' इत्यमरः। 'अगाधमतलस्पर्शे' इत्यमरः। 'प्रभारुग्रुचिस्त्विड्भाभाश्छविद्युतिदीप्तयः। रोचिः शोचिरुभे क्लीबे' इत्यमरः। 'अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तं तमिस्रं तिमिरं तमः' इत्यमरः।

कुछ उपयोगी पुस्तकें–

1. किरातार्जुनीयम् (सम्पूर्ण) मल्लिनाथ की घण्टापथ टीका युक्त, हिन्दी व्याख्याकार आचार्य शेषराज शर्मा रेग्मी।
2. किरातार्जुनीयम् (सम्पूर्ण) मल्लिनाथ की घण्टापथ टीका युक्त, हिन्दी व्याख्याकार पं0 आदित्य नारायण पाण्डेय शास्त्री।
3. किरातार्जुनीयम् (प्रथम सर्ग) मल्लिनाथ की घण्टापथ टीका युक्त, डॉ0 राजेन्द्र मिश्र।
4. किरातार्जुनीयम् (प्रथम एवं द्वितीय सर्ग) डॉ0 अमलधारी सिंह
5. लघुसिद्धान्तकौमुदी (सन्धि, समास, कृदन्त तथा विभक्ति प्रकरण विशेष रूप से)।

बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न (1)

1. (ख)
2. देखिए भाग 1.8
3. देखिये श्लोक 4 की व्याख्या।
4. देखिये श्लोक 6 की व्याख्या।
5. देखिये श्लोक 7 की व्याख्या।
6. देखिये श्लोक 10 की व्याख्या।

बोध प्रश्न (2)

7. देखिये श्लोक 11 की व्याख्या तथा अलङ्कार निरूपण

8. देखिये श्लोक 12

9. देखिये श्लोक 13 की व्याख्या।

10. देखिये श्लोक 17 की व्याख्या।

11. देखिये श्लोक 19 की व्याख्या।

12. देखिये श्लोक 1 से 25 की व्याख्या।

बोध प्रश्न (3)

13. देखिये श्लोक 22 की व्याख्या।

14. देखिये श्लोक 22 की व्याख्या।

15. देखिये श्लोक 23 की व्याख्या।

16. देखिये श्लोक 24 की व्याख्या।

17. देखिये श्लोक 27 की व्याख्या।

18. देखिये श्लोक 30 की व्याख्या।

बोध प्रश्न (4)

19. देखिये श्लोक 35 की व्याख्या।

20. देखिये श्लोक 38 से 40 की व्याख्या।

21. देखिये श्लोक 41 की व्याख्या।

22. देखिये श्लोक 31 की व्याख्या।

23. देखिये श्लोक 43 की व्याख्या।

24. देखिये श्लोक 33 की व्याख्या।

25. देखिये श्लोक 28 से 46 की व्याख्या।

Note

Note